

लक्ष्मीनारायण लाल

लक्ष्मीनारायण लाल
व्यक्ति एव साहित्यकार

लक्ष्मीनारायण लाल

व्यक्ति एवं साहित्यकार

सम्पादन

शीला झुनझुनवाला

लोकभारती प्रकाशन

१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग, इलाहाबाद-१

लोकभारती प्रकाशन
१५-ए, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा प्रकाशित

●
प्रथम संस्करण : १९८७

●
मूल्य : ६०.००

●
लोकभारती प्रेस
१८, महात्मा गांधी मार्ग
इलाहाबाद-१ द्वारा मुद्रित

हिन्दी पाठकों की ओर से
वर्षिपूर्ति पर
लक्ष्मीनारायण लाल
की
सप्रेम भेंट

—लोकभारत
इलाहाबाद

अनुक्रम

व्यक्ति

सर्जक व्यक्तित्व की पहचान	शीला झुनझुनवाला	१
मेरे बाबू जी	आनन्दबर्धन	६
मेरे लिए कहानी बनने वाले	श्रीमती सरोजिनी आर्य	२२
एक ऐसा व्यक्ति	श्रीमती प्रमिला मेहरा	२६
लाल छवि के प्रति	शिवसागर मिश्र	३४
लाल का अपनापन	मोहन बहुगुणा	४१
ऐसे कहाँ से लाऊँ कि तुझ सा कहें जिसे	नूरनबी अब्बासी	४८

कथाकार

दोस्त कुछ कहेंगे	अमृता प्रीतम	५५
जीवन और सृजन कर्म	डॉ० मंजुलता सिंह	७०
लक्ष्मीनारायण लाल की कथा-यात्रा	डॉ० कृष्ण विहारी मिश्र	७७
एक सुदृढ़ चिन्तन कथानक की तलाश में	डॉ० ओम् प्रकाश शर्मा	८५

नाटककार

लाल रंग की पहचान	डॉ० सुभाष भाटिया	६५
लाल के नाटकों का रचना विधान	डॉ० नरनारायण राय	१०५
एक रंग-यक्ष-पुरुष का रंगाभिषेक	डॉ० चन्द्रशेखर	११५
जिससे भूमि रंगभूमि हो गयी	प्रेमाश्री	१२७
“आँसू” से “भूमि” तक	डॉ० माया गुप्त	१३३
‘बलराम की तीर्थयात्रा’ में भूमिका-विन्यास	डॉ० मांघाता ओझा	१४५

उपसंहार

कोई एक सार्थक चरण (बातचीत)		
श्री केशव चन्द्र वर्मा और श्री जगज्योति		
जैन के साथ लक्ष्मीनारायण लाल	राजमोहन मिश्र	१५५
लेखक परिचय		१६५

व
य
क
ति



सर्जक व्यक्तित्व की पहचान

शीला मुनमुनवाला

लोकभारती इलाहाबाद के बंधु श्री दिनेशचन्द्र का दिनांक २२-६-६६ का पत्र मिला कि "हम साहित्यकार लक्ष्मीनारायण लाल के व्यक्तित्व और कृतित्व" पर एक पुस्तक प्रकाशित करना चाहते हैं। उस पुस्तक में विद्वानों के लेख संग्रहीत करने होंगे और आपकी एक सारगर्भित भूमिका होगी।

हम यह ग्रंथ डॉ० लाल को अगले वर्ष अप्रैल में भेंट करना चाहते हैं। डॉ० लाल उस समय अपने जीवन के ६० वर्ष पूरे कर चुके होंगे। (उनका जन्म दिन ४ मार्च को है।) और हमें इलाहाबाद में उस भौके पर एक गोष्ठी में पुस्तक का विमोचन करके प्रसन्नता होगी।"

इसके उत्तर में मैंने दिनेशचन्द्रजी को जो पत्र लिखा वह मेरी सहर्ष स्वीकृति का ही पत्र नहीं था बल्कि कृतज्ञतापूर्ण पत्र था। मुझे सहज ही अनुभव हुआ कि इस कार्य को सम्पादित कर मुझे जितनी प्रसन्नता होगी उससे अधिक मेरे अन्तस में भाई लक्ष्मीनारायण लाल के प्रति मंगल बोध का भाव बढ़ेगा। आज से करीब ३० वर्ष पहले बम्बई में जब पहली बार लक्ष्मी भाई से मेरी भेंट हुई थी तब सहज ही उन्होंने मुझे "शीला बहन" से सम्बोधित किया था। उस क्षण से लेकर आज तक वे सदा मुझे इसी तरह सम्बोधित करते हैं, और इसके धर्म को जीते हैं। महानगरीय जीवन में यह अपने आप में विरल है। इस सम्बोधन से हमारे बीच सांस्कृतिक मंगलबोध के एक साथ कई स्तर उभर आते हैं। लक्ष्मी भाई का नाम लेते ही एक ऐसे सहज सम्पूर्ण व्यक्ति का चित्र उभरता है जो जीवन के न जाने कितने संघर्षों के मंथन से निकला है, पर अपने पात्र में इन्सानियत के रस से लबालब भरा हुआ है। यह पात्र एक ओर एक श्रेष्ठ साहित्यकार के रूप में जाना जाता है दूसरी ओर निर्भयता और अपने कृतित्व के बलबूते पर जीने वाला एक भारतीय गृहस्थ।

जितना मैं लाल भाई को जानती हूँ, उनके जीवन की पृष्ठभूमि, उनका परिवार और उनका परिवेश, उस सब में मुझे कहीं भी वह साधन नहीं दीखता

जिसकी सहायता से लाल "मनुष्य लाल" "साहित्य लाल" दोनों समानरूप से इतने श्रेष्ठ हुए हैं। मैं जितना ही इस विषय पर सोचती हूँ, मुझे एक ही बात पकड़ में आती है कि निश्चितरूप से जो श्रेष्ठ है, उसको अर्जित करने के लिए इस व्यक्ति ने निरन्तर साधना की होगी। यह भी सोचती हूँ कि श्रेष्ठ होने के लिए साधना तो सबको करनी पड़ती है। राजा के बेटे को भी और किसान के बेटे को भी। राजा के बेटे को इतनी सुविधा होती है कि उसके पास साधना करने के लिए हर प्रकार के साधन उपलब्ध होते हैं। मैं जानती हूँ—लक्ष्मीनारायण लाल नामक व्यक्ति एक किसान का बेटा है। तब प्रश्न होता है कि इसने कैसे साधना की होगी? तब मुझे उत्तर मिलता है कि यह तो सामाजिक व्यवस्था का तर्क है। सच्चाई यह है कि जो जितना ही साधनहीन है, उसकी साधना उतनी ही श्रेष्ठ है। श्रेष्ठ होने के लिए श्रेष्ठ साधना के जो सुयोग्य है, मेरी समझ से उसी का नाम है—"लक्ष्मीनारायण लाल"। जो इन्सानी तत्त्व लाल में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जो इनके व्यक्तित्व की धुरी है, वह है इनकी रस पिपासा, जिसके दो पक्ष हैं—निरन्तर आत्मज्ञान और यत्न करके भाव की दुनिया में गहरे प्रवेश करना, जहाँ जीवन और व्यक्ति का मधुकोश छिपा हुआ है। इसलिए मैं कह रही थी कि कौन सी चीज कहाँ पर खोजनी होगी, किस तरह खोजनी होगी, उसे खोजने का अधिकारी कौन है, इसे देखने और जानने के लिए किसी को भी लाल के पास आना होगा।

लाल के पास आकर इनके व्यक्ति और साहित्यकार दोनों के भीतर एक समान वस्तु प्राप्त होगी, लाल के भीतर की अनुभूति और आत्म प्रसाद। जितना कुछ मैंने इनका लिखा हुआ पढ़ा है, धर्मयुग, अंगजा और साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादकत्व काल में, जितना कुछ देखा है, उस सबसे मुझे बराबर लगा है कि लाल एक वेदनामय चैतन्य लेकर हमारे बीच आये हैं। इसी तत्त्व के ही आधार पर उनकी प्रकृति निर्मित हुई है। अपनी इसी प्रकृति द्वारा वह मानव प्रकृति के साथ आत्मीयता स्थापित करते हैं। लाल के हृदय में और उनकी लेखनी में जो आदर्श है वह पूरी तरह उसके ही ऊपर निर्भर होने के अलावा और कोई साधारण रास्ता या उपाय नहीं अपनाते।

लाल के प्रसिद्ध उपन्यास "बड़ी चम्पा छोटी चम्पा", और "मन वृन्दावन" ये दोनों कथा कृतियाँ धर्मयुग में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुई थीं। इन दोनों कथाकृतियों से मैंने जो कथाकार लाल के मानस को जाना। उससे अधिकारपूर्वक मैं कह सकती हूँ कि इनके मानस का आदर्श जीवन का आदर्श है और इसीलिए वह अनिर्वचनीय है। यह बखूबी जानते हैं कि जो विषयवस्तु, चरित्र वास्तविकता

इनके जितनी निकट है दूसरे किसी के लिए मैं असंख्य पाठक और इनके को सदैव आकृष्ट होते हैं।

लाल का "अपनाप" ऐसा सत्य है जिसे वे अरूप से जीते हैं। वह "भूति कभी भी किसी भी सांसारिक प्रलोभन नाटककार और विचार साहित्यकार पर विचार पड़ते हैं वे सभी न उस पर वे अपने मन में आ प्राप्य मिल गया। किन्तु कभी चिंता नहीं की है कसौटी पर जब भी मैंने जिन दिनों मैं सा

इनकी एक धारावाहिक रिश्ते, मानव सम्बन्ध" और रचित हैं। यह कर सकी। उस संसार पुरुष सम्बन्ध संसार लाल के स्त्री-पुरुष संस मैंने देखा कि इन्हें स्त्री तलाश और उसके रह अच्छा उदाहरण इनकी और "सुगम" के बीच होता है, उसका एक

"हिरनमयी चुप रही थी कि सुबन्धु जब ही कुछ और बात बातें करते हैं। किन्तु

इनके जितनी निकट है, उतना ही इनके लिए इस प्रकार का सत्य है कि वह दूसरे किसी के लिए मिथ्या नहीं हो सकती। इसी जीवन सूत्र के सहारे लाल के असंख्य पाठक और इनके नाटकों के असंख्य दर्शक 'लाल' को अपना 'लाल' मानने को सदैव आकृष्ट होते हैं।

लाल का "अपनापन" इनकी कठिन साधना और अन्तर्दृष्टि से प्राप्त एक ऐसा सत्य है जिसे वे अपने जीवन में, आचरणों में और रचनाओं में सदैव समान रूप से जीते हैं। वह "अपनापन" इनकी स्वानुभूति है। अपनेपन की वह स्वानुभूति कभी भी किसी भ्रम से न कभी ढकती है न कभी विकृति होती है। किन्हीं भी सांसारिक प्रलोभनों के सामने वह झुकती भी नहीं। अतः ऐसे कथाकार, नाटककार और विचारक लक्ष्मीनारायण लाल चाहे नाराज हों चाहे खुश, उनके साहित्यकार पर विचार करना ही होगा। मुझे पता है जो लोग उनका साहित्य पढ़ते हैं वे सभी न उस पर विचार करते हैं न उनके विचारों से एकमत होते हैं, पर वे अपने मन में आत्मप्रसाद पाते हैं तो मुझे लगता है कि उन सबको अपना प्राप्य मिल गया। किन्तु लाल को अपना प्राप्य मिले या न मिले, इनकी उन्होंने कभी चिन्ता नहीं की है। उनका विश्वास है कि लोभ पाप है, पाप में मृत्यु। इसी कसौटी पर जब भी मैंने उन्हें देखा है, सदा उन्हें खरा पाया है।

जिन दिनों मैं साप्ताहिक हिन्दुस्तान की सम्पादिका थी उन दिनों एक बार इनकी एक धारावाहिक लेखमाला प्रकाशित की थी। उसका विषय था—“इंसानी रिश्ते, मानव सम्बन्ध”। इनके नाटक प्रायः मानवीय सम्बन्धों के ही ऊपर निर्मित और रचित हैं। यह वह सुअवसर था कि मैं इनके सम्बन्धों के संसार में प्रवेश कर सकी। उस संसार को विशेषकर दो क्षेत्रों में अधिक जाना। पहला—स्त्री-पुरुष सम्बन्ध संसार और दूसरा व्यक्ति का अपने से सम्बन्ध का संसार। पहले मैं लाल के स्त्री-पुरुष संसार के बारे में कुछ कहना चाहूँगी। इस संसार में प्रवेश कर मैंने देखा कि इन्हें स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की गहराई और उसकी जटिलता की तलाश और उसके रहस्य को उद्घाटित करने में आनन्द आता है, जिसका सबसे अच्छा उदाहरण इनकी कृतियों में है। “मन वृन्दावन” की “हिरनमयी”, “सुबंधु” और “सुगन” के बीच जिन स्त्री-पुरुष संसार का अविस्मरणीय चित्र उपस्थित होता है, उसका एक दृश्य यहाँ प्रस्तुत करना चाहती हूँ।

“हिरनमयी चुप हो गई। सुबन्धु आवेश में आ गया था। वह प्रतीक्षा कर रही थी कि सुबन्धु जब सहज हो, तो वह उससे कुछ और बात करे। बिल्कुल ही कुछ और बात...जैसे दो अपरिचित किसी यात्रा में सहसा संयोग से मिलकर बातें करते हैं। किन्तु सुबन्धु फिर बोल पड़ा, “बंगाल की उस अन्तिम यात्रा के

बाद तुम कभी भी मेरे सामने नहीं आयीं, वह सुबन्धु मर गया, वह हिरन मर गयी। ...”

“और यह नया सुबन्धु ? और यह नयी हिरन...?”

“क्या मतलब ?”

“यही कि क्या ये दो नये अपरिचित लोग आपस में कोई बात नहीं कर सकते ?”

“वही सब पिछला फिर दोहराने के लिए ? इस बार और भी दुगुने झूठ के साथ ?”

हिरनमयी रोने लगी। अपने आपको उस पूरी यात्रा से, सबसे छिपाती हुई वह रो पड़ी। भीतर से उमड़ते हुए आँसू को वह पीने लगी। वह नहीं चाहती कि सुबन्धु आँसुओं को देखे। शायद इन्हीं आँसुओं ने ही सुबन्धु को छला था पहली बार।

हिरन अपने-आपको संभालकर बोली, “पर सुबन्धु, मैं तो और कुछ भी नहीं जानती। सिर्फ इतना ही जानती हूँ—जो कुछ भी सुन्दर पवित्र क्षण इस जीवन में मैंने जिये हैं, वही मैं हूँ। वही मेरा मन है...वही मैं हूँ। इस यात्रा में, मैं वही जीने आई हूँ।”

“उदात्तीकरण।”

सुबन्धु कटुता से हँस पड़ा, “मैं उदात्तीकरण नहीं जानता। मैं तो सिर्फ अभाव हूँ...और इस अभाव के मूल में तुम हो।”

“यानी मेरा शरीर है...मेरा तन...बोलो न ? बताओ मुझे ?”

“कुछ फायदा नहीं। जो कुछ होने को था, वह सब हो गया। वह सब बीत गया। मैंने उसके बाद बहुत दुनिया देखी है, बहुत...बहुत...”

कुछ देर बाद हिरन बोली, “सुबन्धु, तुमने तब से बहुत दुनिया देखी है, अच्छा तुमने कभी ऐसी भी औरत देखी है, जो अपना खाना भूल जाती है, सोना उठना भूल जाती है, फिर भी जो अपनी घर-गृहस्थी चलाती है और अपने पति को खुश-संतुष्ट रखती है...स्वयं सुखी और संतुष्ट रहती है।”

“पता नहीं। तुम्हीं जानो-देखो उसे।”

एक दिन पतितराम ने अकेले बुपचाप सुगन के सहसा पैर छूकर अपने भाये लगाया था।

सुगन ने पूछा था, “यह क्या रे ?”

पतितराम ने कहा, “बहू। तुम धन्य हो। तुम उस सुबन्धु को इतना मानती हो। पतिव्रता होकर उस सुबन्धु के प्रति तुम्हारी इतनी ममता।”

सुगन ने कहा था, “सुबन्धु भाव की ही वजह से आज ऐसा हुआ। अपने माध्यम से उसे जीवन का...

अपने आप से लाल का जो होता है। वह अपने को कितना संबंध है, इसका अनुमान उनके १-११-८६ को अपने सुपुत्र श्री हैं, मेरा आत्मन क्या है ? उससे मुझमें छाता, फैलता—जिसे अंग्रेज जिसे संस्कृत भाषा में कहते हैं—जमकर नौकरी नहीं कर सका।

—पर सर्वत्र मुझे वही आत्म सम्म इतना ही है तो बेकार है—आदि—में मुझे खींचता और धक्के देता र जाता—एकदम प्यार, एकदम गुस्से जिसे मेरी पत्नी ने सबसे ज्यादा ज्यादा मैंने, जी हाँ, खुद मैंने भोग देखा है और १९७० के बाद जबसे आपको समझने की थोड़ी सी क्षमता कि यह साला चक्कर क्या है ? त पर वह बुनियादी इंसानी कमजोरी क्यों नहीं ? मेरी बेटी, मेरा बेटा साहित्य, देश, मेरा सब कुछ ऐसा विस्तार है—आरती, मेरा साहित्य अजय, अनुपमा, मेरी बहनें, इन आधार मैं ही तो हूँ। जिसका नाम डाक—बहादुरपुर, जिला—बर्त एशिया, संसार, और विश्व-ब्रह्माण

वही वही प्रश्न, क्योंकि वही नहीं देते ? मुझे दुख क्यों नहीं देते जुड़ाव, फैलाव, रचना, रिश्ता, र में, कला में, जीवन में, साहित्य में

मर गया, वह हिरन मर

?"

स में कोई बात नहीं कर

बार और भी दुगुने झूठ के

यात्रा से, सबसे छिपाती हुई
मे लगी। वह नहीं चाहती
ही सुबन्धु को छला था पहली

धु, मैं तो और कुछ भी नहीं
न्दर पवित्र क्षण इस जीवन
में हैं। इस यात्रा में, मैं वही

नहीं जानता। मैं तो सिर्फ

बताओ मुझे ?"

सब हो गया। वह सब बीत
बहुत.....

ब से बहुत दुनिया देखो है,
गा खाना भूल जाती है, सोना
चलाती है और अपने पति
रहती है।"

सहसा पौर छूकर अपने साथे

उस सुबन्धु को इतना मानती
इतनी ममता।"

सुगन ने कहा था, "सुबन्धु, किसी स्त्री के कारण ही, उसकी दी हुई चोट, प्राय की ही वजह से आज ऐसा हुआ है, मैं भी एक स्त्री हूँ। सोचती हूँ कि मैं अपने माध्यम से उसे जीवन का नया अर्थ दूँगी। यही होगी मेरी सार्थकता...।"

अपने आप से लाल का जो सम्बन्ध है, उसे देख जानकर विस्मयपूर्ण हर्ष होता है। वह अपने को कितना जानते हैं, उनका अपने आप से कितना, कैसा संबंध है, इसका अनुमान उनके एक पत्र से मिलता है, जिसे दीपावली के दिन १-११-८६ को अपने सुपुत्र श्री आनन्दवर्द्धन को उन्होंने लिखा था। "मैं कौन हूँ, मेरा आत्मन क्या है? उससे मेरा कितना संबंध है? यही प्रश्न उत्तरोत्तर मुझमें छाता, फैलता—जिसे अंग्रेजी में कहते हैं 'परकोलेट' करता चला गया। जिसे संस्कृत भाषा में कहते हैं—परिस्रवण, वही बढ़ता रहा। इसीलिए मैं कहीं जमकर नौकरी नहीं कर सका। यद्यपि एक से एक मेरी पसंद की नौकरी मिली—पर सर्वत्र मुझे वही आत्म सम्मान, आत्मगौरव; ये क्या है? अगर ये यही है, इतना ही है तो बेकार है—आदि—वही प्रश्न और उत्तर, करने-पाने की दिशाओं में मुझे खींचता और धक्के देता रहा—मैं एकदम आकृष्ट होता, एकदम दूर हट जाता—एकदम प्यार, एकदम गुस्सा, जिसे तुमने देखा भी है और भोगा भी है। जिसे मेरी पत्नी ने सबसे ज्यादा भोगा है, पर देखा नहीं है। जिसे मैंने—सबसे ज्यादा मैंने, जी हाँ, खुद मैंने भोगा है। जब से देखने की शक्ति मिली है, तब से देखा है और १९७० के बाद जबसे भोगने और देखने के बाद साफ-साफ अपने आपको समझने की थोड़ी सी क्षमता मिली है, तबसे थोड़ा सा आभास मिला है कि यह साला चक्कर क्या है? तबसे कितना क्या छूट गया है—तुमने देखा है। पर वह बुनियादी इंसानी कमजोरी (प्रकृति) बरकरार है—क्यों? क्या? ऐसा क्यों नहीं? मेरी बेटा, मेरा बेटा, मेरी बहू, पोते-नाती, संबंधी, मेरा समाज, साहित्य, देश, मेरा सब कुछ ऐसा क्यों नहीं? क्योंकि मेरे "मैं" का ही तो विस्तार है—आरती, मेरा साहित्य, मेरा काम, मेरी रचना, आनन्द, सरोजिनी, अजय, अनुपमा, मेरी बहनें, इन सबसे जुड़े हुए लोग। और इन सबका केन्द्र आधार मैं ही तो हूँ। जिसका नाम है—लक्ष्मीनारायण लाल, गाँव जलालपुर, डाक—बहादुरपुर, जिला—बस्ती, प्रान्त—उत्तर-प्रदेश, देश—भारतवर्ष, एशिया, संसार, और विश्व-ब्रह्माण्ड...। इसके बाद फिर वही प्रश्न।

वही वही प्रश्न, क्योंकि वही बुनियाद है। ये सब इतने सब मुझे सुख क्यों नहीं देते? मुझे दुख क्यों नहीं देते? ये सब नीचे से ऊपर तक मुझे सब तक झुड़ाव, फैलाव, रचना, रिश्ता, रस बरसना, संगीत फैलना, देखो भइया, संगीत में, कला में, जीवन में, साहित्य में दुख-सुख समान मात्रा में है और इन्हें समान

रूप से संगीत में "राग" साहित्य में "रस" और जीवन में "दृष्टि" का दर्जा मिला हुआ है। तो मुझे मेरे लाल को वह क्यों नहीं प्राप्त हो रहा? मैं कौन हूँ अपने लाल के लिए? मेरा पूरा लेखन, मेरा कार्य मेरे पूरे घर-परिवार के लिए क्यों नहीं है? मैं लाल दूसरों से 'रिकगनीशन' प्रमाण, प्रशंसा, पहचान क्यों चाहता हूँ?"

इस आत्मप्रश्न के उत्तर में लाल से मुना है—“ये जो लाल बाहर से दिखता है, यह तो उसकी मूर्ति है। मूर्ति में सच्चाई कहीं होती है? उसे तो ढूँढना और नित्य प्रति उसका अनुसंधान करना पड़ता है। ॐ एं आत्मतत्त्वं शोधयाम नमः स्वाहा। दुर्गापूजा का यह जो प्रथम मंत्र है, यही तो मूलमंत्र है मेरा।”

नित्यप्रति अपने आपको शोधना, शुद्ध करना, जानना और पाना, इस प्रक्रिया से स्वयं साहित्यकार लाल को और हमारे कथा और नाट्य को अमूल्य चीजें प्राप्त हुई हैं। जैसे उपन्यास क्षेत्र में कहानी के स्थान पर कथा, नाट्य क्षेत्र में रंगमंच के स्थान पर रंगभूमि, अपनी सनातन दृष्टि।

अपने "व्यक्तिगत" नामक प्रसिद्ध नाटक जो लाल भाई द्वारा मुझे और मेरे पति को ही समर्पित है, उसका विषय वस्तु ही यही है कि पति-पत्नी के बीच क्या कोई व्यक्तिगत जैसी चीज है? अर्थात्, "मैं" और "वह" की कोई अपनी व्यक्तिगत सत्ता है? मैं और वह के बीच जो सम्बन्ध है, वह क्या है? इसी का "रंग" सम्बन्धों की "भूमि" पर नाटककार लाल ने अपनी नाटकीय दृष्टि और नित्य-प्रति के दाम्पत्य जीवन के यथार्थ सूत्रों, घटनाओं के सहारे मूर्तिमान किया है।

"व्यक्तिगत" का एक दृश्य देखिए।

मैं : तुम कुछ उदास रहने लगी हो। क्या बात है? बोलती क्यों नहीं...?
दरअसल तुम बीती हुई बातों को भूल नहीं पाती। यह क्या आदत है।
मेरा निजी विचार है...

वह : यह निजी विचार क्या चीज है?

मैं : चाय के साथ कुछ नमकीन चीज होनी चाहिए।

[मैं लेने जाता है।]

वह : निजी विचार। (हँसती है।) जब कोई अपना विश्वास ही न हो, चारित्र्य ही न हो तो निजी विचार क्या हो सकता है? एक बात और भी तो है—हमें बचपन से ही यह महसूस होता रहता है कि हमारे निजी विचारों और कामों का महत्त्व नहीं। इसलिए हम दूसरों के काम करते हैं—औरों की जिन्दगी ओढ़ते चले जाते हैं। पता नहीं चल पाता, कौन क्या था...कौन क्या है?

मैं : नमकीन कहीं है पत्नी

वह : अच्छा, तो अब मैं प

मैं : माँ ही तो असली स

वह : किसी के लिए मैं तुम

निस्ट", किसी के फि

मैं : किसी के लिए नहीं

सुन्दरी, साथी, मेरी

युद्ध करने वाली

जाओ।

वह : मतलब यह कि इस

मैं : मैंने शुरू से ही सो

गुण हों कि पति व

मसलन वह अच्छा

पति की बेहतरीन

भी हो...वह...व

मैं : देखो...देखो। प्ल

हटाकर माँ का भ

वह : "मेरी इच्छा।"

लक्ष्मीनारायण लाल एक

कार हैं, और उतने ही जीवन

इनकी प्रतिभा प्रकाशित हुई है

मैं। नाटककार के रूप में इ

और व्यक्ति के सौन्दर्य में।

जिज्ञासु रूप से व्यक्ति के प्रति

अमृता प्रीतम के एक

साहित्य बनता या रचित हो

विषय व्यक्तिगत होता है,

शब्द और पश्चिम के "इन्ड

चाहता है। व्यक्ति शब्द के

जीवन में "दृष्टि" का दर्जा प्राप्त हो रहा ? मैं कौन हूँ ? मेरे पूरे घर-परिवार के लिए भाषण, प्रशंसा, पहचान क्यों

ये जो लाल बाहर से दिखता होती है ? उसे तो ढूँढ़ना और एं आत्मतत्त्व शोधयाम नमः मूलमंत्र है मेरा ।"

पानना और पाना, इस प्रक्रिया र नाट्य को अमूल्य चीजें प्राप्त कथा, नाट्य क्षेत्र में रंगमंच के

पाल भाई द्वारा मुझे और मेरे है कि पति-पत्नी के बीच क्या 'वह' की कोई अपनी व्यक्ति-वह क्या है ? इसी का "रंग" नाटकीय दृष्टि और नित्य-सहारे मूर्तिमान किया है ।

त है ? बोलती क्यों नहीं...? ही पातीं । यह क्या आदव है ।

माहिए ।

1) अपना विश्वास ही न हो, चरित्र सा है ? एक बात और भी तो पता रहता है कि हमारे निजी इसलिए हम दूसरों के काम करते हैं । पता नहीं चल पाता, कौन

[मैं आता है ।]

मैं : नमकीन कहाँ है पप्पू की माँ ?

वह : अच्छा, तो अब मैं पप्पू की माँ हूँ ?

मैं : माँ ही तो असली रूप है स्त्री का ।

वह : किसी के लिए मैं तुम्हारी प्राइवेट सेक्रेटरी हूँ, किसी के लिए "रिश्तेश-निस्ट", किसी के लिए फ्रेंड...

मैं : किसी के लिए नहीं, मेरे लिए एक ही मैं अनेक हो—मेरी प्रिय, मेरी सुन्दरी, साथी, मेरी इंटेलेक्चुअल, मेरी धर्मपत्नी, खिलाड़ी, मेरे साथ युद्ध करने वाली वीर सेनानी और...और...देखो, अब खुश हो जाओ ।

वह : मतलब यह कि इस वक्त मैं आपके लिए नमकीन बन जाऊँ ?

[जाती है ।]

मैं : मैंने शुरू से ही सोच रखा था कि मेरी पत्नी ऐसी हो, जिसमें इतने गुण हों कि पति घर में आकर अपनी बाहर की दुनिया भूल सके—मसलन वह अच्छा भोजन, चाय बनाए । बच्चों की आदर्श माँ । पति की बेहतरीन पत्नी । वह इंटेलेक्चुअल हो, पर सीधी और नेक भी हो...वह...वह पार्टनर भी हो और

[वह नमकीन ले आती है ।]

मैं : देखो...देखो । प्लीज । इस वक्त अपने चेहरे पर से उदासी का भाव हटाकर माँ का भाव ले आओ—प्लीज, यह मेरी इच्छा है ।

वह : "मेरी इच्छा ।"

लक्ष्मीनारायण लाल एक विशिष्ट कथाकार और हिन्दी के शीर्षस्थ नाटक-कार हैं, और उतने ही जीवन-जिज्ञासु भी । उपन्यासकार, कहानीकार के रूप में इनकी प्रतिभा प्रकाशित हुई है मानव मन के अन्तर-विरोधों और बुद्धि के सौंदर्य में । नाटककार के रूप में इनका भाव और रस प्रकट हुआ है शक्ति की सीमा और व्यक्ति के सौन्दर्य में । पर मेरे इस कथन की पुष्टि तभी होगी, जब इनके जिज्ञासु रूप से व्यक्ति के प्रति इनकी दृष्टि से आप परिचित हो सकें ।

अमृता प्रीतम के एक प्रश्न के उत्तर में इन्होंने कहा है, "जिस अक्षर से साहित्य बनता या रचित होता है, उस अक्षर का सम्बन्ध अर्थात् उस साहित्य का विषय व्यक्तिगत होता है, "इन्डीविजुअल" नहीं । यहाँ मैं भारतीय "व्यक्ति" शब्द और पश्चिम के "इन्डीविजुअल" शब्द के परस्पर विरोध पर जोर देना चाहता हूँ । व्यक्ति शब्द के धातुमूलक अर्थ का आशय है, जो अपनी विशेषता के

भीतर से व्यक्त हो उठा है, वही व्यक्ति है। “इन्डोविजुअल” का धातु मूलक अर्थ है, वह अन्तिम इकाई जिसका आगे विभक्तिकरण संभव नहीं है। हमारा अधिकांश तथाकथित आधुनिक साहित्य इसी “इन्डोविजुअल” का तथाकथित साहित्य है, जिसमें स्वभावतः अक्षर का गौरव नहीं है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि उसमें शब्द का भी गौरव नहीं है। क्योंकि उनमें अपनी कोई विशेषता व्यक्त नहीं हो रही है। व्यक्ति की विशेषता उसके साहित्य में तभी व्यक्त हो सकती है, जब वह व्यक्ति स्वयं स्वतंत्र हो। वह अपने आप में पूरी तरह से यह विश्वास कर सके कि इस जगत में पूरी तरह से उसके अनुरूप दूसरा नहीं है।”

जीवन-जिज्ञासु की हैसियत से ये जीवन की वास्तविक सार्थकता पर सदा अनवरत विचार करते चले आ रहे हैं। चाहे अपनी संस्कृति हो “वह जो शेष है” चाहे राजनीति हो “निर्मूल वृक्ष का फल” चाहे अपना नाट्य हो “रंगभूमि अपनी सनातन दृष्टि”। चाहे अपने उत्सव और पर्व हों, “दीपावली, किस पात्र में क्या जल रहा है,” “वसंत उत्तरायण सूर्य की प्रतीक्षा करता है—” चाहे वर्तमान भारत की दशा “अंग्रेजी मशीन में देश को डाल दिया” सब में मूलगत प्रश्नों का खुल्लमखुल्ला, अजब बेबाकी से पूरी निर्भयता से सामना किया। ये ज्वलंत प्रश्न हैं—ये भारत देश क्या है? अपनी संस्कृति क्या है? हमारी निर्मूलता कैसे घटित हुई? उससे वर्तमान राजनीति किस तरह उदित हुई? हम में कितना अपनापन है? मैं से मेरा क्या सम्बन्ध है? लोक क्या है? श्रद्धा विश्वास क्या है? किसके है? क्यों इतना अनिवार्य है?

शास्त्रीय अर्थों में लाल न तो समाजशास्त्री हैं न राजनीतिशास्त्री पर अपनी रचना और विचार दोनों स्तरों पर अपने प्रश्नों के उत्तर देने का सफल प्रयास उन्होंने किया है। वह अपने ही ढंग से सोचते हैं। अपने ही ढंग और दृष्टि से अपने समय, देश, जन, व्यक्ति, समाज, साहित्य, कला, संस्कृति के बारे में विचार करते हैं। और खास बात यह है कि इस सबका इन्हें कोई अहंकार नहीं है। इनका सबसे यही प्रश्न है कि अहं तत्व अपने जीवन, समाज और देश के संदर्भ में किस तरह सार्थकता पा सकता है?

लक्ष्मीनारायण लाल के चिंतन का मूल विषय है—वर्तमान जीवन की स्थिति और इसकी परिणति।

इन्होंने स्वयं कहा है, इनका सृजन संसार गायक का संसार है। जैसे गायक का गायन प्रतिक्षण संचल रहता है, वैसे ही इनका सृजन, इनकी रचना प्रक्रिया सदा अबाध गति से चलती रहती है। अर्थात् जीवन क्षणों, घटनाओं का अतिक्रमण करके इनका सृजन कर्म अपने आप में अचल रहता है। ●

किसी भी पुत्र के लिए उ
कठिन कार्य है। पुत्र के लिए
प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में प्रेरण
बाबूजी पूज्य होने के साथ-सा
तो उन्होंने बुलाकर आशीर्वा

देखते-देखते बाबूजी ६०
कैसे बीत गया, सहज विश्वास
विचारों की स्वच्छता व स्प
जीवन संघर्षों का जीवन है।

खिलाफ अपने स्तर से लड़े है

जब से मैं जानने की दि
अक्सर सुनता आया हूँ—“न
अज्ञान केन्द्र खोले गए हैं।”
खाबड़, लटरम-सटरम।” “
काम नहीं करने देते।” “हम

इन बातों के प्रकाश में
करता हूँ, तो जो बात मुझे स
इन बातों का अहसास इतनी

जान पाया हूँ—बाबूजी की कु
कठोर, मधुर, करुण राग ब
साथ स्वर और ताल का योग
स्थान दिया है अपने जीवन
लेखन और कर्म फूटा है—ऐस
यह सदा दूसरे की स्वतंत्रता

सर्जक व्यक्तित्व की पहचान

“बहुअल” का धातु मूलक अर्थ
भव नहीं है। हमारा अधि-
अल” का तथाकथित साहित्य
तो यहां तक कहता हूँ कि
अपनी कोई विशेषता व्यक्त
में तभी व्यक्त हो सकती है,
पूरी तरह से यह विश्वास
दूसरा नहीं है।”

सांस्कृतिक सार्थकता पर सदा
संस्कृति हो “वह जो शेष
अपना नाट्य हो “रंगभूमि
हों, “शीपावली, किस पात्र
प्रतीक्षा करता है—” चाहे
डाल दिया” सब में मूल-
निर्भयता से सामना किया।
संस्कृति क्या है? हमारी
किस तरह उदित हुई? हम
? लोक क्या है? श्रद्धा
है?

राजनीतिशास्त्री पर अपनी
उत्तर देने का सफल प्रयास
अपने ही ढंग और दृष्टि से
संस्कृति के बारे में विचार
हैं कोई अहंकार नहीं है।
समाज और देश के संदर्भ

वर्तमान जीवन की स्थिति

का संसार है। जैसे गायक
सृजन, इनकी रचना प्रक्रिया
क्षणों, घटनाओं का अति-
हता है।

मेरे बाबूजी

आनन्दवर्धन

किसी भी पुत्र के लिए अपने पिताश्री के बारे में तटस्थ भाव से कुछ लिखना
कठिन कार्य है। पुत्र के लिए पिता एक आदर्श नायक होता है, जो जीवन पर्यन्त
प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में प्रेरणा देकर पथ-प्रदर्शक का कार्य करता है। मेरे लिए
बाबूजी पूज्य होने के साथ-साथ सदैव मित्रवत् रहे। जब मैंने इण्टर पास किया
तो उन्होंने बुलाकर आशीर्वाद दिया और कहा—“आज से तुम मेरे दोस्त हो।”

देखते-देखते बाबूजी ६० वर्ष पूर्ण करने जा रहे हैं, यह समय इतनी जल्दी
कैसे बीत गया, सहज विश्वास नहीं होता। बाबूजी ने सदैव कर्म पर आस्था रखी,
विचारों की स्वच्छता व स्पष्टवादिता को साथ लेकर चले हैं। इनका सम्पूर्ण
जीवन संघर्षों का जीवन है। जीवन की हर व्यवस्था के लिए हर अव्यवस्था के
खिलाफ अपने स्तर से लड़े हैं।

जब से मैं जानने की दिशा में सचेत हुआ हूँ, मुझे याद है, बाबूजी के मुँह से
अक्सर सुनता आया हूँ—“नीचे से ऊपर तक, कहने को विद्यालय, असलियत में
अज्ञान केन्द्र खोले गए हैं।” “जहाँ जाओ, कहीं कोई व्यवस्था नहीं, सब ऊबड़-
खाबड़, लटरम-सटरम।” “लोग अपना काम नहीं करते, तभी वे दूसरों को भी
काम नहीं करने देते।” “हममें अपनापन की बड़ी कमी है।”

इन बातों के प्रकाश में जब मैं बाबूजी के जीवनवृत्त को देखने की कोशिश
करता हूँ, तो जो बात मुझे सबसे ज्यादा आश्चर्य में डालती है, वह यही कि इन्हें
इन बातों का अहसास इतनी शिद्धत से, इतने पहले कैसे हो गया? जहाँ तक मैं
जान पाया हूँ—बाबूजी की दुनिया में, बचपन के लेकर आज तक, सब तरह के
कठोर, मधुर, करुण राग बजे हैं, पर मैंने पाया है—सबमें उन्होंने माधुर्य के
साथ स्वर और ताल का योग साधा है। तभी स्वतंत्रता को इन्होंने सबसे ऊँचा
स्थान दिया है अपने जीवन में। इसी स्वतंत्रता भूमि से इनका सारा सृजन,
लेखन और कर्म फूटा है—ऐसा मेरा विश्वास है। अपनी स्वतंत्र-वृत्ति के कारण
यह सदा दूसरों की स्वतंत्रता का ध्यान रखते हैं। जरा सी चूक हो जाने मात्र से

यह सहर्ष क्षमा याचना करते हैं। वह कोई भी क्यों न हो। इसी के सहारे, मैं आज पहली बार इनके बारे में कुछ लिखने का विनम्र प्रयास कर रहा हूँ।

१८७० जुलाई की एक शाम, रात्रि भोजन के पश्चात् कमरे में बैठे परिवार-जन आपस में बातें कर रहे थे, तभी बाबूजी ने बातों-बातों में सहज भाव से बताया कि वे दिल्ली विश्वविद्यालय की लेक्चररशिप त्याग आये हैं। विभागाध्यक्ष से कह दिया है कि उनके स्थान पर किसी अन्य की व्यवस्था कर लें।

बाबूजी को इलाहाबाद से दिल्ली आये अभी मुश्किल से ५ वर्ष का समय बीता था। काफी विरोध के बावजूद इन्होंने इलाहाबाद से दिल्ली आकर विश्व-विद्यालय में अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया था। इनके एकाएक इस प्रकार से नौकरी छोड़ने के निर्णय को लेकर पूरा घर हतप्रभ-सा हो गया। ऐसी किसी को कोई उम्मीद ही नहीं थी। सब चुप, उन्हीं का मुँह देखने लगे।

सभी को लगा शायद बाबूजी मानसिक रूप से कुछ परेशान हैं, तभी यह निर्णय लिया है। परन्तु अपने निर्णय में इतनी सहजता का भाव था इनमें कि हम किसी प्रकार का प्रश्न करने अथवा शंका समाधान करने की स्थिति में ही जैसे नहीं थे। वह कितना प्रसन्न थे, मैं बता नहीं सकता। हालाँकि उस समय घर गृहस्थी बिल्कुल कच्ची थी। मैंने अभी इण्टर की परीक्षा पास की थी। मेरी बहन सरोजिनी कक्षा नौ में थी और अजय छोटा था। इसके अतिरिक्त गाँव जलालपुर के परिवार के लोग भी बाबूजी पर आर्थिक रूप से आश्रित थे। त्याग-पत्र देने के निर्णय से उत्पन्न खामोशी को तोड़ते हुए बाबूजी ने स्वाभाविक ढंग से कहा :

“तुम लोग घबराओ मत, तुम लोगों को कोई परेशानी नहीं होगी। हम लोग पहले से भी अच्छी तरह से रहेंगे। नौकरी छोड़ने के निर्णय को बदलने की बात कहकर मुझे कमजोर मत बनाना।”

यह स्थिति पहली बार उत्पन्न नहीं हुई थी। पहले भी ‘आल इण्डिया रेडियो’ की ‘प्रोड्यूसरशिप’ मिनटों में छोड़ चुके थे। और हम भी उनके स्वभाव से थोड़ा परिचित थे। परन्तु इस बार दिल्ली का बदला हुआ माहौल था और शंकाओं से जुड़ी हुई जिन्दगी की एक नई शुरुआत थी। एक ओर नई दिल्ली जैसा महानगर, दूसरी ओर सिर्फ कलम लेकर अकेला खड़ा एक लक्ष्मीनारायण लाल नामक व्यक्ति। कोई बात नहीं। फिर शुरू हुई उनकी असली जिन्दगी। फिर एक नये सिरे से बाबूजी के जीवन में संघर्ष के सोपान का आरम्भ हो रहा था। जब कभी ऐसा लगा कि शायद बाबूजी संतुष्ट होकर जिन्दगी जीने वाले हैं तभी इस प्रकार के निर्णायक मोड़ लेकर इन्होंने नये सिरे से नए जीवन की शुरुआत की।

उनका जन्म दि
दिन था। उस बारि
उत्तर प्रदेश के अत्यन्त
इनके परिवेश में ऐसा
जलालपुर बहुत कम
एक घर ठाकुर, थोड़े
लोग। माँ मूंगामोती
थे। चूँकि बाबूजी क
कहते हैं, फलतः दाद
सावित्री, इनसे बड़े भा
सेवक लाल ग्राम पटवा
कष्ट में थे। इन परि
कोई विशेष प्रसन्नता न
का था। “कुआँनों”
के दिनों में अक्सर नद
जाता था और संकट क
कर जीवित रहना एक
के बहाव ने बाबूजी को
चमत्कार मैं इनकी सृजन
कर इनकी नाट्य कृतियो
उनके बचपन के शौक थे
के किनारे निकल जाते
की यही संघर्षपूर्ण गति
रही।

बाबूजी के बड़े भाई
वर्ष बड़े थे, पास के कस्बे
भाई को स्कूल में पढ़ने ज
कर उनके पीछे-पीछे कर
खिड़कियों से झाँकते। इस
पर स्कूल अच्छा लगता
लिया और बुलाकर नाम,
सेवक लाल। तभी मौला

। इसी के सहारे, मैं
स कर रहा हूँ।

कमरे में बैठे परिवार-
तों में सहज भाव से
आये हैं। विभागा-
वस्था कर लें।

से ५ वर्ष का समय
दिल्ली आकर विश्व-
का एक इस प्रकार से
गया। ऐसी किसी को
जगो।

परेशान हैं, तभी यह
का भाव था इनमें कि
करने की स्थिति में ही

। हालाँकि उस समय
जा पास की थी। मेरी
इसके अतिरिक्त गाँव
से आश्रित थे। त्याग-
बाबूजी ने स्वाभाविक ढंग

पानी नहीं होगी। हम
के निर्णय को बदलने की

‘आल इण्डिया रेडियो’
उनके स्वभाव से थोड़ा
गोल था और शंकाओं से
ई दिल्ली जैसा महानगर,
नीनारायण लाल नामक
जिन्दगी। फिर एक नये
हो रहा था। जब कभी
वाले हैं तभी इस प्रकार
की शुरुआत की।

उनका जन्म दिन चार मार्च १९२७ का दिन, अप्रत्याशित रूप से वर्षा का दिन था। उस बारिश में बाबूजी का जन्म, ग्राम जलालपुर जिला बस्ती, पूर्वी उत्तर प्रदेश के अत्यन्त मध्यमवर्ग परिवार में एक पुराने खपरैल के मकान में हुआ। इनके परिवेश में ऐसा कुछ नहीं था जिसे प्रेरणा हेतु उत्साहजनक समझा जा सके। जलालपुर बहुत कम आबादी का ग्राम है, जिसमें हमारा ही एक घर कायस्थ, एक घर ठाकुर, थोड़े से हरिजन, बाकी, कुरमी, कहार, बड़ई, पासी, धरिकार लोग। माँ मूंगामोती, पिता श्री शिवसेवक लाल की दूसरी पुत्र संतान बाबूजी थे। चूँकि बाबूजी का जन्म बारिश में हुआ था जिसे गाँव की भाषा में झकड़ी कहते हैं, फलतः दादी से “झकड़ी” नाम मिला। छोटी बहनें—श्यामा और सावित्री, इनसे बड़े भाई श्री बलदेव लाल, छोटे भाई कमला लाल। श्री शिवसेवक लाल ग्राम पटवारी थे और पारिवारिक बोझ में दबे होने के कारण, आर्थिक कष्ट में थे। इन परिस्थितियों में स्वभावतः “झकड़ी” के आगमन से किसी को कोई विशेष प्रसन्नता नहीं थी। वह समय संक्रामक रोगों, हैजा, ताऊन, महामारी का था। “कुआँनों” “मनवर” और “सरयू” नदियों की बाढ़ का पानी बरसात के दिनों में अक्सर नदी नालों खलिहानों को पार करता हुआ घर में प्रवेश कर जाता था और संकट की घड़ी को और गहरा देता था। दैवी आपदाओं से उभर कर जीवित रहना एक आश्चर्यजनक सौभाग्य था। अपने चारों ओर फैले पानी के बहाव ने बाबूजी को बचपन में एक अद्भुत कल्पना शक्ति प्रदान की, जिसका चमत्कार मैं इनकी सृजन शक्ति और इनके रचे हुए साहित्य में पाता हूँ—विशेषकर इनकी नाट्य कृतियों में। “मनवर” में तैराकी करना और मछली-शिकार, उनके बचपन के शौक थे। छोटी बहन श्यामा को बताकर बाबूजी अक्सर नदी के किनारे निकल जाते और नदी के बहाव और बाढ़ के पानी को जीते। पानी की यही संघर्षपूर्ण गतिशीलता, बाबूजी के आने वाले समय में प्रेरणा का स्रोत रही।

बाबूजी के बड़े भाई श्री बलदेव प्रसाद, जो बाबूजी से उम्र में लगभग १० वर्ष बड़े थे, पास के कस्बे बहादुरपुर की प्राइमरी स्कूल में पढ़ने जाते थे। बड़े भाई को स्कूल में पढ़ने जाते देखते हुए बाबूजी भी जिज्ञासावश बड़े भाई से छिपकर उनके पीछे-पीछे करघनी पहने नंग-धड़ंग अवस्था में स्कूल पहुँच, कक्षा की छिड़कियों से झाँकते। इसके लिए बड़े भाई के क्रोध का भी सामना करना पड़ता। पर स्कूल अच्छा लगता। एक दिन स्कूल के प्रधानाध्यापक भगेलुराम ने भाँप लिया और बुलाकर नाम, वल्लियत पूछी। जवाब मिला “झकड़ी” वल्द शिवसेवक लाल। तभी मौला नामक एक फकीर ने बाबूजी का नामकरण किया,—

लक्ष्मीनारायण लाल और दुआ दी कि कल से कलम दवात लेकर स्कूल में पढ़ने जाना। फिर क्या था, बाबूजी अपने नये नाम के साथ स्कूल आने लगे। उधर उस फकीर से कथा-किस्से सुनते। बाल सुलभ प्रश्नों को हल करते में घंटों बताते समझाते, जिसको ये बड़े मनोयोग से सुना करते।

दिल-दिमाग पर उस मौला फकीर का असर पड़ा। जिज्ञासा के बीज इनकी चित्त भूमि में तभी से पड़े। पूर्वी उत्तर प्रदेश का तराई में बसा हुआ वह पिछड़ा हुआ अवध का तराई का इलाका, अपनी अनेक कुरीतियों, साथ ही सांस्कृतिक सम्पन्नता का विरोधाभास लिए हुए था। जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कार, विभिन्न लोक त्यौहार, पर्व उत्सव, परम्परायं किसी भी चैतन्य व्यक्ति के लिए शोध करने, विचारने का अवसर प्रदान करतीं। बचपन से ही बाबूजी में गजब की जिज्ञासा शक्ति और विश्लेषण करने की क्षमता थी। अपने ग्राम अंचल के लोक नाट्य—“कठघोड़वा”, सफेड़ा, “कहरऊआ”, “नौटंकी” आल्हा, लीला आदि लोकधर्मी नाट्य को काफी करीब से देखा और उनमें भाग लिया। सोहर, कजरी, होली, फाग, आल्हा, रामलीला आदि उत्सव में गाये-बजाये जाने वाली लोकधुनों को भी खूब सुना-गाया। मोलों दूर से नगाड़ों की आवाज उनके चित्त में आह्लाद भर देती। और उससे आकृष्ट बालक लाल दूर-दूर तक नंगें पाँवों चले जाते। सर्दी के दिनों में चौपाल में आग के किनारे बैठे किसानों को रात-रात भर उत्सुकता से सुनते रहते। बचपन के वे दिन उनके आने वाले दिनों में महत्वपूर्ण सिद्ध हुए, और नाट्य तथा रंग के प्रति इनके विशेष झुकाव के कारण बने। बचपन में खूब कसरत करने और पहलवानी करने का भी शौक रहा। इस प्रकार गाँव की मिट्टी से हर दृष्टि से जुड़े रहे और वही भूमि इनकी चेतना का आधार बनी।

बहादुरपुर प्राइमरी स्कूल के बाद बाबूजी ने पिपरागौतम के मिडल स्कूल में प्रवेश लिया। जलालपुर गाँव से ६ मील दूर था यह स्कूल। रोज पैदल आना-जाना। पिता शिवसेवक लाल, बाबूजी की पढ़ाई के प्रति विशेष उत्सुक नहीं थे। एंग्लो हाई स्कूल, बस्ती में कक्षा आठ पास करने के पश्चात् पिताजी ने शादी तय कर दी, ग्राम फरीदपुर जिला फैजाबाद राजबहादुर लाल की दूसरी पुत्री आरती के साथ। वस्तुतः यह एक बाल विवाह ही था। दोनों वैवाहिक बन्धन की वास्तविकता से अबोध व अंजान थे।

सक्सेरिया कालेज, बस्ती से १८४६ में इण्टर पास किया। मेरे बाबाजी, बाबूजी को इण्टर से आगे पढ़ाने में तनिक भी इच्छुक नहीं थे, क्योंकि उनके लिए न तो यह आवश्यक ही था और न ही उनके सामर्थ्य की चोज थी। फिर गाँव

में कुछुर्गों के अनुसार शहर ही करता है। बड़े भाई श्री गये थे, परन्तु बाबूजी को इ थी।

बाबूजी ने स्कूल लाइब्रेरी नाटक पुस्तिका देखी थी, जि थी। बाबूजी के हृदय में वह वे आगे की पढ़ाई इलाहाबाद को बताये हुए वे इलाहाबाद अपना कोई माहौल था और स्टेशन के पास एक भड़भूजे लिए चल पड़े। यह समय उन दिनों प्रवेश जून मास में में किसी को प्रवेश दिया जा विद्यालय में प्रवेश मिलना कोई साधन भी बाबूजी के प दरवाजा खटखटाने के बाद जाने कहाँ की हिम्मत जुटा अन्दर नहीं घुसने दिया और दिनों चला। एक दिन स्वयं स्थिति देखी। एक दिन वे व गए। गाड़ी रुकी। कोठी के

“क्या चाहते हो, रोज

“विश्वविद्यालय में प्रवेश

“यह कोई समय है एड

हैं। और तुममें कौन से सुरख किया जावे?”

बड़े आश्वस्त ढंग से बा

“सर, मौका आने पर ह

खाब के पर लगे हुए हैं।”

बाइस चांसलर श्री अम

मानी हुई हस्ती थी। इस प्र

मम दवात लेकर स्कूल में पढ़ने साथ स्कूल आने लगे। उधर प्रश्नों को हल करने में घंटों करते।

पढ़ा। जिज्ञासा के बीज इनकी तराई में बसा हुआ वह पिछड़ा कुरीतियों, साथ ही सांस्कृतिक से लेकर मृत्यु तक के संस्कार, किसी भी चैतन्य व्यक्ति के लिए बचपन से ही बाबूजी में गजब ता थी। अपने ग्राम अंचल के "नौटंकी" आल्हा, लीला और उनमें भाग लिया। सोहर, स्वयं में गाये-बजाये जाने वाली नगाड़ों की आवाज उनके चित्त क लाल दूर-दूर तक नंगे पाँवों किनारे बैठे किसानों को रात-दिन उनके आने वाले दिनों में इनके विशेष झुकाव के कारण करने का भी शौक रहा। इस और वही भूमि इनकी चेतना का

पिपरगौतम के मिडल स्कूल में यह स्कूल। रोज पैदल आना-के प्रति विशेष उत्सुक नहीं थे। के पश्चात् पिताजी ने शादी तय दुर लाल की दूसरी पुत्री आरती। दोनों वैवाहिक बन्धन की

र पास किया। मेरे बाबाजी, कुछ नहीं थे, क्योंकि उनके लिए धर्म की चीज थी। फिर गाँव

में बुजुर्गों के अनुसार शहर का वातावरण लड़कों को बनाने की जगह बर्बाद ही करता है। बड़े भाई श्री बलदेवप्रसाद हाई स्कूल पास कर नौकरी में लग गये थे, परन्तु बाबूजी को इण्टर से आगे की पढ़ाई की प्रबल लालसा बनी हुई थी।

बाबूजी ने स्कूल लाइब्रेरी में डॉक्टर रामकुमार वर्मा कृत "रेशमी टाई" नाटक पुस्तिका देखी थी, जिसमें डॉ० अमरनाथ झा की पूरे पृष्ठ पर फोटो छपी थी। बाबूजी के हृदय में वह फोटो गहरे बैठ गई और इन्होंने निर्णय लिया कि वे आगे की पढ़ाई इलाहाबाद विश्वविद्यालय में ही करेंगे। बिना घर में किसी को बताये हुए वे इलाहाबाद नई जगह, नये संघर्षों में पहुँच गए, जहाँ न तो अपना कोई माहौल था और न ही कोई जान-पहचान। इलाहाबाद के रामबाग स्टेशन के पास एक भड़भूजे के पास सामान रखकर यूनीवर्सिटी में प्रवेश पाने के लिए चल पड़े। यह समय जुलाई १९४६ का था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उन दिनों प्रवेश जून मास में ही समाप्त हो जाता था। अपवाद स्वरूप ही जुलाई में किसी को प्रवेश दिया जाता था। स्वाभाविक था कि इतने विलम्ब से विश्व-विद्यालय में प्रवेश मिलना असंभव था। इसके अतिरिक्त इलाहाबाद में पढ़ने के कोई साधन भी बाबूजी के पास नहीं थे। परन्तु इन्होंने हिम्मत नहीं हारी। हर दरवाजा खटखटाने के बाद वही वाइस चांसलर डॉ० झा के निवास स्थान पर न जाने कहाँ की हिम्मत जुटाते हुए पहुँचे। कोठी पर खड़े दरवान ने मकान के अन्दर नहीं घुसने दिया और अपमानित कर बाहर निकाल दिया। यह क्रम कई दिनों चला। एक दिन स्वयं वाइस चांसलर ने भी आते-जाते गाड़ी में बैठे हुए स्थिति देखी। एक दिन वे वाइस चांसलर की आती हुई गाड़ी के सामने खड़े हो गए। गाड़ी रुकी। कोठी के अन्दर आने का इशारा हुआ।

"क्या चाहते हो, रोज यहाँ के चक्कर क्यों लगा रहे हो ?

"विश्वविद्यालय में प्रवेश चाहता हूँ।"

"यह कोई समय है एडमिशन का, पता है एडमिशन कब के समाप्त हो गए हैं। और तुममें कौन से मुरखाव के पर लगे हैं जो इतने विलम्ब के बावजूद प्रवेश किया जावे ?"

बड़े आश्वस्त ढंग से बाबूजी ने उत्तर दिया :

"सर, मौका आने पर ही यह दिखाया जा सकता है कि मुझमें कौन से सुर-खाव के पर लगे हुए हैं।"

वाइस चांसलर श्री अमरनाथ झा, इलाहाबाद की उस समय की बहुत बड़ी मानी हुई हस्ती थी। इस प्रकार के उत्तर की आशा गाँव से आये उस नवयुवक

से कतई नहीं थी। परन्तु उत्तर की निश्चिन्ता को देखते हुए वाइस चांसलर अवाक् रह गए। उन्हें बाबू जी में कुछ असामान्य गुणों के लक्षण दिखे। उन्होंने विलम्ब के बावजूद अपने विशेष अधिकारों का प्रयोग करते हुए प्रदेश की अनुमति दे दी। बी० ए० में बाबूजी को अंग्रेजी, हिन्दी, इतिहास विषय दिये गए, किन्तु प्रवेश के कुल दो सौ दस रुपये फीस की व्यवस्था भी एक बड़ी भारी समस्या थी। पास में रुपया पैसा नहीं था और विश्वविद्यालय की फीस की व्यवस्था एक सप्ताह में ही की जानी थी। इलाहाबाद जैसी अज्ञान जगह में कहीं उधार क्यों मिलता? और यदि कहीं से इन्तजाम भी होता तो उसके लिए बाबू जी स्वयं को उपहास पात्र बनाने के लिए तैयार नहीं थे। इनके लिए यह गम्भीर परीक्षा की घड़ी थी। बस, यहीं से बाबूजी के जीवन में सृजनात्मक प्रक्रिया की शुरुआत हुई। बाबूजी ने दो दिन, दो रात लगातार बैठकर अपना पहला उपन्यास "रक्तदान" लिखा। प्रकाशक को पाण्डुलिपि देकर उसकी कथा सुनायी। प्रकाशक ने उपन्यास की विषयवस्तु को पसन्द किया और उपन्यास को सर्वाधिकार सहित सिर्फ दो सौ में खरीद लिया। उसी रुपये से बाबूजी ने विश्वविद्यालय की फीस अदा की।

गाँव से किसी प्रकार की आर्थिक सहायता का प्रश्न नहीं उठता था। प्रयाग आश्रम के एक दूटे से कमरे में रहने की जगह मिली और रात भर प्रूफरीडिंग करके पढ़ाई का खर्चा चलाने लगे। इस तरह बाबूजी के जीवन काल के इस दौर में लेखन शौक न होकर आवश्यकता के रूप में मजबूरी थी। दिन में कक्षाएँ, रात को जीवनयापन के लिए प्रूफरीडिंग व लेखन का क्रम चलने लगा। बाबूजी के लिए घोर संघर्ष के दिन थे। और एक-एक दिन के लिए संघर्ष मुँह बाये खड़ा था। जीविका के लिए ही रेडियो में भी लिखना शुरू किया, जिसे विश्वविद्यालय के कुछ छात्रों ने सुना और सराहा। आम शोहरत फैल गई कि विश्वविद्यालय का एक छात्र लक्ष्मीनारायण लाल रेडियो में लिखता है।

उन दिनों प्रत्येक वर्ष विश्वविद्यालय दीक्षान्त समारोह में एकांकी नाटक का मंचन किया जाना एक परम्परा थी। प्रत्येक वर्ष डॉक्टर रामकुमार वर्मा द्वारा रचित एकांकी का ही मंचन किया जाता था। उस वर्ष छात्रों ने निर्णय लिया कि विश्वविद्यालय की युनिवर्सिटी मैगजीन में छपा लाल का प्रथम एकांकी "ताज-महल के आँसू" रचना को मंचित किया जावे। विश्वविद्यालय में लक्ष्मीनारायण लाल नाम के उस नवयुवक लेखक की दूँद मची। प्रयाग आश्रम में सम्पर्क स्थापित हुआ जिसमें उनके नाटक के मंचन के निर्णय को बताया गया। वार्षिक उत्सव में मुख्य अतिथि के रूप में वही वाइस चांसलर श्री ए० एन० झा जो तब उत्तर

प्रदेश पब्लिक सर्विस कमीशन के चेयरमैन परस्परा के अनुसार एकांकी मंचन के साथ बैठायें जाने की व्यवस्था थी। मंचन को बार-बार कनखियों से उत्सुकतापूर्वक देखे कि यह कौन है और यहाँ क्यों बैठा है। डॉ० झा से परिचय कराया गया और आशीर्वाद दिया जिस पर बाबूजी ने

"सर, मैं वही हूँ जिसको आपने मुरखाब के पर लगे हुए हैं, जिससे विश्वविद्यालय यह मुरखाब का एक पंख है।" मुझे डॉ० झा ने बाबूजी को गले लगा लिया। पहली व महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। गाँव में अफवाह फैल गई कि लड़का तो कोई पढ़ाई ही नहीं होती। मेरी धर वालों के उलाहने सुनने पड़ते। लड़के को अपनी पत्नी पसन्द नहीं है, क्यों अपनी शक्ति बर्बाद कर रहे हो, बात कहीं और की जावे। अम्माजी अपने पति पर विश्वास था और अपनी परिस्थितियों से बदलेगा। अम्माजी बाबूजी के साथ हर परिस्थिति में सहयोगी नौकरी के दिनों अथवा नौकरी से बाहर भागिनी व सहयोगिनी के रूप में कंधे का वह सूत्र कभी डगमगाया नहीं। डॉ० झा के आड़े नहीं आने दिया।

इनके एम० ए० करने के बाद, मेरी बहन सरोजिनी का जन्म। हम वाराणसी तदोपरान्त एस० एम० कालिज चंदौस में अबाध गति से चलता रहा। कुछ सन् १९५० पी० डिग्री कालेज में हिन्दी विभाग में बाबूजी सन १९५५ से जुलाई १९६४ तक इस बीच आकाशवाणी के डी०

हुए वाइस चांसलर लक्षण दिखे। उन्होंने ते हुए प्रवेश की अनु- ग्राह्य विषय दिये गए, एक बड़ी भारी समस्या की व्यवस्था। एक ह में कहीं उधार क्यों के लिए बाबू जी स्वयं के लिए यह गम्भीर मुजनात्मक प्रक्रिया की अपना पहला उपन्यास कथा सुनायी। प्रका- न्यास को सर्वाधिकार ने विश्वविद्यालय की

हीं उठता था। प्रयाग रात भर प्रूफरीडिंग केबन काल के इस दौर। दिन में कक्षाएँ, रात सने लगा। बाबूजी के ए संघर्ष भूँह बाये खड़ा, जिसे विश्वविद्यालय कि विश्वविद्यालय का

में एकांकी नाटक का रामकुमार वर्मा द्वारा श्रों ने निर्णय लिया कि प्रथम एकांकी "ताज- ालया में लक्ष्मीनारायण श्रम में सम्पर्क स्थापित या। वार्षिक उत्सव में न० झा जो तब उत्तर

प्रदेश पब्लिक सर्विस कमीशन के चेयरमैन थे उनको निमन्त्रित किया गया था। परस्परा के अनुसार एकांकी मंचन के दौरान नाटककार को भी मुख्य अतिथि के साथ बैठायें जाने की व्यवस्था थी। मुख्य अतिथि अपने बगल में बैठे उस नवयुवक को बार-बार कनखियों से उत्सुकतापूर्वक देखते और शायद मन में विचार कर रहे थे कि यह कौन है और यहाँ क्यों बैठा है? एकांकी प्रस्तुति के बाद एकांकीकार का डॉ० झा से परिचय कराया गया। श्री झा ने नाटक के लिए शुभकामनायें व आशीर्वाद दिया जिस पर बाबूजी ने चरण स्पर्श करते हुए कहा :

"सर, मैं वही हूँ जिसको आपने एक दिन कहा था कि तुममें ऐसे कौन से सुरखाब के पर लगे हुए हैं, जिससे विश्वविद्यालय में एडमिशन दिया जावे। सर, यह सुरखाब का एक पंख है।" मुख्य अतिथि को पुरानी बात याद हो आई। डॉ० झा ने बाबूजी को गले लगा लिया। सार्वजनिक रूप से बाबूजी के लिए यह पहली व महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी। परन्तु जीवन संघर्ष बढ़ता ही जा रहा था। गाँव में अफवाह फैल गई कि लड़का हाथ से निकल गया है। बी० ए० के बाद तो कोई पढ़ाई ही नहीं होती। मेरी अम्मा जी को बाबूजी की पढ़ाई के कारण, घर वालों के उलाहने सुनने पड़ते। बाबा को शायद इस बात की चिंता हुई कि लड़के को अपनी पत्नी पसन्द नहीं है। एक दिन बाबा ने बाबूजी से कहा कि तुम क्यों अपनी शक्ति बर्बाद कर रहे हो? तुम चाहो तो तुम्हारी दूसरी शादी की बात कहीं और की जावे। अम्माजी यह सब बातें शान्त भाव से सहतीं। उन्हें अपने पति पर विश्वास था और आस्था थी कि कभी तो जीवन इन विषम परिस्थितियों से बदलेगा। अम्माजी ने विश्वास की डोर कभी नहीं छोड़ी और बाबूजी के साथ हर परिस्थिति में सहभागिनी के रूप में रहीं। छात्रकाल के दौरान, नौकरी के दिनों अथवा नौकरी से बाहर, हर समय मेरी माँ बाबूजी के साथ सह- भागिनी व सहयोगिनी के रूप में कंधे से कंधा मिलाकर रहीं। दाम्पत्य जीवन का वह सूत्र कभी डगमगाया नहीं। बाबूजी ने भी "मित्रता" को दाम्पत्य जीवन के आड़े नहीं आने दिया।

इनके एम० ए० करने के बाद, मेरा जन्म हुआ। डी० फिल० करने के बाद मेरी बहन सरोजिनी का जन्म। हम दोनों का जन्म जलालपुर गाँव में ही हुआ। तदोपरान्त एस० एम० कालिज चंदौसी में अध्यापन कार्य किया और लेखन कार्य अबाध गति से चलता रहा। कुछ समय पश्चात् पुनः इलाहाबाद में सी० एम० पी० डिग्री कालेज में हिन्दी विभाग के अध्यक्ष के रूप में नियुक्त हो गए। यहाँ बाबूजी सन १९५५ से जुलाई १९६४ तक कार्यरत रहे।

इस बीच आकाशवाणी के डी० जी० और नाटककार जगदीशचन्द्र माथुर

और प्रसिद्ध कवि सुमित्रानन्दन पन्त के आग्रह से इन्हें लखनऊ रेडियो पर "ड्रामा प्रोड्यूसर" का पद दिया गया। गए थे तीन वर्षों के लिये, पर तीन महीनों में ही त्यागपत्र देकर लखनऊ से फिर इलाहाबाद आ गए। इलाहाबाद लौटकर "नाट्य केन्द्र, स्कूल आफ ड्रामेटिक आर्ट्स" की स्थापना की। इसी केन्द्र से नाटककार लाल की महत्वपूर्ण कृतियाँ—सुन्दर रस, दर्पन, रातरानी, रक्तकमल प्रस्तुत हुईं। नाट्य केन्द्र द्वारा बाबूजी के नाटकों के अतिरिक्त अन्य महत्वपूर्ण नाटककारों की नाट्य प्रस्तुति बाबूजी ने की। नाट्य केन्द्र द्वारा इलाहाबाद में रंगमंच को पुनर्जीवित किया। समाज के प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों को इसमें शामिल कर इसको व्यापक स्वरूप प्रदान किया। नाटकों में बाबूजी सिर्फ लेखन तक ही सीमित नहीं रहे, उन्होंने प्रस्तुतिकरण के विभिन्न उत्तरदायित्वों को निभाते हुए अभिनय एवं निर्देशन के भी कार्य किये। इसके बावजूद बाबूजी कभी भी अपने नियमित अध्ययन, अध्यापन और लेखन के कार्य के प्रति विमुख नहीं हुए। अपने छात्रों को इन्होंने सदैव प्यार दिया। प्रतिभाशाली छात्रों को उत्साहित करने में कभी पीछे नहीं रहे। नाटकों में बाबूजी की उपलब्धि के कारण मन १९६४ में ये भारत सरकार की ओर से यूरोप के कई देशों में भारत देश का प्रतिनिधित्व करने हेतु भेजे गये। बाबूजी ने सदैव अपने आत्मन एवं स्वतंत्रता को अहम माना। जो अपने आपको पसन्द नहीं, उसे त्यागने में तनिक भी संकोच नहीं किया। बाबूजी के जीवन में संघर्षपूर्ण परिस्थितियों ने उन्हें एक ओर अति संवेदनशील बनाया दूसरी ओर आत्मशोधन की अद्भुत क्षमता प्रदान की।

इनका विश्वास है कि देश में व्यक्ति हैं, लोगबाग हैं, विभिन्न जातियाँ हैं, वर्ग हैं, पर समाज नहीं है। समाज के माता, पिता, गुरु ये तीन आधार हैं, जिनसे व्यक्ति समाज बनाता है और उससे अपना व्यक्तित्व भी प्राप्त करता है। परन्तु गुलामी के कारण समाज-निर्माण के तीनों आधार कमजोर हैं। इसी कारण लोगों के जीवन में इतनी भटकन; इतनी अव्यवस्था है। इस सच्चाई के कारण बाबूजी ने अपने चरित्र के बारे में एक खास बात मुझे बताई—'जिसने स्नेहवश, थोड़ी-सी भी ममता दिखाई वहीं आकृष्ट हो गया। जिसने तनिक भी उपेक्षा की, आत्मन को ठेस पहुँचाई, उससे अलग हो गये।'

इसी आत्म सम्मान, आत्म विप्लेवण की मनोवृत्ति अभी भी इन्हें एकदम किसी की ओर आकृष्ट करती है, फिर एकदम दूर हटा देती है। एकदम प्यार, एकदम गुस्सा करना, जिसे उन्होंने शायद दूसरों से अधिक स्वयं भोगा है, इसी कारण बाबूजी के व्यवहार में क्रोध और प्यार साथ-साथ पाया जाता है। इसी से बाबूजी के जीवन में व्यावहारिकता का अभाव रहा है, जिससे इन्हें साहित्यिक

एवं गैर साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में निरन्तर संकट का सामना ही तो स्वतन्त्रता कैसी, स्वतन्त्रता बहुत ही कम लोग बाबूजी को करने में कभी कोई कमी नहीं और आश्वस्त रहे हैं। अपने आप "अपने" का क्षेत्र जितना व्यापक

संघर्ष से जूझने का अद्भुत होकर नहीं बैठे। इन्होंने अपने है। हर समय ये हर स्तर से जी जानने की जिज्ञासा रही है। जो आया, उसके विचार, उसके व्यक्तित्व का अध्ययन किया है। इनके नाटकों, उपन्यासों, इनके पात्रों एवं कथानकों का आत्म-विवेक "वन" की हिरनमयी, पतितराम हों या राजन। सब अपनी मिट्टी है कि लेखक को अपने लिखे हुए मने ध्यान से देखा है, अनुभव में श्रवण किया। लेखन और

बाबूजी ने जुलाई १९६४ में १९६६ में बाबूजी मुझे इंटर इल से दिल्ली लौट रहे थे। हम सब में फतेहपुर स्टेशन के आगे, चल आँखों पर सीधा टकराया और मुसलमान नवयुवक ने सहायता इलाज के लिए काफी समय, धिबिस्तर पर पड़े रहे। करीब ए आँखों में पट्टी बँधाये सीतापुर रामायण मुना। साथ ही इस अ साहित्य आखिर क्यों और किसलि क्यों भटक रहे हैं? किस तलाश वटी दुनिया का शिकार है, इस लाल—२

एवं गैर साहित्यिक दोनों क्षेत्रों में सदा संकट का सामना करना पड़ा है। पर, निरन्तर संकट का सामना ही इन्होंने जीवन का लक्षण माना है। संकट नहीं, तो स्वतन्त्रता कैसी, स्वतन्त्रता नहीं तो कर्म कैसा, सृजन कैसा, इस कसौटी पर बहुत ही कम लोग बाबूजी को जान पाते हैं। पर इन्हें अपने को पहचानने, प्राप्त करने में कभी कोई कमी नहीं आई है। इसी से यह सदा इतने आत्म विश्वासी और आश्वस्त रहे हैं। अपने आपसे बड़ा और कोई मित्र इनका नहीं है। पर इनके "अपने" का क्षेत्र जितना व्यापक है, उतना ही गहरा है।

संचर्ष से जूझने का अद्भुत धैर्य, क्षमता होने के कारण बाबूजी कभी संतुष्ट होकर नहीं बैठे। इन्होंने अपने जीवन में प्रत्येक पल का सदुपयोग करना जाना है। हर समय ये हर स्तर से जीवन्त रहते हैं। हमेशा अच्छे से अच्छा पढ़ने की, जानने की जिज्ञासा रही है। जो भी व्यक्ति, किसी भी वर्ग का, इनके सम्पर्क में आया, उसके विचार, उसके व्यक्तित्व को बड़ी नारीकी से समझने का प्रयास किया है। इनके नाटकों, उपन्यास, कहानी के पात्र जीवन में मिले हुए लोग हैं। इनके पात्रों एवं कथानकों का आधार वही जीवन्त पात्र है, चाहे वह "मन कुन्दावन" की हिरनमयी, पतितराम, सुबन्धु हो या "मिस्टर अभिमन्यु" के आत्मन हों या राजन। सब अपनी मिट्टी के जीवन्त पात्र हैं। बाबूजी की धारणा रही है कि लेखक को अपने लिखे हुए शब्दों के प्रति सदैव ईमानदार रहना चाहिए। मैंने ध्यान से देखा है, अनुभव किया है, बाबूजी ने जो भी लिखा, वही जिन्दगी में व्यवहार किया। लेखन और व्यवहार में अलग-अलग मानदण्ड नहीं बनाये।

बाबूजी ने जुलाई १९६४ में इलाहाबाद छोड़ा और दिल्ली आ गये। जुलाई १९६६ में बाबूजी मुझे इंटर इलाहाबाद में प्रवेश दिलाकर वापस रात की गाड़ी से दिल्ली लौट रहे थे। हम सब उन्हें गाड़ी पर छोड़कर वापस लौट आये। रास्ते में फतेहपुर स्टेशन के आगे, चलती ट्रेन पर किसी ने पत्थर फेंका, जो इनकी आँखों पर सीधा टकराया और ये बेहोश हो गिर पड़े। ट्रेन में यात्रा कर रहे एक मुसलमान नवयुवक ने सहायता की और किसी प्रकार बाबूजी को घर पहुँचाया। इलाज के लिए काफी समय, धन व परिश्रम करना पड़ा। लगभग एक वर्ष ये बिस्तर पर पड़े रहे। करीब एक वर्ष, आँख की रोशनी वापस आने में लगे। आँखों में पट्टी बँधायी सीतापुर अस्पताल में पड़े इन्होंने अम्माजी से पूरा बाल्मिकी रामायण सुना। साथ ही इस अवधि में आत्मचिन्तन किया। पद, सम्मान, रिश्ते, साहित्य आखिर क्यों और किसलिये। अपन से संवाद का क्रम आरम्भ हुआ। सब क्यों भटक रहे हैं? किस तलाश में हैं? इन्हें महसूस हुआ कि व्यक्ति मात्र दिखावटी दुनिया का शिकार है, इसकी असलियत गायब है। अपनी असलियत को लाल—२

जानना ही व्यक्ति का मनुष्य होना है। व्यक्ति से व्यक्ति का रिश्ता नहीं हो सकता। मनुष्य से मनुष्य का असली रिश्ता-सम्बन्ध होता है। इस विषय पर इन्होंने खूब लिखा है। इनका कहना है कि जीवन के मायने है यह ढूँढ़ना और पाना कि इन सबमें इन्सानी कितना है। बाबूजी की एक विशिष्टता रही है कि इनकी जिन्दगी में जितने व्यक्ति सम्पर्क में आये, सबको जानने समझने का प्रयास किया और अपने स्तर से जो कुछ भी सहायता बन पड़ी भरसक करने का प्रयास किया। किसी ने कुछ लेने की अपेक्षा उसे देने का प्रयास ही किया है। लेने पाने से आगे देने और करने पर बहुत बल दिया है।

किसी को नौकरी में सहायता करनी हो या किसी के व्यक्तिगत जीवन में आये उथल-पुथल से उत्पन्न समस्या का निराकरण करना हो, उसके लिए चाहे जितनी मुसीबतें उठानी पड़ी हों, सदैव तत्पर रहे हैं। इसी काल में बाबूजी ने अपने आत्म-चिंतन द्वारा यह महसूस किया है कि जो व्यक्ति जितना स्वतन्त्र होगा, उतना ही कर्म कर सकता है और अपने आपको वही जान सकता है जो अपनी भूमि से माता-पिता, विद्या-ज्ञान, परम्परा, देश, अपनी संस्कृति से जीवन्त ढङ्ग से जुड़ा हो। जो नहीं जुड़ा है वह अपूर्ण है। अपनी भूमि से जुड़े रहने की प्रक्रिया बाबूजी के जीवन का आधार है। पश्चिम के पराए रंगमञ्च से अपनी रंगभूमि पर आने की यही चेतना है। अपनी रचनाओं में इसी "अपनेपन" को उतारने का प्रयास इन्होंने सदा किया है। महानगर में रहकर अपनी भूमि को कभी नहीं भूले। गाँव से लेकर देश तक के वातावरण में स्वयं को अनवरत ढालने का प्रयास किया है। अब भी जब गाँव जाना होता है तो गाँव के लोगों को इकट्ठा करके नाच-गाने, किस्से-कहानियाँ बच्चों की तरह सुनने-देखने की सदा चाहत रही है।

बाबूजी का यह भी विश्वास है कि हर व्यक्ति अपने आप में विशिष्ट है और हर व्यक्ति से कुछ न कुछ जाना समझा जा सकता है। जीवन में लगातार संघर्ष करने के कारण इन्हें संघर्षरत व्यक्तियों से एक विशेष लगाव रहा है। जीवन में ऐसे कई भौके आये जब इन्हें अपने विश्वस्त लोगों द्वारा छला गया। जिसे बहुत प्यार एवं स्नेह दिया, उसके द्वारा भी यदि बाद में इनका उपहास किया गया, तब भी सहर्ष उसको स्वीकार किया और उसको प्यार मानकर कबूल कर लिया। "नाट्य केन्द्र" इलाहाबाद के दिनों के एक सहयोगी अपनी आर्थिक स्थिति से तंग आकर इलाहाबाद छोड़कर बाबूजी के पास दिल्ली आये। बाबूजी ने उनको ढाढ़स बँधाया और काफी दिनों तक अपने साथ रखने के पश्चात् अपने प्रयासों से उन्हें उपयुक्त स्थान पर नौकरी दिलाई व घर चलाने हेतु अपने घर से आवश्यक व्यवस्थायें भी कीं। बाबूजी की उपयोगिता समाप्त हो जाने के पश्चात् इन्होंने

मेरे बाबूजी

बहुत दिन तक अपना हाल-कमरे में भेजा तो पता चला कर वापस इलाहाबाद चले गए चान नहीं हैं। बाबूजी ने कहा बुराई क्या है? ऐसी घटनायें हैं। बाबूजी ने अपने व्यवहार प्रिय लोगों से भी धोखा खाने का संवेदनशील हृदय दूसरों के नाटक, उपन्यास आदि देखते-प्य व्यक्ति के अच्छे गुणों अथवा उस सदैव उन्मुक्त भाव से की है अ कोण सदा जिन्दगी के प्रति आगे बाबूजी ने भारतीय, पारि मदन, अपनी लेखनी द्वारा किये धाराओं को समझने की अनवरत और देश व समाज से जुड़ने की उत्पन्न राजनीतिक स्थिति से स्व ने देश भर में सुदूर की यात्राएँ काल में जयप्रकाश नारायण के जा रहे जे० पी० आन्दोलन में पर सर्वप्रथम जीवनी लिखी, जो शिष्ट हुई। जयप्रकाश नारायण नारायण पर लिखी हुई जीवनी जिन्दगी उनके सत्संगों तथा उन स्तर पर जुड़े रहने के कारण जी विरुद्ध रहे हैं। इसी कारण इस आन्दोलन की आवश्यकता को स किया। "एमरजेन्सी" के दौरान कार्यों पर अप्रत्यक्ष रूप से पाबन्दी स्थिति बनी रही।

उस संकटकाल में भी अम्म

क्त का रिश्ता नहीं हो
ता है। इस विषय पर
गयने है यह दुँडुना और
विशिष्टता रही है कि
नने समझने का प्रयास
भरसक करने का प्रयास
ही किया है। लेने पाने

के व्यक्तिगत जीवन में
हो, उसके लिए चाहे
इसी काल में बाबूजी ने
जितना स्वतन्त्र होगा,
न सकता है जो अपनी
संस्कृति से जीवन्त ढङ्ग
उड़े रहने की प्रक्रिया
से अपनी रंगभूमि पर
पोषण" को उतारने का
को कभी नहीं भूले।
डालने का प्रयास किया
इकट्ठा करके नाच-
चाहत रही है।

प में विशिष्ट है और
वन में लगातार संघर्ष
गब रहा है। जीवन में
सा गया। जिसे बहुत
उपहास किया गया,
कर कबूल कर लिया।
आर्थिक स्थिति से तंग
बाबूजी ने उनको ढाड़स
अपने प्रयासों से उन्हें
ने घर से आवश्यक
ने के पश्चात् उन्होंने

बहुत दिन तक अपना हाल-चाल नहीं दिया। बाबूजी ने मुझे एक दिन उनके कमरे में भेजा तो पता चला कि वे बाबूजी द्वारा दिये गये सारे सामान को बेच-कर वापस इलाहाबाद चले गए। घर में सबने कहा कि आपको आदमी की पहचान नहीं है। बाबूजी ने कहा कि मैंने अपना स्वभाव जिया, उसने अपना, इसमें बुराई क्या है? ऐसी घटनायें कई बार कई व्यक्तियों द्वारा इनके जीवन में घटी हैं। बाबूजी ने अपने व्यवहार में कभी कोई बदलाव लाने का प्रयास नहीं किया। प्रिय लोगों से भी मोखा खाने के बावजूद कभी उनका बुरा नहीं चाहा। बाबूजी का संवेदनशील हृदय दूसरों के दुखों में सदैव द्रवित हुआ है। मार्मिक फिल्म अथवा नाटक, उपन्यास आदि देखते-पढ़ते उनका हृदय सहज ही छलछला जाता है। हर व्यक्ति के अच्छे गुणों अथवा उसके द्वारा किये गए अच्छे कार्यों की प्रशंसा उन्होंने सदैव उन्मुक्त भाव से की है और सदा प्रोत्साहित किया है। बाबूजी का दृष्टि-कोण सदा जिन्दगी के प्रति आस्थावादी और आशावादी रहा है।

बाबूजी ने भारतीय, पारिवारिक, सामाजिक, जीवन के पहलुओं का चिंतन, मनन, अपनी लेखनी द्वारा किया है। सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक विचार-धाराओं को समझने की अनवरत प्रक्रिया रही है। अपने इसी संवेदनशील चिंत और देश व समाज से जुड़ने की प्रवृत्ति के कारण बाबूजी सातवें दशक में देश में उत्पन्न राजनीतिक स्थिति से स्वयं को अलग नहीं रख पाये। इस काल में बाबूजी ने देश भर में सुदूर की यात्राएँ कीं। विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों से मिले। इस काल में जयप्रकाश नारायण के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके द्वारा चलाये जा रहे जे० पी० आन्दोलन में सक्रिय रहे। सन १९७४ में जयप्रकाश नारायण पर सर्वप्रथम जीवनी लिखी, जो आपातकाल से लगभग आठ दस माह पूर्व प्रकाशित हुई। जयप्रकाश नारायण से उनका बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध रहा। जयप्रकाश नारायण पर लिखी हुई जीवनी, वस्तुतः जयप्रकाश नारायण के साथ जी हुई जिन्दगी उनके सत्संगों तथा उनके द्वारा चलाये जा रहे आन्दोलन में व्यक्तिगत स्तर पर जुड़े रहने के कारण जीवन्त हुई। बाबूजी सदा सड़ी-गली व्यवस्था के विरुद्ध रहे हैं। इसी कारण इस दौर में जयप्रकाश नारायण द्वारा चलाये जा रहे आन्दोलन की आवश्यकता को समझते हुए कुव्यवस्था के विरुद्ध जूझने का प्रयास किया। "एमरजेन्सी" के दौरान बाबूजी की रचनाओं के प्रकाशन तथा अन्य कार्यों पर अप्रत्यक्ष रूप से पाबन्दी रही, जिससे पुनः इनकी जिन्दगी में संघर्ष की स्थिति बनी रही।

उस संकटकाल में भी अम्माजी ने बाबूजी को सम्बल दिया। एक मूक

समर्थक की तरह उनकी सहभागिनी रही। अम्माजी मानसिक रूप से यहाँ तक तैयार हो गई कि यदि उन्हें किसी संकटबश अकेले बच्चों सहित पुनः गाँव में जाकर रहना पड़े तो वे चली जाएँगी। जे० पी० आन्दोलन के दौरान बाबूजी आशान्वित थे कि देश की समग्र स्थिति को सुधारने के लिए यह आन्दोलन बहुत उपयोगी होगा। १९७७ में आपातकालीन स्थिति समाप्त होने के पश्चात् जनता शासन के दौरान वे पुनः सत्ता की दलदल से अलग रहे। यदि वे चाहते तो इस दौर में उन्हें लाभ का पद आसानी से प्राप्त हो जाता, परन्तु बाबूजी को तो राजनीति अथवा लाभ के पद से कभी कोई सरोकार नहीं रहा है। बाबूजी फिर से अपने "स्वधर्म" में पूर्ववत् जुट गए। इन्होंने अपनी रचनात्मक यात्रा में लगभग हर विधा में खूब लिखा है, परन्तु सुनियोजित ढंग से ख्याति अथवा सम्मान प्राप्त करने का कभी कोई प्रयास नहीं किया है। कटु से कटु आलोचना, प्रतिक्रियायें, उनके रचनात्मक कर्म को रोकने में असफल रही हैं।

बाबूजी अब भी एक साधक की तरह सदा अपने रचनात्मक कर्म में ही लगे रहते हैं। सबेरे ही अपने अध्ययन, लेखक कक्ष में चले जाना और चुपचाप कर्मरत रहना, उनका स्वभाव है। कृतिपूर्ण करने या प्रकाशन के बाद पुनः परमाजित करने में इन्हें कोई संकोच नहीं होता। अपनी कृति को एक जीवंत जैविक वस्तु मानते हैं। इनका जीवन सही अर्थों में संयमी जीवन है। अपनी घुन के पक्के होने के कारण किसी कार्य का जो भी बीड़ा उठा लेते हैं, उसे पूर्ण करते हैं। वस्तुतः इनका आत्मबल, आत्मविश्वास ही उनके कर्म के प्रति उन्हें सदा उत्साहित किए रहता है। घर में वे पूर्ण गृहस्थ रूप में ही रहते हैं। अपनी साहित्यिक गतिविधियों के बावजूद इन्होंने परिवार को कभी गौण नहीं समझा। दुर्गा भवानी माँ के परम भक्त हैं। और अपनी माँ मोती मूँगा के लिए मोती मूँगे की अंगूठी सदैव पहनते हैं। जीवन में जो कुछ भी अर्जित किया है, उसे पुरखों के आशीर्वाद और ईश्वर की कृपा समझा है।

बाबूजी ४ मार्च को ६० वर्ष पूर्ण करने जा रहे हैं। अब तक बाबूजी ने खूब लिखा-पढ़ा है। उनका लेखन और जीवन, एक साथ अबाध गति से बहती हुई धारा के समान है, जो अवरोधों के पश्चात् अपनी स्वाभाविक गति से बढ़ना जानती है। वह जल समी समुदाय के लिए है जिनका उद्गम इसी भूमि, इसी मिट्टी में यहीं के लिए है।

बाबूजी अपनी बनावट और प्रकृति के सदा श्रद्धा तत्त्वनिष्ठ हैं। विश्वास तत्व उनका परम तत्व है। श्रद्धेय-विश्वासी, ये मानते हैं कि स्वधर्म में ही मनुष्य का श्रेष्ठ परिचय मिलता है। धर्म का मनुष्य पर जिस मात्रा में अधिकार होता

है, उसी के अनुसार मनुष्य है। ऐसा हर कर्म सृजन होता होता है।

मेरे बाबूजी का यह विश्वास देगा, इसी विश्वास के साथ इ करता हूँ।

मेरे बाबूजी

क रूप से यहाँ तक
सहित पुनः गाँव में
के दौरान बाबूजी
यह आन्दोलन बहुत
के पश्चात जनता
द वे चाहते तो इस
न्तु बाबूजी को तो
है। बाबूजी फिर
क यात्रा में लगभग
वषवा सम्मान प्राप्त
चना, प्रतिक्रियायें,

सक कर्म में ही लगे
ौर नुपचाप कर्मरत
द पुनः परमाजित
जीवंत जैविक वस्तु
अपनी धुन के पक्के
उसे पूर्ण करते हैं।
न्हें सदा उत्साहित
अपनी साहित्यिक
मशा। दुर्गा भवानी
ती मूँगे की अंगूठी
रखों के आशीर्वाद

क बाबूजी ने खूब
गति से बहती हुई
क गति से बढ़ना
व इसी भूमि, इसी

ष्ठ है। विश्वास
वधर्म में ही मनुष्य
में अधिकार होता

मेरे बाबूजी

२१

हैं, उसी के अनुसार मनुष्य अपने आप को पहचानता है और कर्मरत होता है। ऐसा हर कर्म सृजन होता है। क्योंकि उस कर्म में मनुष्य स्वतंत्र और मुक्त होता है।

मेरे बाबूजी का यह विश्वास सिर्फ मुझे ही नहीं, समाज और देश को प्रेरणा देगा, इसी विश्वास के साथ इनकी पष्ठिपूर्ति पर इनके साथ सबको विनम्र प्रणाम करता हूँ।

मेरे लिए कहानी बुनने वाले

श्रीमती सरोजिनी आर्य

समय कैसे गुजर गया पता ही नहीं चला, देखते-देखते दस साल गुजर गए। लगता है कि अभी कल ही की तो बात है जब बाबूजी पचास साल के हुए थे तब भी मैंने अपने ही हाथों से बाबूजी के बारे में लिखा था। समय बीता, मैं बदली, सब बदला, नहीं बदले तो बाबूजी नहीं बदले। क्यों नहीं बदले, जब उसे सोचती हूँ तो एक बात मेरी समझ में आती है। बाबूजी को, मुझे लगता है, अपने पिता-जी (श्री शिवसेवकलाल जिन्हें हम बाबा कहते थे।) से अभाव की एक बेचैनी विरासत में मिली थी, जिसने बाबू को लेखक बनाया। वह अभाव हर ओर से था—धन का, वैभव का, पद और सम्मान का। मुझे जब से होश है, तब से देखा है, बाबू को किसी भी किस्म का अभाव पसंद नहीं है। अभाव के खिलाफ इस तरह लड़ते हैं जैसे वह कोई शत्रु हों। खासकर बुद्धि और गुण के अभाव के खिलाफ वह सदा रहते हैं। बराबर कहते हैं, वह व्यक्ति कैसा जिसमें कोई विशेष गुण, प्रतिभा, योग्यता न हो। वह मनुष्य क्या, जो गरीब हों, कजूस हों, दरिद्रता से जीता हो।

मुझे अपने साथ लेकर यह कहां-कहाँ नहीं गए। मुझे ऊँची से ऊँची शिक्षा दिलाना चाहा, मुझे संगीत, नृत्य, अभिनय के क्षेत्र में—खासकर संगीत में किसी पद पर ले जाने के लिए कितने प्रयत्न किए। इनका यह प्रयत्न अब तक नहीं रुका। मतलब, हार क्या चीज होती है, निराशा क्या है, थकान क्या होती है, यह वह नहीं जानते, उन्हीं को हम बाबूजी बुलाते हैं।

सोचती हूँ कि विरासत में मिले उस अभाव से निपटने के दो ही तों रास्ते थे—जहाँ अभाव है, जो अभाव का गाँव है, घर है, उससे कट जाना, उसे भूल जाना, उससे हर तरह के रिश्ते काट लेना। दूसरा रास्ता उस अभाव को भाव में बदलने का जो तप है, साधना है, वहीं हैं मेरे बाबूजी। अपने व्यक्तिगत जीवन, से लेकर लेखन, सृजन, और आचरण में यह वही अविचल साधक हैं, जिनको मैंने कभी भी किसी अभाव में नहीं देखा, इनकी स्थिति चाहे जैसी रही हो, इसी

मेरे लिए कहानी बुनने वाले

का फल है कि अपनी इतनी भावों, अनुभवों को निचोड़ सके मिले।

इतने वर्ष, जब से मैं उनसे मेरी आँखों के सामने होते। तब मुझे बाबू ने समझाया—देख पिता का घर था, माँ का घर, के साथ का घर है। तुम एक पहला घर तुम्हारी यात्रा की घर को अपने जीवन की तरह, जीवन में रस आएगा। जो बी में रहो...।

इन दस सालों में बाबूजी पर मन और दिमाग से हम स में रहना, जीना, यह कोई साध गुरुमंत्र मैंने पाया है।

पर वर्तमान में रहना कि आसान है? और ऐसी लड़की मिली हो। पिता से वे भाव वि राह में मिले, उससे प्यार से वि

इस राह पर चलकर मुझे श्लेष, पर बाबूजी से एक बात वह बात—स्त्री जीवन के अन्त भावुकता तो अभाव का ही फल का एक निबन्ध मुझे पढ़ाया और यह मनुष्य का, हर प्राणी का रखना ही तो मनुष्य की मनुष्य

पर मैं क्या कहूँ, पिता लोभ का एक उदाहरण दूँ।

हमारे भइया आनन्दवर्धन अब मुझसे ज्यादा भाभी को ससुराल के सभी लोगों से अक्

का फल है कि अपनी इतनी कहानियों उपन्यासों, और नाटकों में यह अपने भावों, अनुभवों को निचोड़ सके, जो इन्हें अपने संघर्षमय जीवन से गुजरते हुए मिले।

इतने वर्ष, जब से मैं उनसे दूर अपने घर में हूँ, इस स्थिति में यह हमेशा मेरी आँखों के सामने होते। जब भी मुझे इनका अभाव खटकता मैं रो पड़ती। तब मुझे बाबू ने समझाया—देखो मुझे, तुम्हारा घर संसार यही है। वह तो पिता का घर था, माँ का घर, भाई का घर। तुम्हारा घर तो तुम्हारे पति, बच्चों, के साथ का घर है। तुम एक घर से निकलकर अब अपने घर पहुँच गई हो। पहला घर तुम्हारी यात्रा की तैयारी का था, अब तुम्हारा घर तुम्हीं हो। अपने घर को अपने जीवन की तरह, जितना साफ सुथरा रखोगी, उतना ही तुम्हारे जीवन में रस आएगा। जो बीत गया उसमें क्यों फँसी हो, वह तो गया, वर्तमान में रहो...।

इन दस सालों में बाबूजी ने मुझे ब्याह कर उस घर से तो दूर कर दिया पर मन और दिमाग से हम सब अभी भी एक साथ हैं। हाँ, वर्तमान में। वर्तमान में रहना, जीना, यह कोई साधारण बात नहीं है। इन सालों में बाबूजी से यही गुरुमंत्र मैंने पाया है।

पर वर्तमान में रहना किसी पिता की दुसारी लड़की के लिए क्या इतना आसान है? और ऐसी लड़की के लिए, जिसे अपने पिता से विरासत में भावुकता मिली हो। पिता से वे भाव विरासत में मिले हों कि जो भी परिचित-अपरिचित राह में मिले, उससे प्यार से मिलो।

इस राह पर चलकर मुझे कष्ट तो अनेक मिले, अपमान और दुख भी खूब झेले, पर बाबूजी से एक बात मिली, जिसके सामने सब दुख-अपमान बह गए। वह बात—स्त्री जीवन के अन्तर्बिरोध की समझदारी। उन्होंने दिखाया, देखो बेटा, भावुकता तो अभाव का ही फल है। भावुकता नहीं, पवित्रता—रवीन्द्र नाथ टैगोर का एक निबन्ध मुझे पढ़ाया और समझाया कि दूसरों से हमें प्यार का भाव मिले, यह मनुष्य का, हर प्राणी का स्वाभाविक लोभ होता है, पर लोभ पर काबू रखना ही तो मनुष्य की मनुष्यता है।

पर मैं क्या कहूँ, पिता की तरह प्यार का वह लोभ बेटों में भी है। उस लोभ का एक उदाहरण दूँ।

हमारे भइया आनन्दवर्धन की शादी हुई तो मुझे कुछ ऐसा लगा कि बाबूजी अब मुझसे ज्यादा भाभी को प्यार करते हैं। ऐसी स्थिति में मेरे पति, सास और ससुराल के सभी लोगों से अक्सर मैंने सुना कि देखो, लाल साहब अपनी बहू को

साल गुज़र गए।
माल के हुए थे तब
बीता, मैं बदली,
जब उसे सोचती
है, अपने पिता-
की एक बेचैनी
भाव हर ओर से
होश है, तब से
अभाव के खिलाफ
गुण के अभाव के
जसमें कोई विशेष
हूँस हों, दरिद्रता

से ऊँची शिक्षा
र संगीत में किसी
तन अब तक नहीं
क्या होती है, यह

हो ही तो रास्ते
जाना, उसे भूल
अभाव को भाव
व्यक्तिगत जीवन,
घक है, जिनको
सी रही हो, इसी

बेटी की तरह चाहते हैं। मैंने सोचा, कि जब बहू बेटी हो गई तो मैं कहाँ गई ? जब एक दिन मैंने बाबूजी से पूछा तो उन्होंने कहा बेटी तुम्हीं पहले मेरी प्रथम बेटी हो और रहोगी। जैसा प्यार तुम वहाँ पा रही हो या चाहती हो वही तो मैं तुम्हारी भाभी को दे रहा हूँ। तुम्हारा अभी भी वही स्थान है। फर्क यह है कि पहले तुम यहाँ अपने माँ-बाप के घर रहती थीं, अब तुम यहाँ एक प्यारी श्रेष्ठ मेहमान हो, ऐसी मेहमान, जो हमसे पैदा हुई, बड़ी, और सुखपूर्वक किसी सुपान्न को दान दे दी गई। यही स्थिति तो तुम्हारी भाभी अनुपमा की भी है। जैसे वह अपने माँ-बाप के घर से अपने पति के घर आयी है, वैसे ही तो तुम गयी हो, अपने घर। 'घर किसे कहते हैं ? घर माने जहाँ प्यार और सुरक्षा मिले। एक प्यार-सुरक्षा पति से मिलती है, दूसरी सुरक्षा प्यार मिलता है—माँ-बाप से। इसीलिए तो भारतीय जीवन परम्परा में हर बेटी गौरा-पार्वती है।'

इस तरह बाबू ने अपनी सांस्कृतिक चेतना में मुझे हमेशा सच्चाई के करीब रखा। इसलिए मैं अब अपने घर एक बहुत बड़े और उनके प्यारे अतिथि के रूप में ही जाती हूँ और खूब सारा आराम और प्यार लेकर अपने घर वापस आ जाती हूँ।

इन दस सालों में बाबूजी दो नाटियों अभिनय, अभय के प्यारे नाना हैं। ये इन्हें खूब प्यार करते हैं। खूब कहानियाँ सुनते हैं और खूब खेलते हैं। अब लगता है बाबूजी—बाबूजी से ज्यादा नाटियों के नाना, पोते के बाबा, बहू और दामाद के ज्यादा प्यारे हो गए हैं। तो अब समझ में आता है कि वर्तमान में रहना और जीना क्या है। बाबूजी की वह बात—'वर्तमान में जैसी स्थिति है, उसी को अपने हित में करने की कोशिश, इतना ही तो तुम्हारे हाथ में है'—अब कुछ-कुछ पकड़ में आती है।

अपनी व्यस्त जिन्दगी में वे कितने भी व्यस्त क्यों न हों, पर लगातार अपने बेटे और बेटी की मुझ लेते रहते हैं। मैं आज भी उनसे पहले की तरह रूठती हूँ या कुछ माँगती हूँ तो वे खुशी से उसे पूरा करते हैं। बाबूजी मेरी जिन्दगी के हर तरह के उतार-चढ़ाव में मेरे साथ रहे हैं। हर तरह से मुझे सहयोग दिया है। वो मेरे पिता तो हैं ही, उसके साथ एक अच्छे दोस्त भी बन गए हैं मेरे। जिनसे मैं जिन्दगी की हर बात कहती, पूछती और सुनती, समझती हूँ।

उनका हम सब की चिन्ता और प्यार रहता है। इसी प्यार की वजह से बड़े भाई आनन्दवर्धन जो अब एक सरकारी ओहदे पर हैं, अपने पिता को भरपूर प्यार, मान-सम्मान देते हैं। दूसरी ओर बड़े भाई भाभी का इतना सम्मान देना

मेरे लिए कहानी बुनने

भी बाबूजी का सहज ब

भी भैया अक्सर उनसे

इस मिलन-जुलन

है, जो बाकायदा प्रयत्न

अक्सर याद दिलाते रहते

न ढीला छोड़ना चाहिए

'जीवन बीन मधुर ना

बाबूजी के जीवन

है, जिसे देखे-समझे कि

बीस वर्ष पहले, हम

कोई रास्ता किसी को

बैठाकर बोले, 'देखो

उसमें उसका क्या कस

है ? समझो अजय हम

हमने उसे इस रूप में

अपना दोस्त मानते हैं

कभी तो सोचते हैं कि

से है। अजय के साथ

सैर के लिए नियमित

हल्का नाश्ता, और

आराम, फिर काम, प्र

अजय के साथ बाबूजी

बाबूजी के जीवन

रूप से हर जगह मिल

मात्र वस्तु है। जिस

जिस समय जो भी क

अम्मा और बा

मानव सम्बन्धों की स

इतनी महत्वपूर्ण है,

विश्वास कि जहाँ तुल

भी बाबूजी का सहज बड़प्पन ही मेरी समझ में आता है। दूर रहने के बावजूद भी भैया अक्सर उनसे मिलने परिवार सहित आते हैं और कभी बाबूजी जाते हैं।

इस मिलन-जुलन के भीतर से एक ऐसे सुगन्धित रिश्ते का भान होता है, जो बाकायदा प्रयत्न से कमाया और अर्जित किया गया है। बाबूजी हमें अक्सर याद दिलाते रहते हैं कि सम्बन्ध माने बराबर बन्धन (सम बन्ध) इसे कभी न ढीला छोड़ना चाहिए, न कभी कसना चाहिए। वह गति का एक टुकड़ा— 'जीवन बीन मधुर ना बाजे, बीन के ढीले पड़ गए तार' गुनगुनाते हैं।

बाबूजी के जीवन में हमारा दूसरा छोटा भाई—अजय लाल एक ऐसा प्रसंग है, जिसे देखे-समझे बिना कोई इनके जीवन को नहीं समझ सकता। आज से बीस वर्ष पहले, हम सब अजय भाई को लेकर काफी परेशान और चिंतित थे। कोई रास्ता किसी को नहीं सुझ रहा था। एक दिन सुबह बाबूजी हमें अपने पास बैठकर बोले, 'देखो भाई, अजय एक इंसान है, वह चाहे जैसा है। जो है वह, उसमें उसका क्या कसूर है। हम सब क्या दूसरों की इच्छा, आशा के अनुरूप हैं? समझो अजय हमारे घर कहीं से आया हुआ मेहमान है।' उस दिन से जब हमने उसे इस रूप में देखना शुरू किया तो सारी स्थिति ही बदल गई। हम उसे अपना दोस्त मानते हैं। उसकी किसी बात से कभी झुंझलाहट नहीं होती। कभी-कभी तो सोचते हैं कि बाबूजी में इतना आश्चर्यजनक उत्साह और साहस कहाँ से है। अजय के साथ आज भी बाबूजी सुबह उठकर बेटे को अपने साथ लेकर सैर के लिए नियमित जाते हैं। सुबह उठना, सैर करना, नहाना, पूजा करना, हल्का नाश्ता, और फिर पढ़ना, लिखना, वही फिर दोपहर का खाना, कुछ आराम, फिर काम, शाम की सैर सब के बीच अजय उनके साथ। या यों कहिए अजय के साथ बाबूजी।

बाबूजी के जीवन और आचरण, लेखन और चिंतन में जो एक बात समान रूप से हर जगह मिलती है, वह है उनका यह विश्वास कि जीवन सत्य ही एकमात्र वस्तु है। जिस पर हमेशा स्थिर—टढ़ रहने की कोशिश करनी चाहिए। जिस समय जो भी काम हो, वही है, उस समय वही है वह व्यक्ति।

अम्मा और बाबूजी के बीच जो संबंध है, उसे देखना—परखना, मान मानव सम्बन्धों की सहजता पाना है। जैसी भी मेरी माँ है, वही बाबूजी के लिए इतनी महत्वपूर्ण है, जितनी कि वह स्वयं अपने आप के लिए। बाबूजी का यह विश्वास कि जहाँ तुलना है, वहाँ दानता है, उनके सम्बन्धों पर भरा पूरा उतरता

है। अम्मा और बाबूजी के जीवन का बहुत सुन्दर तालमेल है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। आज भी बाबूजी को माँ के लिए कुछ भी करम करने में कोई हिचक नहीं होती। कभी-कभी मुझे बाबूजी से एक शिकायत रहती है, वो कभी भी नहीं बताते कि बेटी, तुम्हारी माँ बीमार है या एक-दो दिन के लिए कहीं गई है, तो वो मुझे अपनी सेवा का मौका दें। अपने आप अपनी पसंद का खाना खुद बनाके खा लेते हैं। समय पड़ने पर अपने कपड़े धोने से लेकर घर का सारा काम काज स्वयं कर लेते हैं। संयोग से अगर मैं कभी पहुँच कर उनसे झगड़ा करती हूँ तो वह बस हँस ही देते हैं।

आज भी बाबूजी भावुक हैं। मुझे याद है आज भी चाहे कितने व्यस्त हों, कितने भी लोगों में घिरे हों, मैंने अक्सर उन्हें फोन करके (मुझे आपकी याद आ रही है) तुरंत बुलाया है। और वह हमेशा आए हैं। थोड़ी देर के बाद जब मैंने उनसे पूछा है कि बाबूजी मैंने आपको ऐसे ही तंग किया तो वे हमेशा कहते हैं, नहीं बेटी, यह तुम्हारा अधिकार है। दूसरे के अधिकार को अपना सुख मानना, और उसे पूरे उत्साह से पूरा करना ऐसे पुरुष विरल है।

बाबूजी सपने में भी मुझे उदास देखकर परेशान हो जाते हैं। मैं हमेशा चाहूँगी कि मैं हमेशा उनके लिए उनकी प्रिय रहूँ। क्योंकि मुझे उनकी हमेशा एक चाह और जरूरत रहेगी। उनकी षष्ठिपूर्ति के अवसर पर मैं ईश्वर से यही प्रार्थना करती हूँ कि मेरे जीवन के सभी पुण्यकर्मों के बदले मेरे बाबूजी को अच्छा स्वास्थ्य और लम्बी आयु दें।

बचपन से लेकर अब तक मैंने बाबूजी को साहित्य के प्रति बहुत ही निष्ठा से काम करते हुए पाया है। छुटपन में हम गली के बच्चों को इकट्ठा कर बाबूजी के पास बैठते और रोज एक नई कहानी सुनते थे। शर्त यही रहती, कहानी दुहराई न जाए। पता नहीं कितने साल रोज यही होता था। एक दिन मैंने पूछा, बाबूजी आप रोज एक नई कहानी कैसे सुनाते हैं? तब बाबूजी ने कहा कि तुम लोगों के साथ मैं रोज एक नई कहानी रचता-बुनता हूँ।

एक बार मैंने, जब उत्तर दिया नाटक लिख बुद्धि के रंग पर। मैंने मैंने रामायण से लिया, से तो बचा लेता है। प

बाबू अजब निष्ठाव हैं जैसे। यही वजह है, नहीं करते। सब कुछ स में उन्हें कभी किसी की किसी पर अन्याय नहीं कि भी सख्त क्यों न हो मुँह किसी की भी कोई बात कहा और वहीं छोड़ भी जीते देखा है। स्वाभिमान के निरंतर अनुसंधान, लगायी है। इसी केन्द्र यही स्वाभिमान उनकी सा तेज है।

मुझे सदा गर्व होता वृन्दावन" से यह अंश उ

"अपना व्यक्ति तो सुबन्धु ने कोई उत्त तब हिरन बोली,

षिका झेली जाती है, प्र सुबन्धु क्रोध से ल काँपते स्वर में बोला, " देकर या धर्म-दर्शन की हिरनमयी ने सुबन्धु देवता कौल बना रहा है

सुबन्धु बोला, "तुम मतलब है...तुम...औरत और अभिनेत्री...।"

एक बार मैंने, जब मैं बी० ए० में थी, पूछा—आप नाटक कैसे लिखते हैं ? उत्तर दिया नाटक लिखता नहीं, रचता हूँ। पहले जमीन पर, फिर हृदय में फिर बुद्धि के रंग पर। मैंने कहा, मैं समझी नहीं, तो वह बोले, नाटक का गुस्मंत्र मैंने रामायण से लिया, मनुष्य प्रेम नामक सीता को अनेकानेक राक्षसों के हाथ से तो बचा लेता है। पर अपने ही घर में सीता को नहीं बचा पाता।

बाबू अजब निष्ठावान लेखक है। वह जब भी कुछ लिखते हैं, वही हो जाते हैं जैसे। यही बजह है, एक लेखक के रूप में वह किसी भी तरह का समझौता नहीं करते। सब कुछ सोचकर, महसूस कर गहरे पैठकर लिखते हैं। मैंने जिन्दगी में उन्हें कभी किसी की चापलूसी करते कभी नहीं पाया। जिन्दगी में उन्होंने कभी किसी पर अन्याय नहीं किया और सहा भी नहीं। जो भी बात हो, चाहे वह कितनी भी सख्त क्यों न हो मुँह पर कह देते हैं चाहे वो किसी को भली लगे चाहे बुरी। किसी की भी कोई बात या चीज उन्हें बुरी लगी तो उन्होंने उसे बिना हिचक कहा और वहीं छोड़ भी दिया। मैंने जिन्दगी में हमेशा उन्हें पूरे स्वाभिमान से जीते देखा है। स्वाभिमान के केन्द्र में उनका "स्व" ही है। अपने "स्व" "स्वत्व" के निरंतर अनुसंधान, पहचान और निर्माण पर अपने जीवन की सारी शक्ति लगायी है। इसी केन्द्र भूमि से उनके सारे चिरस्मरणीय पात्र जनमे हैं और उनका यही स्वाभिमान उनकी शक्ति है, तभी तो अभी तक उनके मुँह पर एक अजीब सा तेज है।

मुझे सदा गर्व होता है उनकी बेटी होकर। उनके प्रख्यात उपन्यास "मन वृन्दावन" से यह अंश उद्धृत कर उन्हें प्रणाम करती हूँ।

"अपना व्यक्ति तो जानते हो तुम ?" हिरनमयी ने पूछा।

सुबन्धु ने कोई उत्तर न दिया।

तब हिरन बोली, "अपने उसी व्यक्तित्व की खोज के लिए युद्ध की विभीषिका झेली जाती है, प्रलय-संहार सहा जाता है।"

सुबन्धु क्रोध से लाल हो गया, जैसे उसका वेहद अपमान हुआ हो। वह कांपते स्वर में बोला, "मैं आदमी हूँ, कोई जानवर नहीं, जिसे एक खुराक दवा देकर या धर्म-दर्शन की एक बात पिलाकर उसे देवता बना लिया जाय...!"

हिरनमयी ने सुबन्धु का हाथ न छोड़ा। बोली, "तुम आदमी ही हो, तुम्हें देवता कौन बना रहा है ?"

सुबन्धु बोला, "तुम्हें आदमी से क्या सरोकार...तुम्हें तो उसी देवता से ही मतलब है...तुम...औरत कहां...तुम तो नवद्वीप की वैष्णवी हो। चिरहिणी और अभिनेत्री...।"

हिरनमयी ने और कसकर सुबन्धु का हाथ पकड़ लिया। उसके मुँह पर सुबन्धु ने जो तमाचा एक बार मारा था, उस मार की भी ताकत हिरन की उस बँधी मुट्टी में खिन्न रही थी। सुबन्धु प्रकट हो रहा है, हिरन को अच्छा लग रहा है।”

किसी ऐसे व्यक्ति के ब
से जाना-समझा हो, लगभग,
नारायण लाल से यूँ तो मेरा
सौभाग्य से एक प्रकाशक के
मेरे लिए तो ईश्वरीय दान है।

प्रकृति के सौन्दर्य की छ
कभी तो ऐसा होता ही है
आँखों से प्राण में उतर आता
ही मेरे साथ हुआ। लाल के
उभरती ही चली गई।

डॉ० लाल की धर्मपुत्री
डॉ०-फटकार में लिपटा होत
वात्सल्य भाव। तभी इस
सहजता, निष्कपटता और
उनके व्यक्तित्व के वे रूप-र
जैसे किसी शब्द से अनभिज्ञ
वाले डॉ० लाल को घर-आ
तनिक भी द्विचकिचाहट नहीं
रहता है, चाहे वह कागज प
कर्म में। तभी तो नियम,
बेसुरा नहीं होता। राग से
मीसूद रहता है उनमें। वह
उनके चरित्र का यह तत्व
यह मोचनी रही है कि यह

ए कहानी धुनने वाले

या । उसके मुँह पर
कत हिरन की उस
रन को अच्छा लग

एक ऐसा व्यक्ति

श्रीमती प्रमिला मेहरा

किसी ऐसे व्यक्ति के बारे में तटस्थ रूप से कुछ लिखना, जिसे इतने करीब से जाना-समझा हो, लगभग, असम्भव सा ही लगता है । अपने धर्मपिता लक्ष्मी-नारायण लाल से यूँ तो मेरा परिचय लगभग पन्द्रह वर्ष पहले संयोग कहेँ या सोभाय्य से एक प्रकाशक के आफिस में हुआ था, परन्तु यह परिचय, यह रिश्ता मेरे लिए तो ईश्वरीय दान सिद्ध हुआ ।

प्रकृति के सौन्दर्य की छटा की ओर कब-कब ध्यान जाता है, हमारा, परन्तु कभी तो ऐसा होता ही है जब उषा की लालिमा की चमत्कारिक रमणीयता आँखों से प्राण में उतर आती है । यह लेख लिखने की तैयारी के समय कुछ ऐसा ही मेरे साथ हुआ । लाल के व्यक्तित्व की बही सम्पूर्ण छटा मेरे सामने खिलती, उभरती ही चली गई ।

डॉ० लाल की धर्मपुत्री के नाते मुझे उनसे भरपूर स्नेह मिला, जो अक्सर डॉट-फटकार में लिपटा होता है और साथ ही मिला भरपूर प्रोत्साहन और गहरा वात्सल्य भाव । तभी इस रिश्ते का मन भर आनन्द उठाया है मैंने । परम सहजता, निष्कपटता और अकृत्रिमता और किसी हद तक बच्चों-सा भोलापन, उनके व्यक्तित्व के वे रूप-रस हैं, जो सदा छलकते से रहते हैं उनमें । “मूढ” जैसे किसी शब्द से अनभिज्ञ, यह सदा उत्साही, प्रसन्नचित्त, और कार्यरत रहने वाले डॉ० लाल को घर-आँगन में झाड़ लगाने से लेकर शौचालय साफ करने में तनिक भी हिचकिचाहट नहीं । उनका सृजनात्मक रूप तो सदा निखार पर ही रहता है, चाहे वह कागज पर उतारा जा रहा हो या उनके मौन में या किसी कर्म में । तभी तो नियम, मर्यादा में बंधा उनका कार्यक्रम कभी “सुर” से बेसुरा नहीं होता । राग से विराग नहीं होता । पर इससे गहरे एक भाव सदा मौजूद रहता है उनमें । वह है राग के साथ वैराग्य का भाव । जिस क्षण मैंने उनके चरित्र का यह तत्व महसूस किया, मैं समृद्ध हो गई । और तब से बराबर यह मोचनी रही है कि यह संभव कैसे है ? इसका उत्तर उनके “स्वधर्म” के

चैतन्य से पाया जा सकता है। मैं एक आधुनिक महिला, स्वधर्म का मतलब क्या जानूँ? पर लाल जैसे व्यक्ति को लगातार देखकर, रचनाकार और गृहस्थ, व्यक्ति और मनुष्य, इस सबको एक बिन्दु पर महसूस कर मैंने समझा कि लाल नामक व्यक्ति का श्रेष्ठ परिचय उनके स्वधर्म में ही मिलता है। इस बात को मैंने अक्सर उनके मुँह से सुना है कि स्वधर्म का व्यक्ति के ऊपर जिस मात्रा में अधिकार होता है, उसी अनुपात में वह अपने आपको प्राप्त करता है।

कभी उनकी इस तरह की बातें मेरी समझ में नहीं आती थीं। पर जैसे-जैसे मैंने उनको लेखन, रचनाकर्म, घर गृहस्थी, सामाजिक संबंधों के बीच देखा है, मुझे स्वधर्म का मर्म प्राप्त हो गया। मर्म मिला, लाल का जो संबंध पत्नी से है, अम्मा का जो भाव पति लाल से है, उससे।

हमारी अम्माजी के जीवन का अर्थ है "लाल" और उसके अलावा कुछ नहीं। उनको यह प्रेम और आदर भरपूर रूप में अपने पति लाल से वापस मिलता है। उनके आपस का सुन्दर सम्बन्ध उनके घर आने वाला कोई अजनबी भी अनुभव कर सकता है। अम्माजी अपने भ्रमत्व का सम्पूर्ण अभ्यंश लाल पर उँडेल देती हैं, यके हों तो उनके बालों में तेल डालकर, केवल उनके लिए, उनकी पसन्द का भोजन पका कर, और जब उन्हें एकांत चाहिए, उनके और बाहरी वातावरण के मध्य दीवार सी खड़ी होकर। अम्माजी का नामकरण लगता है उनके आत्मत्याग के स्वभावानुसार ही किया गया है। वह अपने जीवन की "आरती" अपने पति को अर्पण करती है। उनको देखकर मुझे अपने पत्नी-रूप पर लज्जा सी आने लगती है। अम्माजी का अपने पति की रचनाओं से उतना ही लगाव है जितना कि अपने बच्चों से। दुनियादारी में वह अपने पति से अधिक निपुण और व्यावहारिक हैं और यह बात लाल खूब समझते हैं। अम्माजी की मदद से ही चाहे वह कितने ही व्यस्त क्यों न हों, अपने बच्चों तथा मित्रों की जरूरत के समय सदा तत्पर रहते हैं। रिश्तों तथा मित्रता की भरपाई निभाना वह खूब जानते हैं। गाँव से छूटे अरसा हो गया है, परन्तु वहाँ की मिट्टी की सुगंध वह कभी नहीं भूले। गाँव से अक्सर आने वाली हर अपेक्षा की पूर्ति सानन्द वह करते। कभी डाकघर में मनीआर्डर भेजने की लाइन में खड़े हुए या भाई-भतीजों की पुकार पर गाँव जाते हुए उनका निपट मानवीय रूप देखा जा सकता है। जेठ की तपती गर्मी में बगैर बिजली के गाँव के उस पृथ्वीनी घर में बसे प्राणियों की एक पुकार पर वह रेल और बस, इक्का, पैदल की लम्बी यात्रा तय करने में जरा नहीं घबराते।

घबराते तो खैर वह किसी भी काम से नहीं। अपने कर्तव्यों का पालन अपेक्षाओं की पूर्ति इतनी प्रसन्नता और उत्साह से करते हैं कि किसी अन्य व्यक्ति

की नहीं देखा। अपने लेख मैंने उन्हें फीरन बाजार करते हुए उनका प्रसन्नता इनका जीवन अर्पित है, प हों। वह अपने इस विश्व से मुझसे जुड़ा है, वही तो कार्य से सुख प्राप्त करना, सारा कर्मजगत इस तरह

तीज-त्यौहार में अपने पूर्ण है। ऐसे अवसरों पर अर्पित कर देते हैं।

पिछले दिनों में अम्मा डरी-सी थीं। उनके इस रहे। दौत-विहीन पत्नी सेवा करते रहे।

उनके समीप रहकर अपनी क्षमता गुण काबलि उससे कुछ आशा करना कारण इन्सानी रिश्तों का सम्बन्धित हो अथवा पुत्र

अपने जीवन और स कसकर ही वह इस स्तर आप पर किया है। ठीक बढ़ता में एकदम क्रूर हैं, डॉ० लाल। अपनी दिनव जाते हैं, जहाँ अगर उन्हें आ जाती है। योग साधन करते ही बच्चों की तरह भर घड़ी की सुई की तरह

हर नया दिन वह न तो अपने भीतर ही है, तो एक-एक क्षण वह जीते हैं

, स्वधर्म का मतलब क्या
रचनाकार और गृहस्थ,
कर मैंने समझा कि लाल
मिलता है। इस बात को
के ऊपर जिस मात्रा में
त करता है।

आती थीं, पर जैसे-जैसे
संबंधों के बीच देखा है,
जो संबंध पत्नी से है,

उसके अलावा कुछ नहीं।

न से वापस मिलता है।

कोई अजनबी भी अनुभव

लाल पर उड़ेल देती हैं,

लेए, उनकी पसन्द का

र बाहरी वातावरण के

ता है उनके आत्मत्याग

“आरती” अपने पति

प पर लज्जा सी आने

की लगाव है जितना कि

अपुण और व्यावहारिक

से ही चाहे वह कितने

के समय सदा तत्पर

जानते हैं। गाँव से

कभी नहीं भूले। गाँव

से। कभी डाकघर में

पुकार पर गाँव जाते

तपती गर्मी में बगैर

पुकार पर वह रेल

नहीं धबराते।

कर्तव्यों का पालन

नि किसी अन्य व्यक्ति

को नहीं देखा। अपने लेखन कार्य में डूबे लाल को अम्माजी द्वारा पुकारे जाने पर
मैंने उन्हें फौरन बाजार जाकर गैस या सब्जी लाते देखा है। साहित्य की रचना
करते हुए उनका प्रसन्नचित्त रहना तो समझ में आता है क्योंकि उसके लिए तो
इनका जीवन अर्पित है, परन्तु कोई भी कार्य ऐसा नहीं जिसे वे बेमन से करते
हों। वह अपने इस विश्वास को सदा जीते हैं कि जो कर्म मेरा है, किसी भी तरह
से मुझसे जुड़ा है, वही तो उस क्षण है मैं। उसके अलावा मैं और क्या हूँ? हर
कार्य से सुख प्राप्त करना, यही है लाल व्यक्ति का केन्द्र। इसी केन्द्र से लाल का
सारा कर्मजगत इस तरह गुँथा है, जैसे सूत्र से पुष्प, जो पुष्पमाला हो जाता है।

तीज-त्यौहार में अपनी पत्नी को उनके मायके ले जाना, उनके लिए महत्त्व-
पूर्ण है। ऐसे अवसरों पर वह खुले मन से पूरा ध्यान और समय अपनी पत्नी को
अर्पित कर देते हैं।

पिछले दिनों में अम्माजी ने दाँत, निकलवाने थे और वह इस बारे में थोड़ा
डरी-सी थीं। उनके इस भाव को समझते हुए वह हर बार उनके साथ जाते
रहे। दाँत-विहीन पत्नी के रूप के बारे में मीठा परिहास करते हुए वह उनकी
सेवा करते रहे।

उनके समीप रहकर जीवन का यह स्वरूप खूब समझ में आया कि हर व्यक्ति
अपनी क्षमता गुण काबलियत के अनुसार सीमा-बद्ध होता है। इस सीमा से परे
उससे कुछ आशा करना अपने आप को दुखी करना है। डॉ० लाल को इसी
कारण इन्सानि रिश्तों का भरपूर रस लेते देखा है, चाहे यह रिश्ता पत्नी से
सम्बन्धित हो अथवा पुत्र से, या फिर किसी भी सम्बन्धी से।

अपने जीवन और समय को कड़े अनुशासन में बाँधकर और अपने आप को
कसकर ही वह इस स्तर के मनुष्य बने हैं। नियंत्रण उन्होंने सबसे ज्यादा अपने
आप पर किया है। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार प्रकृति आत्मसंयम और नियम-
बद्धता में एकदम क्रूर हैं, स्वभाव से नहीं, प्रकृति से उसी तरह के हैं अपने
डॉ० लाल। अपनी दिनचर्या में एक दम सख्त बल्कि क्रूर। रोज सुबह घूमने
जाते हैं, जहाँ अगर उन्हें पार्क में कोई फूल तोड़ता दिख जाय तो उसकी श्वाभत
आ जाती है। योग साधना भी उनकी दिनचर्या का अंग है। शाम को भोजन
करते ही बच्चों की तरह उनकी आँखें निदियाती हुई बंद होने लगती हैं। दिन-
भर घड़ी की सुई की तरह नियमबद्ध वह कार्यरत रहते हैं।

हर नया दिन वह नये सुख की खोज में नहीं बिताते। उनके सुख का स्रोत
तो अपने भीतर ही है, तो फिर उसकी खोज कहाँ करेंगे? तभी तो जीवन का
एक-एक क्षण वह जीते हैं उनके पास कमी समय की कभी नहीं होती। उनके

अनुसार स्वयं अपने आप को आदर देने से ही और स्वयं को इस आदर के काबिल बनाने से ही व्यक्ति दूसरों के आदर-मान का योग्य पात्र बनता है। इन बिचारों के निर्माण में प्रकृति की दिनचर्या ने उनको खूब आकृष्ट किया है। उसके एक-सार अनुशासन के कारण ही तो वह भरपूर रूप से सबको एक साथ ही इतना सब देने के काबिल है।

अपने ऊपर किये कड़े अनुशासन का सबसे अधिक लाभ तो स्वयं लाल को ही हुआ है। भोजन करते वक्त हर कौर का स्वाद लेने का आनंद आजके समय में डॉ० लाल जैसा व्यक्ति ही उठा सकता है। वरना आज का हर व्यक्ति तो अपने आपको भी यही समझाने में लगा है कि उसके पास तो भोजन करने की भी फुरसत नहीं। इस आधुनिक मापदंड पर तो वह बिल्कुल फेल है। जीवन के क्षण और हर पहलू को सीमाबद्ध रूप से भोगना ही तो जीवन है मनुष्य का। लाल के लिए अपने पौत्री और पौत्र के नामकरण संस्कार में उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने कि अपने नाटकों का नाम बड़े ही मन में सोच-विचार कर विधिवत रखने में। वरना अगर समय उन पर हावी होता तो वे बच्चे भी आधुनिक, दो अक्षर वाला "हूह" या "जो जो" जैसा कोई नाम पाये होते अपने दादा से।

उनका छोटा पुत्र अजय लाल तनिक मंद बुद्धि है। किसी और घर परिवार में ऐसा सदस्य शायद पिछले कमरे में छिपाकर रखा गया होता, परन्तु उसे तो डॉ० लाल सदा अपने परिवार का माननीय मेहमान मानते हैं। अपने को धैर्यवान बनाने पाने का श्रेय उसी को देते हैं। उसे प्यार और आदर दोनों देते हैं। उसमें जो शक्ति है, उतनी ही आशा रखते हैं। तभी तो वह अपने "बाबूजी" को ही अपनी दुनिया मानता है। उसे कहीं भी अपने साथ ले जाते हुए डॉ० लाल बिल्कुल नहीं हिचकिचाते। और अपने इसी विश्वास के आधार पर वह अजय को मुधारने में काफी सफल हुए हैं।

अपने बड़े पुत्र आनंदवर्धन के विवाह के अवसर पर भी उनको मैंने भरपूर आनंद लेते देखा है। अपने जीवन के इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर उन्होंने एक-एक पारम्परिक कर्म, रिवाज का पालन अम्माजी की इच्छानुसार किया। बारात में अम्माजी साथ नहीं गयी थीं, परन्तु बहू के लिए जुटाई एक-एक वस्तु को बक्से में सँजो कर रखा था उन्होंने। उसी भाव को ध्यान में रखकर डॉ० लाल ने उस सारे सामान को स्वयं अपने हाथ से पुत्रवधू अनुपमा को दिया। पंडितजी की हिम्मत नहीं हुई कि एक भी विवाह मंत्र को छोड़ दें या एक अक्षर का भी गलत उच्चारण करें।

जीवन के हर पल के प्रति उनके हैं।

किसी से भी कुछ ग्रहण करने की भिक्षा लेने में उन्हें कोई संकोच नहीं। कार में कोई असगाव नहीं। उनके ही सुर-ताल में बँधे हैं। एक रागिनी—कलाकार, पिता या पति का श्रेय सही अर्थों में पूरा मनुष्य है।

एक ऐसा व्यक्ति

स आदर के काबिल
ता है। इन बिचारों
ता है। उसके एक-
एक साथ ही इतना

तो स्वयं लाल को
वन्द आजके समय में
इस व्यक्ति तो अपने
करने की भी फुरसत
जीवन के क्षण और
का। लाल के लिए
पूर्ण हैं, जितने कि
रखने में। वरना
अक्षर वाला "ह्रस्व"

और घर परिवार
, परन्तु उसे तो
अपने को धैर्यवान
गों देते हैं। उसमें
"गी" को ही अपनी
गल बिल्कुल नहीं
को सुधारने में

को मैंने भरपूर
उन्होंने एक-एक
ब्या। वारात में
वस्तु को सबसे
डॉ० लाल ने
या। पंडितजी
अक्षर का भी

एक ऐसा व्यक्ति

३३

जीवन के हर पल के प्रति उनके उत्साह को देखकर मैं आश्चर्य चकित होती
हूँ।

किसी से भी कुछ ग्रहण करने की उनकी झोली सदा फैली रहती है। ज्ञान
पिक्षा लेने में उन्हें कोई संकोच नहीं। इस व्यक्ति और उनके भीतर बैठे कला-
कार में कोई असंगत नहीं। उनके जीवन और कार्य, कला और कलाकार एक
ही सुर-ताल में बँधे हैं। एक रागिनी के नियम में बँधे। उनका हर रूप—लेखक
—कलाकार, पिता या पति का श्रेष्ठ है। यह लाल हर पल, कार्यरत व्यक्ति,
सही अर्थों में पूरा मनुष्य है।

लाल छवि के प्रति

शिवसागर मिश्र

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का नाम आते ही एक तेजस्वी, कर्मठ, स्वाभिमानी और सतर्क व्यक्तित्व का प्राणवान चित्र सामने आ खड़ा होता है, जो स्पष्ट आभास देता है कि महत्ता भले ही न दो, किन्तु पहचान मिटाने का दुःसाहस मत करना। मैं जैसा हूँ, वैसा ही भला। किसी की दया से प्राप्त प्रतिष्ठा के मुखौटे पर लानत भेजता हूँ। यह आभास डॉ० लाल की सामाजिक स्थिति को यदि निर्बल और निस्संग बना देता है, तो वहीं उनकी अस्मिता को उजागर करके उसमें आकर्षण और हड़ता भी उत्पन्न कर देता है। उनकी यही अस्मिता भीतर अहर्निश जाग्रत आग से दप-दप धरती रहती है।

किसी को मेरे इस कथन में अतिशयोक्ति लगे तो और अच्छी बात है। क्योंकि ऐसा लगने में ही इस कथन की सार्थकता है।

लक्ष्मी भाई की इस छवि के प्रति दरअसल उनके निकटस्थ लोग भी बहुत सारी गलतफहमियाँ पाल लेते हैं। महानगर के सुसभ्य बुद्धिजीवियों या आभिजात्यों की आचार संहिता में सहजता और स्पष्टवादिता को वर्जित व्यवहार माना गया है। मान्यता यह है कि जो जितना अधिक असहज और छिपा रूतम है, वह उतना ही अधिक परिपक्व और नीति निपुण है। लक्ष्मी भाई कहने को तो दशकों से शहरों में रह रहे हैं, लेकिन इनकी भावभूमि और प्रेरणा का उत्स अभी तक गाँवों में ही है। आज का गाँव भी बहुत बदल गया है। आधुनिक सुख-साधन, महानगरों का चाक्य-चिक्य और आर्थिक समृद्धि जैसी कोई चीज भले आज के गाँव में देखने को न मिले किन्तु वहाँ छल-छद्म, नारद-परम्परा, वोट की राजनीति के चलते बन्दर बाँट, जातिगत, वर्गगत वैषम्य व्याप्त है। जो लोग बहुत पहले गाँव छोड़ कर शहर आ गये उनमें से अधिकांश शहर की सतही जिन्दगी में डूब गये। फिर भी कुछ लोग ऐसे हैं जो इस जिन्दगी से अपना तालमेल नहीं बिठा पाये और आज के गाँव की परिवर्तित परिस्थिति से अपने आपको जोड़ नहीं पाये। इन्हीं लोगों में एक हैं डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल।

लाल छवि के प्रति

कुछ मित्रों की धारणा उग्र स्वभाव के हैं। उन्होंने कभी जिस किसी पद या के अनुशासन को छिन्न-विच्छिन्न है। जो स्व-केन्द्रित होगा व्यक्ति को अपनी पहचान या उद्भूत होने की बात स्वार्थ और महत्वाकांक्ष कभी उन्हें कोई पद या काम करके उन्होंने यदि बाद उपयोगिता, दरबाने गई कि व्यक्ति या मनुष्य जिस किसी ने इस मूल्य साथ सामंजस्य बिठा सके से नीचे जा गिरा। इस यह व्यक्ति की पहचान है। जिसे यह मूल्यहीन रूप में सीढ़ी-दर-सीढ़ी ढोड़ में बहुत पीछे रह

उन्हें ऐसी सीढ़ियों से पास यदि पहुँच भी बजाए मुड़कर सड़क पट्टि से सड़क पर ही तेज चल रहे हैं। उनका तेज है, जिसे देखने के आशीर्वाद से भी प्रतेज में ताप भी ही हो सकता है। मनुष्य के सामने आ नहीं कर पायेगा। किन्तु का नहीं, अमृत वर्षा नहीं है। अमाधार

कुछ मित्रों की धारणा है कि लक्ष्मीनारायण लाल असंयत, स्व-केन्द्रित और उग्र स्वभाव के हैं। उन्होंने कभी किसी अनुशासन को स्वीकार नहीं किया। जब कभी जिस किसी पद या स्थान पर बैठे तो, कुछ ही दिनों में उस पद और स्थान के अनुशासन को छिन्न-भिन्न करके रख दिया। मेरी समझ में यह समझ का फेर है। जो स्व-केन्द्रित होगा वह पद और स्थान से चिपक जाएगा। इस प्रवृत्ति के व्यक्ति को अपनी पहचान को आप भिटा देनी होगी। वह तो कल्पना में भी उग्र या उद्धत होने की बात सोच नहीं सकता। सच तो यह है कि लक्ष्मी भाई ने स्वार्थ और महत्वाकांक्षा जैसी क्षुद्र भावनाओं को कभी तरजोह नहीं दी। जब कभी उन्हें कोई पद या स्थान मिला, निष्ठापूर्वक उस स्थान और पद के अनुरूप काम करके उन्होंने दायित्व का पालन किया। कठिनाई यह है कि स्वाधीनता के बाद उपयोगिता, दरबारी और उपभोक्ता संस्कृति इस कदर प्रबल होती चली गई कि व्यक्ति या मनुष्य मात्र उपयोग और उपभोग की वस्तु बन कर रह गया। जिस किसी ने इस मूल्यहीन, विकृत संस्कृति को स्वीकार नहीं किया या इसके साथ सामंजस्य बिठा सकने में असमर्थ रहा, वह प्रतिष्ठा और पदोन्नति की सरणि से नीचे जा गिरा। इस संस्कृति (या कुसंस्कृति) की सबसे बड़ी खूबी यह है कि यह व्यक्ति की पहचान, प्रतिष्ठा और उसके स्वाभिमान का ही हरण कर लेती है। जिसे यह मूल्यहीनता संजूर हो वह अनुशासनप्रिय और अतिसंयत व्यक्ति के रूप में सीढ़ी-दर-सीढ़ी चढ़ता हुआ उच्च आसन पर जा बैठे। लक्ष्मी भाई इस दौड़ में बहुत पीछे रह गये।

उन्हें ऐसी सीढ़ियाँ कभी आकर्षित नहीं कर पायीं। अनायास ऐसी सीढ़ियों से पास यदि पहुँच भी गये तो न जाने क्यों, उन पर उछल कर चढ़ जाने के बजाए मुड़कर सड़क पर आ गए। आज भी डॉ० लाल व्यावसायिक और आर्थिक दृष्टि से सड़क पर ही हैं। बेशक, चल रहे हैं, अपनी साधना के मार्ग पर बहुत तेज चल रहे हैं। उनका भाल उठा हुआ है। आँखों में संतोष और स्वाभिमान का तेज है, जिसे देखकर धारणा बनती है कि श्रीसम्पन्नता का तेज माँ सरस्वती के आशीर्वाद से भी प्राप्त हो सकता है।

तेज में ताप भी होता है। प्रकाश वर्तुल से मंडित मुखमण्डल ईश्वर का ही हो सकता है। मनुष्य का नहीं। वह ईश्वर यदि समझौतावादी साधारण मनुष्य के सामने आ जाए तो वह अपनी नंगी आँखों से उसके तेज को वर्दाशत नहीं कर पायेगा। किन्तु जो निष्ठावान या आस्थावान होगा उसे ताप की जलन का नहीं, अमृत वर्षा की शीतल फुहारों की अनुभूति होगी। डॉ० लाल ईश्वर नहीं हैं। असाधारण प्रतिभा साधारणीकरण, अविश्वास में विश्वास और

निस्संगता में प्रेम का पारावार पाया जा सकता है इनमें। बशर्ते, दृष्टि पूर्वाग्रह युक्त और नंगी न हो। दृश्य और अदृश्य का अर्थ और अन्तर समझने के लिए समानुभूति अनिवार्य है।

मिट्टी, जल, अग्नि, आकाश और पवन के संयोग से निर्मित यह देह मिट्टी ही रह जाती यदि इसमें आग, पानी और पवन की गतिशील ऊर्जा प्राण प्रतिष्ठा का कारण नहीं बनती। मानव शरीर में यह पाँचों तत्व विद्यमान हैं। अग्नि, जल और पवन ऐसे तत्व हैं, जो गलत अनुपात में होने पर घातक बन जाते हैं। कोई अकारण ही, किसी न किसी इच्छा या ईर्ष्या की आग में जलने लगता है, कोई अपने स्वार्थ को सींचने के लिए किसी और का सारा रस निचोड़ कर आत्मसात कर लेना चाहता है। इस कोटि के व्यक्ति वास्तव में पंच तत्व धारण करने के अधिकारी भी नहीं है। उनका जीवन व्यर्थ है। जो रचनाकार के उसमें इन तत्वों का सही अर्थ मिलता है। रचनाकार में यदि आग न हो तो वह सृष्टि नहीं कर सकता और सृष्टि करने के लिए रचनाकार इस आग में स्वयं जलता है, ताकि दूसरों को निस्सीम आकाश की ऊँचाई तक पहुँचा सके, उस पर अमृत की वर्षा कर सके। रचना की परिकल्पना से प्रस्तुतीकरण तक रचनाकार जिस बड़बग्नि में जलता-झुलसता रहता है, जिस असह्य पीड़ा और दाहक बेचैनी में पड़ा रहता है, उस दर्द का अहसास हम नहीं कर सकते। रचनाकार की स्थिति तो यह होती है कि वह घर में रहकर भी घर में नहीं रहता। समाज से घिरा रहकर भी सामाजिक नहीं बन पाता और हम हैं कि उसकी आग के ताप को कोसते रहते हैं।

लक्ष्मी भाई के व्यक्तित्व में निश्चय ही आग का ताप कुछ अधिक प्रबल है। हम इस आग को तो देखते हैं, लेकिन उसके कारण और कार्य का विश्लेषण नहीं कर पाते। हम लोक-परलोक को सुखी करने के लिए फूँकों को सहेज रखना चाहते हैं, किन्तु लता-द्रुम, झाड़-झंखार और काँटों से मुक्त होने के लिए उसकी जड़ पर ही प्रहार करने लगते हैं। रचनाकारों का यही प्रारब्ध है। वह कब किस भाव-भूमि पर खड़ा है, वह स्वयं किसी दावाग्नि में जल रहा है या भूसी की आग में अपने आप को जला रहा है, यह देखने या समझने का प्रयत्न नहीं करते। स्वार्थान्ध होकर हम उसके यश या व्यवहार शैली को ही ताप मान बैठते हैं और स्वयं उसमें जलने लगते हैं। सोचने लगते हैं, "अरे, डॉ० लाल न तो चाकरी करता है, न सीढ़ियों को ओर दौड़ता है। फिर यह अपना निर्वाह कैसे करता है?" डॉ० लाल की यह स्थिति देखने वालों की आँखों में चिनगारी बन कर जा गिरती है।

यह बातें मैंने किताब रचनाकारों के साहचर्य से से देखने का मौका मिला व्यक्ति की भंगिमा या कथ डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल बोछार होते देखी है। उ कोलाहलपूर्ण वातावरण में पाये हैं।

विषम परिस्थिति में नहीं किया। एक घटना

"आपात कालीन हवा के प्रतिकूल चल रहे थे। इसी मौके पर श्रीव आयोजन किया गया।

लाल उसमें हिस्सा न ले

विट्ठल भाई पटेल गया। वक्ताओं में मैंने को खड़े हुए तो मैं किचि

"मैं रचनाकार हूँ। प्रतिबन्ध लगा हुआ है।

इतना सुनते ही पं

उठी। मैं भी चौंका। ब

बन्धित शब्दों के माध्यम

लाल बैठ गये। निश्चय

और संतुष्ट था। सदि

लीन हैं। हर रचनाकार

लेता। उसकी दृष्टि में

लक्ष्मी भाई ने बड़े ही स

पंडित जी के प्रति श्रद्ध

मर्यादा और अनुश

इनकी पत्नी वैसी ही हैं

है। कोई खास पढ़ी-लि

लाल छवि के प्रति

छवि के प्रति

दृष्टि पूर्वाग्रह
मनने के लिए

यह देह मिट्टी
प्राण प्रतिष्ठा
न हैं। अग्नि,
बन जाते हैं।

बलने लगता है,
बोझ कर आत्म-
त्व धारण करने
उसमें इन तत्वों
सृष्टि नहीं कर
जलता है, तार्कि
र अमृत की वर्षा
जिस वड़वाग्नि
नी में पड़ा रहता
स्थिति तो यह
अ से घिरा रहकर
ताप को कोसते

कुछ अधिक प्रबल
कार्य का विश्लेषण
गों को सहेज रखना
गेने के लिए उसकी
है। वह कब किस
है या भूसा की आग
प्रयत्न नहीं करते।
मान बैठते हैं और
लाल न तो चाकरी
निर्वाह कैसे करता
बनगारी बन कर जा

यह बातें मैंने किताबों में नहीं पढ़ी हैं। यय अनुभूति है जो लक्ष्मी भाई जैसे रचनाकारों के साहचर्य से उपजी है। मुझे कई दशकों से लक्ष्मी भाई को करीब से देखने का मौका मिला है। मैंने इस साहचर्य में यह सबक लिया कि किसी भी व्यक्ति की भंगिमा या कथन को देख मुनकर कोई धारणा बना लेना भूल है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल की आग के पीछे मैंने प्रायः पुनीत प्रेम की शीतल बौछार होते देखी है। उपयोगिता, दरबारी और उपभोक्ता संस्कृति के शंकाग्रस्त कोलाहलपूर्ण बातावरण में लक्ष्मी भाई जैसे दो-तीन भरोसेमन्द मित्र ही मुझे मिल पाये हैं।

विषम परिस्थिति में भी इन्होंने मर्यादा और अनुशासन की सीमा का उल्लंघन नहीं किया। एक घटना याद आती है।

“आपात कालीन स्थिति थी। लक्ष्मीनारायण लाल तत्कालीन सत्ता की हवा के प्रतिकूल चल रहे थे। वे जयप्रकाश नारायण जी की जीवनी लिख चुके थे। इसी मौके पर श्रीकमलापति त्रिपाठी की जन्म-तिथि पर एक समारोह का आयोजन किया गया। आयोजकों में मैं भी था। फिर, कैसे संभव था कि डॉ० लाल उसमें हिस्सा न लें।

विट्ठल भाई पटेल हाउस के स्पीकर कक्ष में इस समारोह का आयोजन किया गया। वक्ताओं में मैंने लक्ष्मी भाई का नाम रखा। वह आये। जब बोलने को खड़े हुए तो मैं किञ्चित् आशंकित भी था। डॉ० लाल ने आरम्भ किया...

“मैं रचनाकार हूँ। इस नाते शब्द ही हमारी पूँजी है, और आज शब्द पर प्रतिबन्ध लगा हुआ है।”

इतना सुनते ही पंडित कमलापति त्रिपाठी की मुखमुद्रा थोड़ी असहज हो उठी। मैं भी चौंका। डॉ० लाल ने अपना वाक्य पूरा किया... “मैं उन्हीं प्रति-बन्धित शब्दों के माध्यम से पंडित जी को आदर देता हूँ।” यह कह कर डॉ० लाल बैठ गये। निश्चय ही कुछ लोग अर्थ का अनर्थ समझ बैठे। लेकिन मैं सहज और संतुष्ट था। सदियों से सत्य की तलाश में लेखक, विचारक और दार्शनिक लीन हैं। हर रचनाकार की राह अलग-अलग है। वह किसी से कुछ उधार नहीं लेता। उसकी दृष्टि में जो सही है, उसे ही अधिव्यक्त कर देना उसका धर्म है। लक्ष्मी भाई ने बड़े ही संयत और संतुलित स्वर में, सत्य को ओझल किये बगैर पंडित जी के प्रति श्रद्धा अर्पित की।

मर्यादा और अनुशासन देखना हो तो लक्ष्मीनारायण जी के घर चलिए। इनकी पत्नी वैसी ही हैं, जैसी गाँव में मध्यवर्गीय गृहस्थ की गृहिणी हुआ करती है। कोई खास पढ़ी-लिखी नहीं हैं। महानगर की आधुनिकता और साज-शुज़्जार

से दूर साधारण साड़ी-ब्लाउज में सुसज्जित सौम्य व्यक्तित्व, उनके होठों पर स्नेहपूर्ण मुस्कराहट अनवरत थिरकती रहती है, जो उनकी गरिमा में चार चाँद लगा देती है। बड़े-बड़े लेखक कवि, बुद्धिजीवी उनके घर आते-जाते हैं। उनसे मिलने, बात करने में भाभी जी को कहीं कोई कठिनाई नहीं होती। किसी भी प्रकार की हीन भावना या कोई ग्रन्थि उनका स्पर्श तक नहीं कर पायी है। उनकी करुणामयी उपस्थिति में उनके घर आने-जाने वाले शिक्षित लोग स्वतः नतमस्तक हो जाते हैं।

हमारी पत्नियाँ आधुनिकाएँ या कालेजी महिला न होते हुए भी हमारे लिए कभी बोज़ नहीं बनीं, बल्कि साया की तरह साथ देती रहीं। हम अपने क्षेत्र में मार्ग पर आगे बढ़ते गये, मुड़ कर यह भी नहीं देखा कि सहधर्मिणी किस हालत में है, चल भी पा रही हैं या नहीं, उनकी भावनाएँ, इच्छाएँ जीवित हैं या बुझ गयीं। इसके प्रतिकूल संघर्ष-संकुल जीवन की प्रताड़ना से जब कभी हम विचलित हुए उनकी सेवा, सहज स्नेह और त्याग ने हममें नयी स्फूर्ति, दुगुनी गति और अपूर्व चेतना भर दी। यही कारण है कि जिस डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल को हम कभी-कभी दुर्वासा की संज्ञा दे देते हैं, वही लक्ष्मी भाई अपनी पत्नी के समक्ष साग-पात बने रहते हैं।

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल के दो बेटे हैं, एक बेटा। बेटा का विवाह हो चुका है। एक बेटा प्रशासनिक सेवा में है और छोटा बेटा (अजय) लल्ला मानसिक तौर पर मंदबुद्धि है। वह भी प्रायः शांत चित्त रहता है। उसके होठों पर भी अपनी माँ की तरह, हमेशा एक मुस्कराहट थिरकती रहती है। मैंने पिछले लगभग दो दशकों में केवल एक बार उसे आक्रोश करते देखा, वह भी जब किसी पढ़े-लिखे पड़ोसी ने उसके साथ दुर्व्यवहार किया। लल्ला का उसकी उम्र के अनुपात में बौद्धिक विकास नहीं हो पाया है। लक्ष्मी भाई का सबसे अधिक स्नेह और प्रेम उसी को प्राप्त है। जो लोग डॉ० लाल में ताप, असंयम या भर्थादा का भाव देखते हैं, उन्हें देखना चाहिए कि जब वह अपने इस बेटे के पास होते हैं तो उनमें कैसा अखण्ड धैर्य, कैसी अनुकरणीय सेवा भावना रहती है। वह जहाँ कहीं दावत पर जाते हैं, अपने इस बेटे को साथ ले जाना नहीं भूलते। प्रतिफल ध्यान रखते हैं कि उसने ठीक से खाया या नहीं, मुँह धोया या नहीं। उसकी देख-भाल करने में वे आमन्द का अनुभव करते हैं। जो व्यक्ति ऐसा जिम्मेवार पिता हो और इतना संवेदनशील और उत्कृष्ट पति हो उसे चंचल और असंयमित नहीं कहा जा सकता है।

तथाकथित बड़े लोगों के बीच जब डॉ० लाल आते हैं तो बेशक थोड़ा सतर्क

रहते हैं। वैसे तो स्वतः तक मानसिक तौर पर प्रवृत्ति या मुगलई अहंता को हेय दृष्टि से देखते आदि के भेद हमारी समझ में नहीं है। हम मनुष्य को सामान्य मानते हैं। हमें समाज बोझ मानने की समझ नहीं है। हमें समझ कर ही उसके सन्तुष्ट करने के लिए तैयार रहना पड़ता है। अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं।

“मैं भुजा उठा कर देखो। किन्तु किसी ने नहीं देखा।

“दुखदायी बात है कि लक्ष्मी भाई से इंकार करते हैं।

एक मंत्रालय में कारी सदस्य थे। सचिव मंत्रालय के एक सचिव के गैर-सरकारी सदस्य की कि समिति का नाम बात बर्दाश्त करते। आघात करता था। आक्रोशपूर्ण स्वर में

“यदि आपके होंगे के लोग ही सदस्य होंगे या व्यक्ति में दिलचस्पी किसी ने सोचा है। मैं, एक विशिष्ट अधिकारी डॉ० लाल के भीतर दिया जाए। बात तो

डॉ० लाल जिसे तरह का खतरा उठा कि लक्ष्मी भाई का

उनके होठों पर गरिमा में चार चाँद गाले-गाले हैं। उनसे ही होती। किसी भी नहीं कर पायी है। शिक्षित लोग स्वतः

हूए भी हमारे लिए। हम अपने क्षेत्र में धर्मिणी किस हालत में जीवित हैं या कुछ कभी हम विचलित हैं, दुगनी गति और गीनारायण लाल को अपनी पत्नी के समक्ष

बेटो का विवाह हो (अजय) लल्ला मान- है। उसके होठों पर गति है। मैंने पिछले में, वह भी जब किसी का उसकी उम्र के सबसे अधिक स्नेह संयम या मर्यादा का बेटे के पास होते हैं रहती है। वह जहाँ नहीं भूलते। प्रतिपल या नहीं। उसकी पत्ति ऐसा जिम्मेवार उसे चंचल और शक थोड़ा सतर्क

रहते हैं। वैसे तो स्वाधीनता प्राप्त किये चालीस वर्ष बीत चुके हैं लेकिन अभी तक मानसिक तौर पर हम स्वाधीन नहीं हैं। हमारे अभिजात वर्ग में सामन्ती प्रवृत्ति या मुगलई अहम् मौजूद है। हम अपने से निम्न या पिछड़े वर्ग के लोगों को हेय दृष्टि से देखते हैं। छोटे-बड़े, ऊँच-नीच, अधिकारी-कर्मचारी, स्त्री-पुरुष आदि के भेद हमारी सामाजिक स्थिति या प्रतिष्ठा का स्तर निर्धारित करते हैं। हम मनुष्य को सामान्यतया मनुष्य का दर्जा नहीं देते। धनपति दीनहीन व्यक्ति को समाज बोझ मानता है। एक नेता आम आदमी को दया और तरस का पात्र समझ कर ही उसके साथ आचरण करता है। कोई किसी को बराबरी का दर्जा देने के लिए तैयार नहीं है। इस अहंकार के चलते ही हमारे समाज और देश में अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। हजारों वर्ष पहले वेदव्यास ने कहा था—

“मैं भुजा उठा कर बार-बार कहता रहा कि मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखो। किन्तु किसी ने मेरी बात नहीं सुनी, जिसका परिणाम महाभारत हुआ।”

“दुखदायी बात यह है कि आज भी हम मनुष्य को मनुष्य के रूप में देखने से इंकार करते हैं। डॉ० लाल के संदर्भ में एक घटना याद आती है।

एक मंत्रालय में समिति की बैठक हो रही थी। डॉ० लाल उसमें गैर-सरकारी सदस्य थे। समिति की अध्यक्षता स्वयं मंत्रालय के मंत्री कर रहे थे। दूसरे मंत्रालय के एक सचिव भी उस बैठक में मौजूद थे, जिन्होंने व्याजान्तर से समिति के गैर-सरकारी सदस्यों के दृष्टिकोण की आलोचना करने के साथ-साथ टिप्पणी दी कि समिति का गठन ठीक से नहीं किया गया। डॉ० लाल भला कब ऐसी बात बर्दाश्त करते। गैर-सरकारी सदस्य के नाते यह कथन उनके स्वाभिमान पर आघात करता था। अन्य गैर-सरकारी सदस्य तो मौन रहे लेकिन डॉ० लाल ने आक्रोशपूर्ण स्वर में कहा—

“यदि आपके हाथ में समिति का गठन होता तो इसमें अधिकांश...जाति के लोग ही सदस्य होते। आपको विषय या कार्य में दिलचस्पी नहीं है, दिखावा या व्यक्ति में दिलचस्पी है।”

किसी ने सोचा भी नहीं था कि कोई सदस्य ऐसी कड़वी बात, भरी सभा में, एक विशिष्ट अधिकारी के मुँह पर कह देगा। निश्चय ही, ऐसी स्थिति में डॉ० लाल के भीतर छिपी आग का ताप दहक उठता है। इसके लिए किसे दोष दिया जाए। बात तो डॉ० लाल ने ठीक ही कही थी।

डॉ० लाल जिसे चाहते हैं, जिसमें विश्वास रखते हैं, उसके नाम पर हर तरह का खतरा उठाने को तैयार रहते हैं। एक दिन मुझे अचानक सूचना मिली कि लक्ष्मी भाई का आपरेशन होने वाला है। यह जानकर आश्चर्य हुआ कि वह

मोतीबाग के अनजान कोने में स्थित म्युनिसिपल कमेटी के मामूली से अस्पताल में भर्ती हैं। दिल्ली में अस्पतालों की कमी नहीं है। बड़े-बड़े डॉक्टर भी उपलब्ध हैं। इन्हें क्या सूझा कि म्युनिसिपल कमेटी के अस्पताल में दाखिल हो गये। भेंट होने पर इन्होंने बतलाया कि यहाँ का डॉक्टर उनका मित्र है, जिसके हाथों में अपने आपको सौंप कर वे निश्चिन्त हैं। ऐसा विश्वास भी इसी देश में है। विश्वास है तभी तो कुंभ में लाखों लोग एकत्र हो जाते हैं। आस्था है, तभी तो बालक, वृद्ध, जवान, कन्धे पर गंगाजल की कामर लेकर सुलतानगंज से १०० कि० मी० दूर वैद्यनाथ धाम तक दुर्गम पथ पर नंगे पाँव चलते हुए जा पहुँचते हैं। बहरहाल, लक्ष्मी भाई का आपरेशन हुआ और उसी विश्वास के बल पर वे सकुशल अस्पताल से बाहर आ गए।

डॉक्टर लक्ष्मीनारायण लाल साधक साहित्यकार हैं। जीवनभर संघर्षरत रहे। किसी की चाकरी नहीं की। और आज साठ वर्ष की आयु प्राप्त करने के बावजूद भी आराम का नाम नहीं लेते। कुछ लिखने से पूर्व विषय की पूरी छान-बीन करने में काफी समय लगाते हैं। थकान या निराशा का भाव उन्हें छू तक नहीं गया है। ताजगी, स्फूर्ति और आशा से उनका आनन हमेशा दीप्त रहता है और यह देखकर मैं ईर्ष्या से जलने लगता हूँ। ●

श्री लक्ष्मीनारायण लाल साधक
था। हालाँकि उ
कैसे जानते यह
जो बात पहले
जल्दी कैसे जान
अस्पष्ट, अस्पष्ट
मैं स्वभाव
यश, नाम व्यति
वे जो कुछ लिख
उसकी चर्चा वे
रहता है कि
और मित्रवत् मु
हैं। मैं उन्हें मु
एक दिन
करते हैं और
पहली मूल्यवा
कि—“बात
क्या होता है
सम्बन्धित हो
है संवाद। जि
बार लगा कि
दिल्ली में वि
सम्पर्क में त
बहुत कम लो

लाल छवि के प्रति

मामूली से अस्पताल
डॉक्टर भी उपलब्ध
दाखिल हो गये। भेंट
प्र है, जिसके हाथों में
भी इसी देश में है।
है। आस्था है, तभी
सुलतानगंज से १००
चलते हुए जा पहुँचते
विश्वास के बल पर वे

जीवनभर संघर्षरत
प्राप्त करने के बाद
की पूरी छान-बीन
मात्र उन्हें छू तक नहीं
जा दीप्त रहता है और

लाल का अपनापन

मोहन बहुगुणा

श्री लक्ष्मीनारायण लाल से मेरी भेंट अनायास ही हुई। मैं उन्हें नहीं जानता था। हालाँकि उनके नाम और साहित्य से मैं काफी परिचित था। लेकिन वे मुझे कैसे जानते यह बात तो स्पष्ट ही थी। किन्तु जब मैं उनके सम्पर्क में आया तो जो बात पहले दिन बिल्कुल स्पष्ट थी अर्थात् “वे मुझे कैसे जानते, वे मुझे इतनी जल्दी कैसे जान गए और हम दोनों इतने समीप कैसे आ गए, यह बात स्पष्ट से अस्पष्ट, अस्पष्ट से आश्चर्यजनक और आश्चर्यजनक से जिज्ञासा में बदल गई।”

मैं स्वभाव से संकोची व्यक्ति हूँ और लेखक लक्ष्मीनारायण लाल की प्रतिभा, यश, नाम व्यक्तित्व से प्रभावित हुआ हूँ। लेकिन जब कभी वे मुझसे मिलते हैं, वे जो कुछ लिखते हैं, उसकी पृष्ठभूमि में जो अन्तर्निहित बात होती है, कभी-कभी उसकी चर्चा वे मुझसे न जाने क्यों अवश्य करते हैं। उनका यही सतत प्रयत्न रहता है कि कैसे वे मेरा हाथ पकड़कर अपनी बराबरी की भूमि पर ले आयें और मित्रवत् मुझसे बात करें। मेरे मन में उनके प्रति बड़ी श्रद्धा और आदर है। मैं उन्हें गुरु और अपने को शिष्य के रूप में देखता हूँ।

एक दिन मैंने सहज ही उनसे पूछा कि आप मेरे साथ मित्रवत् व्यवहार कैसे करते हैं और क्यों करते हैं। इसके उत्तर में जो बात उन्होंने कही, वह मेरे लिए पहली मूल्यवान चीज थी जो मुझे अनायास ही प्राप्त हो गई। उन्होंने बताया कि—“बात करने के लिए परस्पर सम्बन्धित होना पहली शर्त है और सम्बन्ध क्या होता है? इसके बारे में उन्होंने बताया—सम-बन्ध बराबरी से बँधना ही सम्बन्धित होना है। सम्बन्धित होने के बाद जो उसका फल है, उसी का नाम है संवाद। जिसे मैं अपनी बोली में “छुवी-बत” कहता हूँ। लेकिन मुझे पहली बार लगा कि बातचीत करना इतना कठिन है क्या? तभी मुझे याद आया दिल्ली में त्रिताये अपने २२-२४ वर्ष। मैं स्वभावतः बात कम ही करता हूँ। मेरे सम्पर्क में तमाम लोग आये पर संवाद कम ही हो पाया है या हो पाता है। मुझे बहुत कम लोग ही समझ पाये हैं।

मैं भी साहित्यिक रुचि का व्यक्ति हूँ। बच्चों के लिए भी कुछ कहानियाँ लिखीं और प्रकाशित हुई हैं। लालजी ने एक दिन स्वयं आग्रह किया कि अपनी प्रकाशित रचनायें उन्हें पढ़ने को दूँ। मुझे आश्चर्य हुआ कि इतना व्यस्त और इतना बड़ा लेखक मेरी रचनायें पढ़ने को इतना आग्रह क्यों कर रहा है? मुझे संकोच हो रहा था—कहाँ इनकी प्रकाशित साहित्यिक कृतियों की विशालता और कहाँ एक बूँद जल के समान मेरी रचनायें। कैसे दिखाऊँ? परन्तु उनके बार-बार टोकने और बार-बार आग्रह करने पर अपनी रचनायें मैंने एक दिन उनको दे दीं।

मैं जब कभी उनसे जितनी भी देर मिल पाता बराबर यह सोचता कि इन्होंने मेरी रचनायें पढ़ीं कि नहीं? कब पढ़ीं, कैसे पढ़ीं? क्योंकि लाल तो अपने तमाम कामों में इतने व्यस्त रहते हैं। जब भी देखता हूँ, लिखने-पढ़ने में व्यस्त रहते हैं।

लगभग एक सप्ताह बाद मेरी छपी हुई रचनाओं को अपने सामने क्रम से रखकर मुझसे बोले—“देखो बहुगुणा भाई, तुममें सृजन की प्रतिभा है, पर तुम संकोची और डरे हुए व्यक्ति हो। तुम्हें अपना आत्मविश्वास बढ़ाना चाहिए। जितना तुम पर दूसरों का प्रभाव है उतना सब बेकार है और जितना तुम स्वयं अपनी रचना में हो, उतना ही शक्तिशाली है। क्योंकि यह तुम्हारी भूमि, तुम्हारी मिट्टी और चित्त की चीज है।”

उनकी इस बेबाक किन्तु वात्सल्यमय और स्पष्ट बात से मैं आत्मविभोर हो गया। मेरे सम्पर्क में इतने लोग आये पर कभी किसी के मुँह से ऐसी बात नहीं सुनी। लालजी अक्सर मुझसे कहते हैं कि ‘जो अपनी सहजता से जियेगा और लिखेगा अर्थात् रचना करेगा वही असली चीज होगी।’ उनके शब्द हैं—‘चित्तन अलग है और सृजन अलग है। अर्थात् बुद्धि अलग शक्ति है तथा हृदय अलग शक्ति है। चित्तन बुद्धि की और सृजन हृदय की चीज है। अर्थात् सृजन इन्सान की चीज है।’ उनकी यह बात कुछ ही कुछ समझ पाया। पूरी बात मेरी समझ में नहीं आई। जब कभी भी उनसे मिलता, उनसे मेरी अनेक विषयों पर बात होती, कहीं कोई संकोच नहीं होता। उनके लेखन और उनकी बातों से मुझे अनेक प्रश्नों के उत्तर मिलते रहते। एक दिन मैंने पूछा—“सृजन इन्सान की चीज है, इसका क्या मतलब?”

इस प्रश्न का उत्तर उन्होंने टुकड़ों-टुकड़ों में दिया। जैसे कोई संगीत गुरु अपने शिष्य को रक-रक कर पहले स्वर, फिर ताल और फिर राग के बारे में बताये।

अब तक मुझे य मार है। हर व्यक्ति अपना समझेगा। मा लबाबल भरी हैं। मेरे प्रश्नों का उत्तर कभी चाय पीते हुए उनका उत्तर यह था

“मनुष्य के वि अर्थात् उसमें उसका लेना चाहता है, देन जिस क्षण से वह अ मुक्त होता है, तब उसके जीवन में आ जाता है। ‘मानव है।’ इतनी गूढ़ उन्होंने एक दिन मोर कब नाचता है मैंने अपने प्रश्न का जो स्वतंत्र और मु जाता है।” मैं ठ सचमुच आदमी मु पूरी हो जाएँ। ग तरफ हरियाली हो पेट भरा हो, नि जायगा कि वह सु मन खाली हो, नि तो उसमें से सृजन है मैंने गढ़वाल से सड़कों के किनारे को, सब्जी, फलों गाते-हँसते देखा गुजरती बस से द

भी कुछ कहानियाँ
किया कि अपनी
इतना व्यस्त और
कर रहा है ? मुझे
यों की विशालता
कै ? परन्तु उनके
नाथें मैंने एक दिन

यह सोचता कि
कि लाल तो अपने
ने-पढ़ने में व्यस्त
ने सामने क्रम से
भा है, पर तुम
बढ़ाना चाहिए।
जितना तुम स्वयं
री भूमि, तुम्हारी

में आत्मविभोर
मुँह से ऐसी बात
हजता से जियेगा
उनके शब्द हैं—
क है तथा हृदय
। अर्थात् सृजन
। पूरी बात मेरी
अनेक विषयों
उनकी बातों से
“सृजन इन्सानी

कोई संगीत गुरु
राग के बारे में

अब तक मुझे यह पता चल गया था कि लालजी में मानवीय गुणों की भर-
मार है। हर व्यक्ति चाहे वह किसी भी वर्ग, आयु का हो, उनको सहज ही
अपना समझेगा। मानव की जो बुनियादी भावनाएँ हैं, वही लक्ष्मीनारायणजी में
लबालब भरी हैं। जो जरा-सा भी हिलाने पर, छूने से बाहर छलक उठती है।
मेरे प्रश्नों का उत्तर उन्होंने किस्तों में दिया। कभी आते हुए, कभी जाते हुए,
कभी चाय पीते हुए। पर उनका उत्तर मुझे एक अखण्ड सूत्र में बँधा प्राप्त हुआ।
उनका उत्तर यह था कि—

“मनुष्य के विकास के तीन चरण हैं—पहले चरण में वह व्यक्ति रहता है
अर्थात् उसमें उसका “मैं” तत्त्व अर्थात् “पशु” तत्त्व प्रधान रहता है अर्थात् वह
लेना चाहता है, देना नहीं चाहता। उसका दूसरा चरण है मनुष्य होना, अर्थात्
जिस क्षण से वह औरों से सम्बन्धित होने लगता है, अर्थात् अपने पशु तत्त्व से
मुक्त होता है, तब से वह मनुष्य पद को प्राप्त करता है। इसके बाद जो चरण
उसके जीवन में आता है, वही इन्सानी चरण होता है, जिसे मानव होना कहा
जाता है। ‘मानव होना मायने स्वतंत्र होना। और स्वतंत्र होना ही सृजन करना
है।’ इतनी गूढ़ बात, शत-प्रतिशत मेरी समझ में फिर भी नहीं आई। तब
उन्होंने एक दिन कहा कि—“कोयल कब कूकती है, चिड़िया कब चहकती है,
मोर कब नाचता है, पपीहा कब बोलता है, और मनुष्य कब गाता है ?” तब
मैंने अपने प्रश्न का स्वयं उत्तर दिया—“जब कोई भी स्वतंत्र सुरक्षित होता है।
जो स्वतंत्र और सुरक्षित है, वही इन्सान है। फिर तो सृजन उसका स्वभाव हो
जाता है।” मैं ठहरा पहाड़ का आदमी, मेरी समझ में यह बात आ गई कि
सचमुच आदमी सुरक्षित तभी हो सकता है, जब उसकी बुनियादी आवश्यकताएँ
पूरी हो जाएँ। गाँवों में—खेत-खलिहानों में फसल भरपूर हो, पहाड़ों में चारों
तरफ हरियाली हो, वन सूखे न हों, पेड़ भरे-पूरे हों, सब जगह खुशहाली हो,
पेट भरा हो, निरोग तन कपड़ों से ढका हो, तब उसमें यह विश्वास दृढ़ हो
जायगा कि वह सुरक्षित है। मन अपने आप झुमेगा, गायेगा। इसी प्रकार जब
मन खाली हो, किसी बात की चिंता न हो, कोई समस्या, परेशानी न हो, तभी
तो उसमें से सृजन रूपी पौधा अंकुरित होकर वृक्ष बनेगा और फल देगा। सच
है मैंने गढ़वाल से लेकर दिल्ली तक कभी अपने पहाड़ जाते हुए रेल से, बस से,
झड़कों के किनारे दूर तक फैले हुए गन्ने के खेतों में, गेहूँ के लहलहाती हुई फसलों
को, सब्जी, फलों से भरी पड़ी मंडियों को देखा, स्त्री-पुरुषों बच्चों-युवाओं को
गाते-हँसते देखा। पहाड़ पर अलकनंदा, भगीरथी के किनारे-किनारे सबक पर
गुजरती बस से देखा, नाव में नदी पार जाते हुए देखा, वर्षा-ऋतु हो चाहे बसंत

जीव-जन्तु, पशु-पक्षी, बालक-युवा गाते हुए, नाचते हुए देखे। मुझे लगा, वे सभी सुरक्षित महसूस करते हैं।

मैंने तब महसूस किया कि लालजी अपने भीतर कितने आश्वस्त और सुरक्षित हैं। इसके आगे मैंने यह महसूस किया कि उनका यह आश्वासन और सुरक्षा इनका स्वयं अर्जित किया है। इसका फल मैंने यह देखा कि वे अनवरत काम करते हैं और अपने काम से ही आनन्द लेते हैं। काम ही जैसे इनका विश्राम है, आनन्द है।

‘ये’ बातें अनुभव करना मेरे लिए सचमुच आत्मज्ञान जैसी हैं, बरना वर्तमान समय में हुआ यह कि लोग काम को थकान मान बैठते हैं और थकान को मिटाने के लिए उन्हें अलग से विश्राम की जरूरत पड़ती है। लालजी का मानना है कि यह आधुनिक समय में औद्योगिक संस्कृति का कुप्रभाव है। जहाँ मनुष्य मनुष्य न रहकर मशीन बनता जा रहा है। जैसे मशीन कोई चलाता है और मशीन चलने लगती है। चलते-चलते गरम हो जाती है। फिर उसे ठंडा करने के लिए उसका कोई झाड़वर उसे थोड़ी देर के लिए विश्राम दे देता है। पर यह मनुष्य का पद नहीं है। मनुष्य तो ऐसे आश्चर्यजनक तत्त्वों द्वारा निर्मित है कि उसमें कर्म, सृजन, श्रम, विश्राम आदि तत्त्व सहज ही सदा कार्यरत रहते हैं। साधना यही है कि मनुष्य में अपनी मनुष्यता का आत्मज्ञान होना अनिवार्य है। आत्मज्ञान को वे किसी आध्यात्मिक अर्थ में न लेकर विल्कुल प्रत्यक्ष और भौतिक अर्थ में लेते हैं कि हर मनुष्य को निश्चित रूप से यह जान लेना चाहिए कि उसकी बनावट कैसी है। उसका स्वभाव कैसा है? वह क्या चाहता है, कहाँ जाना चाहता है? इन्हीं प्रश्नों के उत्तर से हर मनुष्य अपने आप को जान सकता है। और अपने लक्ष्य को पा सकता है।

मैंने देखा है—लाल जी को ठंड बहुत लगती है पर स्वभाव उनका गर्म है। एक दिन मैंने जब इस बारे में उनसे पूछा तो उन्होंने हँसते हुए कहा कि—“देखो माई बहुगुणा, यह नाटक प्रकृति ने ही मेरे साथ किया है। ठंडी प्रकृति में गर्म स्वभाव डालकर उसने मेरी सुरक्षा की है और मुझे जिदा रखा है।” उनकी यह बात सुनकर मैं भी ठगकर हँस पड़ा और फिर मुझे याद आये वे पशु-पक्षी, जीव-जन्तु जिनकी सुरक्षा के लिए प्रकृति ने ऐसे तमाम प्रबंध किए हैं।

उनसे जितने समय जितनी बार मैं मिला हूँ, मुझे याद है, मैं उनके साथ काफी बातें की हैं। ज्यादा बातें करना मेरे स्वभाव में नहीं है। लेकिन उनके साथ बातें करने में मुझे एक आश्चर्यजनक आनन्द प्राप्त होता है। तब मैं सोचता हूँ कि कैसे एक का अभाव दूसरा पूरा करता है।

पहली बार
उनसे मिलने की
मुझे लगा फूल स
हो या घूप का
साथ लाल में मि
अपने स्वभ

किस डाली का
फूल की सुन्दरत
प्रान्त, जाति ध
की चीज है भी
इन्सानी रूप मुं

लाल जी
उनको भली-भ
एक व्यक्ति के
अनोखा व्यक्त
सरल, सरस अ
हुआ व्यक्तित्व,
ऐसे लाल में ज
प्रवाह विचारों
अथवा इनके स

लाल के
व्यवस्था दृष्टि
ध्यान निरंतर
हो रही है, उ
ओर की चीजें
से ही इनका स
का सुफल मान
व्यवस्थित है
इस व्यवस्था
मैं यह समझ
अव्यवस्थित क

पहली बार दूर से ही लाल को देखकर मुझे एक महक लगी। मैं सहज ही उनसे मिलने की इच्छा लिए उनकी तरफ चल पड़ा। जैसे-जैसे पास आता गया मुझे लगा फूल सी मुग्ध, ऐसा डॉक्टर लाल का व्यक्तित्व। चाहे फूल की सुगन्ध हो या घूप का प्रकाश या किसी व्यक्ति की मधुरता, ये तीनों तत्व मुझे एक साथ लाल में मिले।

अपने स्वभाव के अनुसार मैं गहराई में नहीं जाता कि फूल कहाँ पैदा हुआ किस ढाली का है। किस माली ने इस पीधे को जमाया और सींचा। मुझे तो फूल की सुन्दरता और महक से ही मतलब। इसी प्रकार व्यक्ति कहाँ का है, किस प्रान्त, जाति धर्म का है, यह जानने में भी मेरी रुचि नहीं रहती। और ये जानने की चीज है भी नहीं। असली चीज है—“इन्सानो धर्म”। और लाल का यही इन्सानो रूप मुझे आकृष्ट करता है।

लाल जी चाहे कथाकार हों, नाटककार या उपन्यासकार, लोग इन रूपों में उनको भली-भाँति जानते हैं और इन रूपों में वे सुप्रसिद्ध हैं। परन्तु मैं लाल को एक व्यक्ति के रूप में ही जानता हूँ और वही जानने में मुझे सुख मिला है। अनोखा व्यक्तित्व, एकाकी व्यक्तित्व, निर्भय, चिन्तनशील, सृजनशील व्यक्तित्व, सरल, सरस और अत्यन्त संवेदनशील व्यक्तित्व। और इनसे आगे अपनापन लिया हुआ व्यक्तित्व, जो मुझे हर मुलाकात पर नया दीखा। मुझे ऐसा लगता है कि ऐसे लाल में जैसे सारा संसार समाया हुआ है। जितना नजदीक जाओ धारा-प्रवाह विचारों की शृङ्खला। चाहे व्यक्तिगत जीवन हो, सामाजिक हो या धार्मिक अथवा इनके साहित्य सृजन का हो, हर क्षेत्र में जैसे भरे-पूरे हों।

लाल के व्यक्तित्व में एक बात जो मुझे बहुत अच्छी लगी, वह है इनकी व्यवस्था दृष्टि। अपने दैनिक जीवन में पठन-पाठन, लेखन के क्षणों में उनका ध्यान निरंतर छोटी-से-छोटी बात पर रहता है। जैसे जिस कागज पर लिखाई हो रही है, उसके नीचे कोई अन्यथा कागज तो नहीं आ गया है। उनके चारों ओर की चीजें अच्छी तरह व्यवस्थित हैं न? लगता है, इनकी व्यवस्था दृष्टि से ही इनका सृजन-कर्म जुड़ा होता है। वे सृजन को ही एक आन्तरिक व्यवस्था का सुफल मानते हैं। इनका विश्वास है कि जो अपने आप में स्थित है, वही व्यवस्थित है। और जो व्यवस्थित है, वही कार्यरत है। वह कार्य चाहे जैसा हो। इस व्यवस्था की दृष्टि को जब मैंने प्रत्यक्षतः इनके जीवन से जोड़कर देखा तो मैं यह समझ सकता हूँ कि आत्म व्यवस्था के कारण ही इन्हें जो-जो चीजें अव्यवस्थित कर सकती हैं, उन सबमें लालजी अछूते हैं।

आत्म व्यवस्था के लिए उनका जीवन किन-किन श्रद्धा स्रोतों से जुड़ा हुआ है, इसे जानकर मैं आनन्दित हो गया कि यह है मनुष्य के साथ-साथ एक श्रेष्ठ रचनाकार और वे श्रद्धा स्रोत हैं—माता-पिता, गुरु, अपना शरीर, अपना जीवन, अपनी जन्मभूमि, अपने लोग, देश, अपना मित्र, अपना सुख-दुख, और अपनापन, वह चाहे जैसा हो, उनका यह अपनापन चारों दिशाओं में उन्हीं के केन्द्र से अभिव्यक्त है। वह अभिव्यक्ति धर्म, जाति, साहित्य, रचना, भाषा, परम्परा आदि सभी क्षेत्रों में है। यानी इस अपनेपन में सब कुछ समाया हुआ है। चाहे अपना हो या पराया, यही है लाल के अपनेपन की व्यापकता। इसी अपनेपन ने मुझे इनकी ओर आकृष्ट किया है और मेरे ज्ञान का विस्तार होता है।

धर्म की बातें लें—लालजी का कहना है कि मंदिर में जाना धर्म नहीं है। नवम्बर ८६ में दीपावली के पुनीत पर्व पर दैनिक हिन्दुस्तान में छपा उनका लेख—“किस पात्र में क्या जल रहा है” इसे मैं कभी नहीं भूल सकता। अभावस्था की अंधेरी रात का अर्थ बताते हुए दीपक के महत्व के बारे में वे लिखते हैं—“अभावस्था की रात वह रात है जब चन्द्रमा सूर्य में समा जाता है। अर्थात् चन्द्रमा मरकर अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। और मिट्टी का वह नन्हा सा पात्र जिसका नाम ही “दिया” है उसका क्या मतलब है? अपने जीवन में किसी क्षण जीवन पात्र को खाली करो। धोओ, पोंछो। देखो उसे खालिस। खाली करके, भरने की प्रक्रिया शुरू करो। अपने जीवन को आनुष्ठानिक मृत्यु के रूप में साधो। अंधकार में खाली पात्र, खाली पात्र में तेल। तेल में बाती। पूरी बाती तेल में डूबी हुई। केवल उसका एक सिरा तेल से ऊपर उठा हुआ, दिए के पात्र तट पर माथा ऊँचा किए हुए। और उसी माथे से जलता हुआ प्रकाश। तेल-रस को पीती हुई जीवन बाती। इस तरह जलता हुआ प्रत्येक दिया एक-एक जीवन इकाई है।” ये धर्म है।

माटी के दिए रूप में उनका इशारा व्यक्ति की ओर है। “हिन्दू धर्म में संस्थायें हैं पर हिन्दू धर्म संस्थागत धर्म नहीं है। इस धर्म में भी मंदिर, गुरुद्वारा, गुरु पुरोहित, पुजारी, धर्माचार्य, महंत जैसी संस्थायें हैं। पर इन संस्थाओं को मानने वाला भी कुछ है। दिए के पात्र का संकेत इसी ओर है। मतलब—हिन्दू धर्म में सबसे अधिक महत्व दो बातों को है—एक व्यक्ति के विवेक को, दूसरे अमृत पात्र को जिसका आशय है—आत्मानुकूलता। जो मुझे प्रिय है, जो मेरे आत्मानुकूल है और जो मेरे विवेक के अनुसार है—यही है व्यक्तिगत पात्र, व्यक्ति की अपनी पात्रता। व्यक्ति का अपना दीपक, अपना दिया। हिन्दू धर्म, अपने समस्त पर्वों, अनुष्ठानों और उत्सवों को जान, और शुद्ध आचरणों से जोड़ते रहने की

सतत प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया और अखण्डता अनुभव करते हैं। इन पंक्तियों को जब उस पात्र में मैंने अपने आप धर लिया था वही धीरे-धीरे मेरी पूजा को बुझाने न देना।

से जुड़ा हुआ
एक श्रेष्ठ
अपना जीवन,
गौर अपनापन,
हैं के केन्द्र से
षा, परस्पर
हुआ है। चाहे
गो अपनेपन ने
है।

धर्म नहीं है।

उनका लेख-
अभावस्या की
लिखते हैं—
है। अर्थात्
नन्हा सा पात्र
जीवन में किसी
लिख। खाली
तु के रूप में
। पूरी बाती
दिए के पात्र
प्रकाश। तेल-
देया एक-एक

“हिन्दू धर्म में
दर, गुरुद्वारा,
संस्थाओं को
तलब—हिन्दू
दूसरे अमृत
मेरे आत्मानु-
व्यक्ति की
अपने समस्त
बढ़ते रहने की

सतत प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया की पहली विशेषता है—जीवन की निरंतरता और अखण्डता अनुभव करते रहना।”

इन पंक्तियों को जब मैंने पढ़ा तो मैं स्वयं जैसे पात्र बन गया और अपने उस पात्र में मैंने अपने आपको प्रकाशित पाया। और जो मुझे प्रकाश लग रहा था वही धीरे-धीरे मेरी पूजा में विलीन हो गया। हे प्रकाश, मेरे इस आत्मप्रकाश को बुझने न देना।

ऐसा कहाँ से लाऊँ कि तुझ सा कहें जिसे

नूरनबी अब्बासी

ठीक याद नहीं, शायद ६० का जिक्र है कि एक दिन नेशनल बुक ट्रस्ट से डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का फोन आया। अबुल हलीम शरर की पुस्तक "गुजराती लखनऊ" के हिन्दी अनुवाद पर चर्चा के लिए मुझे निमंत्रित किया और साथ ही लंच की दावत भी। ताज्जुब हुआ कि एक अजनबी जो एन० बी० टी० में संपादक के पद पर आसीन है अनुवादक को लंच पर क्यों बुला रहे हैं। खैर, मैंने निमंत्रण के लिए शुक्रिया अदा किया और नियत समय पर मीन पार्क पहुँच गया।

लाल साहब जितने जाने-माने साहित्यकार आज हैं उतने ही तब भी थे, यह और बात है कि मुझे उनकी कुछ कहानियाँ पढ़ने का ही इस्तीफा हुआ था, नाटक देखने का नहीं। बहरहाल जैसा कि ऐसे अवसरों पर प्रायः होता है मैं एक खयातनामा साहित्यकार से मिलने गया। बड़े तपाक से मिले और मेरी हिन्दी की खासी तारीफ करने के बाद पांडुलिपि में कुछ स्थलों पर मेरी उर्दूनिष्ठ हिन्दी पर आपत्ति करते हुए उन्होंने आग्रह किया कि अंकित स्थलों की भाषा उनके परामर्श के अनुसार बदल दें। लेकिन जैसा कि मेरा स्वभाव है किसी भी बड़े आदमी की बात को सिर्फ इसलिए कान दबाकर सुनना और मान लेना कि बात चाहे छोटी हो या बड़ी, सही हो या गलत—एक प्रसिद्ध साहित्यकार की है मेरे बस का नहीं। इसलिए मैंने अपनी सफाई में एक से अधिक तर्क देते हुए भाषा को यथावत् बने रहने पर जिद की और हिन्दी-उर्दू के सम्बन्ध में अपने विचार उनके सामने रख दिए। डॉ० साहब मेरी दलीलों से न संतुष्ट हुए और न ही उन्हें मेरी हेकड़ी से खुशी हुई। बहस समाप्त करते हुए बोले, "देखिए यदि आपने मेरे सुझाव न माने तो संपादक की हैसियत से मैं यह अनुवाद पास नहीं होने दूँगा और आपके पारिश्रमिक के भुगतान में ख्वाहमख्वाह देर हो जाएगी।"

"मुझे देरी मंजूर है। एन० बी० टी० के निदेशक ने अनुवाद देते समय मुझे जो हिदायतें दी थीं उन्हीं का पालन करते हुए मैंने अनुवाद किया है इसलिए

ऐसा कहाँ से लाऊँ कि तुझ

इस पर दुबारा परिश्रम क
मैं कमरे से बाहर आ गया

कुछ समय बाद मेरी
स्वीकृत तो हुआ ही मुझे

बात आई-गई हो ग
फोन पर बातचीत हुई औ

१९७२ में मेरा दफ्त
कर होख खास पहुँच गया

डॉ० लाल से मिलता चलूँ
और अखलाक से मिले जै

"अरे भई तुम्हें ढूँढने के
हो कहाँ।"

मैंने स्थिति बताई अ
आपका कुछ पैसा हमें देन

"लेकिन मैं तो अपन
"जी हाँ, लेकिन पे

गिनती हुई तो पता चला
जब मुझे हिसाब की गलत

एन० बी० टी० को हो र
मैंने फौरन कहा यह गलत

ठहराओ और इसी आशय
मुझे बड़ी खुशी हुई स

शुक्रिया अदा करके लौट
सन् ७७ में जब मैं प्र

मूर्ति मार्ग पर अपने दफ्त
अपने साथियों के साथ ग

जैसा कि होता है हाल-च
रही है जिसके लिए ऐति

और पूरा दिन पुस्तकालय
तीन वर्ष तक लगभग

प्यालो पर देश-विदेश की
कुछ अन्य गण्यमान्य विद्वा

लाल—४

ऐसा कहीं से लाऊँ कि तुझ सा कहें जिसे

४६

इस पर दुबारा परिश्रम करना मेरे लिए संभव नहीं होगा।" और यह कहकर मैं कमरे से बाहर आ गया।

कुछ समय बाद मेरी एक बैठक उनके साथ और हुई और नतीजे में अनुवाद स्वीकृत तो हुआ ही मुझे अपना पारिश्रमिक भी समय पर मिल गया।

बात आई-गई हो गई। इस बीच हम दोनों में बहुत दिनों तक न कभी फोन पर बातचीत हुई और न ही कभी मुलाकात।

१९७२ में मेरा दफ्तर केंद्रीय अनुवाद ब्यूरो रामकृष्णपुरम से स्थानांतरित हो कर होज खास पहुँच गया और एक दिन यों ही गुजरते हुए खयाल आया कि आओ डॉ० लाल से मिलता चलूँ और मैं उनके कमरे में पहुँच गया। उसी मुहब्बत और अखलाक से मिले जैसे पहली बार मिले थे बल्कि शिकायत के स्वर में बोले, "अरे भई तुम्हें ढूँढ़ने के लिए कुएँ में बाँस डलवा दिए कहीं पता ही न चला, हो कहीं।"

मैंने स्थिति बताई और ढूँढ़ने का कारण पूछा तो हँसकर बोले, "अरे भई आपका कुछ पैसा हमें देना है।"

"लेकिन मैं तो अपना पेमेंट बहुत पहले ले चुका हूँ।"

"जी हाँ, लेकिन पेमेंट हो जाने के बाद जब पुस्तक के शब्दों की दुबारा गिनती हुई तो पता चला कि आपको कुछ कम पैसे दिए गए हैं। संबद्ध क्लर्क ने जब मुझे हिसाब की गलती बताई तो मैंने पूछा गिनती की गलती का फायदा एन० बी० टी० को हो रहा है या अनुवादक को तो उसने कहा अनुवादक को। मैंने फ़ौरन कहा यह गलती तुम अपने सर न लो बल्कि इसके लिए मुझे जिम्मेदार ठहराओ और इसी आशय का नोट बनाकर ले आओ।"

मुझे बड़ी खुशी हुई उस अप्रत्याशित धन-लाभ की और मैं लाल साहब का शुक्रिया अदा करके लौट आया।

सन् ७७ में जब मैं प्रतिनियुक्ति पर संसदीय राजभाषा समिति गया और तीन मूति मार्ग पर अपने दफ्तर से एक दिन नेहरू लाइब्रेरी की कैंटीन में चाय पीने अपने साथियों के साथ गया तो क्या देखता हूँ कि डॉ० लाल भी वहाँ मौजूद हैं। जैसा कि होता है हाल-चाल पूछने के बाद पता चला कि कोई पुस्तक लिखी जा रही है जिसके लिए ऐतिहासिक तथ्य जमा करने के लिए अध्ययन कर रहे हैं और पूरा दिन पुस्तकालय में बिताते हैं।

तीन वर्ष तक लगभग रोज ही भेंट होती, एक ही मेज पर बैठ कर चाय की प्यालों पर देश-विदेश की राजनीति पर चर्चा होती जिसमें लाल साहब के अलावा कुछ अन्य गण्यमान्य विद्वान भी होते जिसमें स्वर्गीय विष्णु दत्त जी टाइम्स ऑफ लाल—४

जिसे

शानल बुक ट्रस्ट से
की पुस्तक "गुजराता
किया और साथ ही
बी० टी० में संपा-
र रहे हैं। खैर, मैंने
पर ग्रीन पार्क पहुँच

ने ही तब भी थे, यह
झाक हुआ था, नाटक
ता है मैं एक खयात-
मेरी हिन्दी की खासी
गुच्छ हिन्दी पर आपत्ति
षा उनके परामर्श के
भी बड़े आदमी की
कि बात चाहे छोटी
र की है मेरे बस का
हुए भाषा को यथा-
अपने विचार उनके
हुए और न ही उन्हें
दिखाए यदि आपने मेरे
पास नहीं होने दूँगा
जाएगी।"

अनुवाद देते समय मुझे
माद किया है इसलिए

इंडिया के सेवानिवृत्त संपादक और आई० आई० टी० में समाज विज्ञान के प्रोफेसर डॉ० अमरनाथ पांडेय भी शरीक होते थे। उन बैठकों में विद्वानों का काम चर्चित विषय पर अपने-अपने मत देना और मेरा उन्हें सुनना तथा कभी-कभार जिज्ञासावश प्रश्न करना होता था।

कभी-कभार चार-पाँच की संख्या घटकर तीन और कभी दो ही रह जाती और तब मुझे डॉ० लाल से ये बातें सुनने को मिल जातीं जिनमें उनके निजी जीवन की झंकी होती थी।

वे इलाहाबाद से दिल्ली विश्वविद्यालय में रीडर बन कर आए थे। किसी भी साहित्यकार के लिए अध्यापन से बेहतर कोई व्यवसाय नहीं जिससे एक ही समय में पेट और दिमाग दोनों की भूख शांत हो सके। आम धारणा भी यही है कि विश्वविद्यालय की नौकरी से अधिक अच्छी नौकरी—यश और अर्थ दोनों की दृष्टि से—नहीं होती। इसीलिए लाल साहब के दिल्ली विश्वविद्यालय से त्याग पत्र देकर एन० बी० टी० में नौकरी करने पर मुझे कुछ अचरज हुआ और फिर वह नौकरी छोड़कर फ्रीलांसिंग करने पर तो और भी अचंभा हुआ। बातों-बातों में पूछने पर पता चला कि विश्वविद्यालय के परिसर में सुशिक्षित जनों की भीड़ तो होती है लेकिन साहित्यिक या शाल्सीय चर्चा का वहाँ क्या काम? क्लास से निवृत्त होकर अगर स्टाफ रूम में जा बैठो तो साथी आपस में कोई अकैडमिक बात थोड़े ही करते हैं वहाँ तो किस हेड ने किस जूनियर से संबंध होने के नाते उसे एक सीनियर से पहले रीडर बनवा दिया और किसका मुँह बंद करने के लिए उसे नौकरी दे दी और दूसरे को नौकरी न दिलवाकर खामोश ही नहीं किया पैर पकड़वा लिए, बस यही बातें होती हैं। किसी साहित्यिक गुत्थी को सुलझाने, किसी लेखक, कवि या किसी की रचना पर एक दूसरे से विचार-विनिमय करने का तो वहाँ कोई अवसर ही नहीं आता। जाहिर है कि इन बातों पर क्रोध आता है और क्रोध करना न किसी व्यक्ति के और न ही शिक्षा संस्था के लिए लाभकर है बल्कि स्वयं क्रोध करने वाले को नुकसान पहुँचता है। इसलिए बजाय इसके कि मैं उसी रंग में रंग जाता मैंने वहाँ से किनारा करने में ही अपना भला समझा और त्याग-पत्र दे दिया। यही हृत् एन० बी० टी० की नौकरी का भी हुआ लेकिन मुझे अपने फैसले पर कभी पछतावा नहीं हुआ और आज दस वर्ष हो गए फ्रीलांस लेखन करके जीविकोपार्जन करते हुए लेकिन मैंने पीछे मुड़कर कभी नहीं देखा। दिन में चौबीस घंटे होते हैं जिनका उपयोग पुस्तकें पढ़ने में या जीवन-पुस्तक का अध्ययन करने में करता हूँ और जब "प्याला छलक उठता है" तो लिखने बैठ जाता हूँ।

मैंने उनकी बातों को मैंने जब कथनी को करनी आया। मैं देखता था और का है जो सुख-सुविधा की होकर कर देता है तो किए है और अपनी और अपने कम से कम सुविधाजनक ब बलिवेदी पर अपनी कलम करता है उसी को अपनी की जीवनी ही क्यों न हो प्रकाशकों से ही नहीं राज प्रसार से न वह अपनी रो लज्जित होने का अवसर दे लित साधन जोड़-तोड़ का लाभ हुआ है उसमें सिबाय का साक्षा नहीं है। हाँ, चूकता नहीं और उसे संयत कहीं-कहीं इसका उत्तर क और खीझते रहना उसका आई और उसको वह सह की उसमें शलक दिखाई दी बैठता है तो महफिल पर उसका कोई इरादा नहीं हो ज्यादा इच्छुक होता है जो काटने और अपनी बात विनम्रता-प्रदर्शन तो लेखक लेकिन डॉ० लाल वयोवृद्ध किन्तु ज्ञानवृद्ध मित्रों का चरण-स्पर्श करते भी देखा उनके श्रद्धेय को भले ही ल को नहीं। वे जो ठीक सम नहीं करते।

मैंने उनकी बातों को अक्सर सुना और वे सब मेरे गले इसलिए उतरतीं कि मैंने जब कयनी को करनी से जोड़कर देखा तो मुझे कहीं कोई झोल नज़र नहीं आया। मैं देखता था और मुझे उन पर रश्क आता था कि यह व्यक्ति कैसे जीवट का है जो सुख-सुविधा की जिदगी का त्याग यदि भावुकता के क्षणों से अभिभूत होकर कर देता है तो किए हुए निर्णय की लाज रखने के लिए परिश्रम भी करता है और अपनी और अपने घरवालों की जिदगी को अगर विलासितापूर्ण नहीं तो कम से कम सुविधाजनक बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ता। निहित स्वार्थों की बलिबेदी पर अपनी कलम की बलि नहीं देता बल्कि जो सोचता है, जो महसूस करता है उसी को अपनी रचना का विषय बनाता है चाहे वह जय प्रकाश बाबू की जीवनी ही क्यों न हो। इसके संबंध साहित्यकारों, पत्रकारों, संपादकों और प्रकाशकों से ही नहीं राजनीतिज्ञों से भी हैं लेकिन किसी मत विशेष के प्रचार-प्रसार से न वह अपनी रोटी कमाता है और न अपनी लेखनी को अपमानित या लज्जित होने का अवसर देता है। वह पुरस्कार पाने के लिए आम तौर पर प्रचलित साधन जोड़-तोड़ का सहारा नहीं लेता। उसे जो कुछ ख्याति या आर्थिक लाभ हुआ है उसमें सिबाय उसकी सबल लेखनी और मेधा के किसी और तत्त्व का सांझा नहीं है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि अपनी बात कहने में वह चूकता नहीं और उसे संयत शब्दों का लबादा पहनाने का भी कायल नहीं बल्कि कहीं-कहीं इसका उत्तर कड़वा-कसेला भी हो जाता है। लेकिन सुनकर सह लेना और खीझते रहना उसका स्वभाव नहीं। मुझसे पहली बातचीत में जो कटुता आई और उसको वह सह गया इसका कारण शायद यही है कि उसे अपने मिजाज की उसमें झलक दिखाई दी थी। जब अपने समकक्षों या अपने से छोटों में आ बैठा है तो महफिल पर छा जाने और दूसरे को अपने से कमतर बताने का उसका कोई इरादा नहीं होता, वह तो उन्हें देना कम उनसे सीखने और लेने का ज्यादा इच्छुक होता है जो कि एक विद्वान का लक्षण नहीं। दूसरे की दलील को काटने और अपनी बात को हमेशा ऊपर रखने से विद्वान का नाम होता है विनम्रता-प्रदर्शन तो लेखक या विद्वान के लिए एक डिस्म्बालिफिकेशन होता है। लेकिन डॉ० लाल दयोवृद्ध का सम्मान तो करते ही हैं मैंने उन्हें वय में छोटे किन्तु ज्ञानवृद्ध मित्रों का आदर करते ही नहीं श्रद्धाभाव प्रदर्शित करते बल्कि चरण-स्पर्श करते भी देखा है और सार्वजनिक रूप से ऐसा करते देखा है जिससे उनके श्रद्धेय को भले ही लज्जा या उलझन महसूस हुई हो लेकिन लाल साहब को नहीं। वे जो ठीक समझते हैं उसे कहते और उस पर आचरण करने में संकोच नहीं करते।

यहो वह व्यक्ति है जिसकी हर बात से—चाहे छोटी हो या बड़ी, साहित्यिक हो या साहित्येतर—दंभ की या पर निन्दा की गंध नहीं आती। उसकी नज़र दूसरे की जब पर नहीं होती, न ही वह झूठी प्रशंसा करके किसी का दिल जीतने की कोशिश करता है। अलबत्ता वह इतना सरल या अव्यावहारिक भी नहीं कि आत्मसम्मान पर होने वाले हमले को न ताड़ ले। अपने हितों के प्रति सजग भी है और दूसरों के अपने ऊपर चढ़े कर्ज की ताबड़तोड़ अदायगी का कायल भी। उसे अपने घर से बेहद लगाव है, लेकिन दूसरे को चाहे वह मित्र हो या परिचित मात्र, होने वाली धुंधली वेदना को भी अपनी टीस समझने की सामर्थ्य रखता है। मुझे याद है कि एक बार मैंने एक ऐसे व्यक्ति की बेटी की बीमारी और उसके अस्पताल में दाखिल होने की उन्हें सूचना दी जो हम दोनों के मित्र हैं। मैं बच्ची को देखने जाना चाहता था तो वह खुद भी तैयार हो गए और काफी समय बच्ची के सिरहाने बैठकर माँ-बाप को तसल्ली देते रहे। हालाँकि वे जानते थे कि वह मित्र ऐसी खबर सुनकर शायद ही किसी के घर जाना पसंद करते हों। लेकिन मित्रों या सह-व्यवसायियों से संबंध रखते समय हरेक का लेन-देन या व्यवहार का स्तर थोड़े ही निर्धारित किया जाता है, यह देखा जाता है कि ऐसे क्षण में जो मैं दूसरों से अपेक्षा करता वही मुझे करना चाहिए। लेकिन ये सब बातें किताबों में लिखी होती हैं इन पर अमल करना विरले ही जानते हैं।

मुझे डॉक्टर लाल की कोई पुस्तक पढ़ने का मौका नहीं मिला जब-जब उनकी कोई पुस्तक प्रकाशित होने को होती वे मेरे बिना कहे उसकी प्रति देने का मुझसे वादा करते लेकिन “माशुक के वादः-ए-फ़र्दा” (कल का वादा) की तरह वह पूरा कभी न हुआ। मुमकिन है षष्ठि पूर्ति के बाद उन्हें वादों का वह ढेर याद आ जाये और मुझे एकाध पुस्तक दे दें।

मुझे डॉक्टर लाल का सादा जीवन पसंद है—यहाँ सादगी से अभिप्राय जीवन में उपलब्ध सुख को सब कुछ समझ कर प्रसन्न रहने से नहीं बल्कि दिखावे से विहीन जीवन से है। आडंबर उनके यहाँ नहीं है लेकिन अच्छा खाने, अच्छा पहनने और अपनी सामर्थ्य के अनुरूप जीवन की सुख-सुविधाओं को भंगना जानते हैं। जीवन से उन्होंने जो कुछ लिया है उसका सूद समेत कर्जा चुकाना भी उन्हें भली प्रकार आता है। और इस सबका मूल शायद उनका अपना संघर्षमय जीवन रहा है जिसकी शुरुआत विपन्नता से हुई और विपन्नता यदि किसी को उसके मानवोचित गुणों से सर्वथा वंचित कर देती है तो दूसरी ओर किसी और को उन्हीं गुणों से मालामाल भी कर देती है। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल इसी दूसरी श्रेणी में आते हैं।

ऐसा कहाँ से

मेरा उन
उनके किसी
हमेशा मुझे
हैं तो उनके
काम के आद
होते हुए भी
रखना विरले
मैं उनकी
उनके दीर्घ अ
शायद अब उ

के तुझ सा कहें जिसे

या बड़ी, साहित्यिक
। उसकी नजर दूसरे
का दिल जीतने की
हारिक भी नहीं कि
ों के प्रति सजग भी
गी का क्रायल भी ।
मित्र हो या परिचित
ो सामर्थ्य रखता है ।
बीमारी और उसके
मित्र हैं । मैं बच्ची
ए और काफी समय
हालांकि वे जानते थे
ना पसंद करते हों ।
रेक का लेन-देन या
जा जाता है कि ऐसे
हूए । लेकिन ये सब
ही जानते हैं ।

मला जब-जब उनकी
प्रति देने का मुझसे
वादा) की तरह वह
वदों का वह डेर याद

मादगी से अभिप्राय
नहीं बल्कि दिखावे
अच्छा खाने, अच्छा
वेधाओं को भगना
लेत कर्जा चुकाना भी
नका अपना संघर्षमय
प्रता यदि किसी को
रो ओर किसी और
नारायण लाल इसी

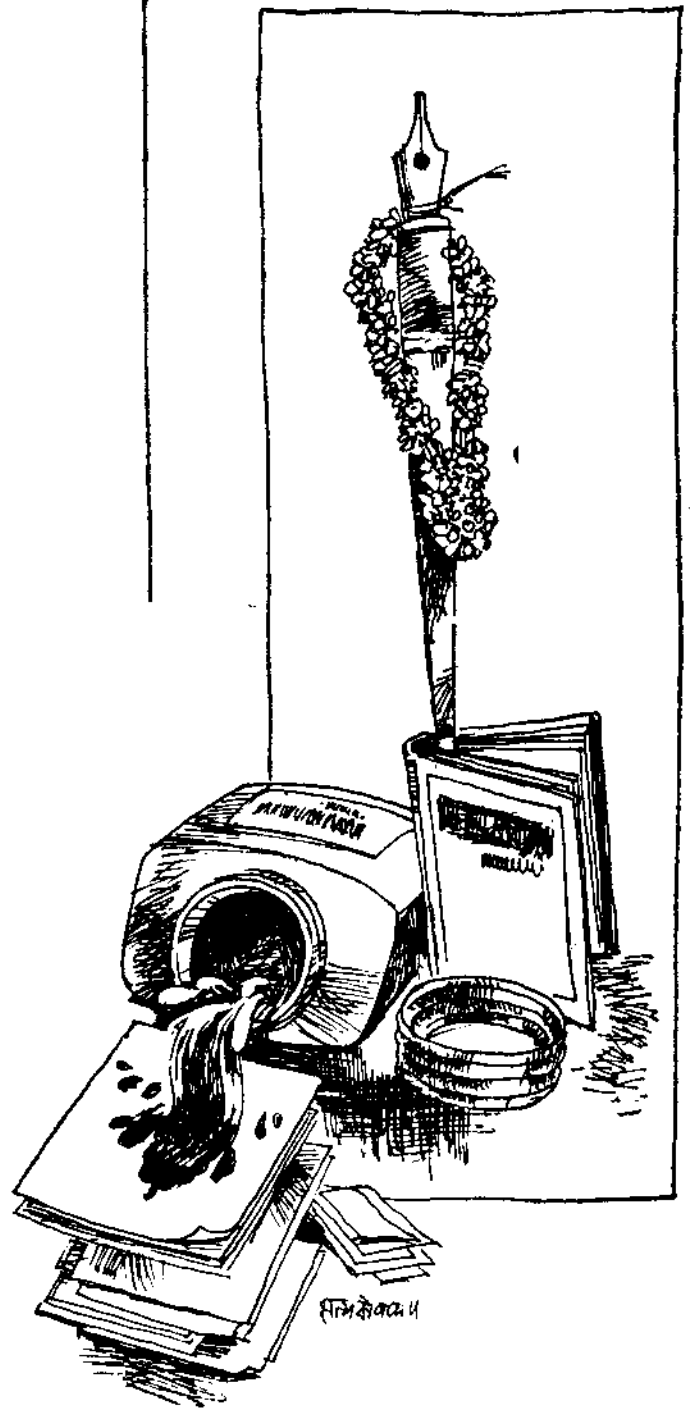
ऐसा कहाँ से लाऊँ कि तुझ सा कहें जिसे

५३

मेरा उनसे कोई स्वार्थ कभी न जुड़ा न जुड़ने की संभावना है । मैं शायद उनके किसी काम भी नहीं आया और न मुझमें ऐसी कोई खूबी है लेकिन उन्होंने हमेशा मुझे अपने अनुज का-सा स्नेह दिया है और जब भी मैं उन्हें फोन करता हूँ तो उनके स्वर से जाहिर होता है कि उन्हें मेरी आवाज सुनकर खुशी हुई है । काम के आदमी से संबंध रखना तो सभी को आता है लेकिन किसी के कुछ न होते हुए भी उसमें कोई खूबी तलाश कर लेना और उससे वर्षों स्नेह-संबंध बनाये रखना बिरले ही जानते हैं ।

मैं उनकी वृष्टिपूर्ति के अवसर पर उनका हृदय से अभिनन्दन करता हूँ और उनके दीर्घ आयुष्य की कामना भी क्योंकि इसमें मेरा एक स्वार्थ निहित है— शायद अब उन्हें अपनी पुस्तकें देने का वादा याद आ जाए ।

क
था
का
र



दोस्त कुछ कहेंगे

अमृता प्रीतम

अमृता : दोस्त ! पहली बात यह पूछना चाहूँगी कि हाथ में कलम पकड़ने का हादसा आपकी जिन्दगी में कैसे हुआ ?

लाल : ("दोस्त" शब्द सुनकर मेरी सजल आँखें अमृताजी के चरणों की ओर झुक गईं। कलम पकड़ने की अपनी स्थिति से कांप गया।) जिस चित्त में आपने "दोस्त" कहा, यह वही श्रेष्ठ सुन्दर चित्त है, जिसमें यह पूछने की क्षमता है "ततः किम्"। सच, ऐसा प्रश्न, इस संबोधन से आज तक किसी ने नहीं किया। भारतीय संस्कृति में इसी चित्त ने कहा था "वेदाहम"—मैं जानता हूँ ऐसा है वह, जो सबके सुनने योग्य है। सच, पूज्य अमृता, आप जो जानती हैं, वह मुझसे पूछकर एक गुरु की तरह मुझमें आत्मज्ञान का चिराग जलाना चाहती हैं।

उत्तर प्रदेश के जिला बस्ती के एक छोटे से गाँव जलालपुर की एक पतली सी नदी मनोरमा के तट पर बालक रूप में एक स्वर सुना था—यहाँ लोग "अपने आप" को ढूँढते हैं और प्रसन्न मुख कहते हैं—सभी को आना होगा, इस "अपने" को ढूँढने। बस्ती में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर उस समय की "माधुरी" पत्रिका में यह पढ़कर "आत्मानं विद्धि"—अपने को प्राप्त करो, कई रात तक मुझे नींद नहीं आई। अपने को ढूँढो फिर उसे प्राप्त करो, इसका क्या मतलब ? और मुझ जैसे साधारण नवयुवक के जीवन में क्या अर्थ ? मेरी ऐसी स्थिति भी नहीं कि मैं "इन्टर" के बाद आगे की शिक्षा के लिए कहीं बाहर निकल सकूँ। पर पता नहीं कैसे, किसी अज्ञात शक्ति और प्रेरणा से मैं एक दिन अपने घर से बाहर निकल पड़ा। बस्ती से अनजाने नगर इलाहाबाद। पहले से कुछ भी पता नहीं था। न कोई संग साथी, न कोई मददगार, न कोई रास्ता सुझाने-बताने वाला। उसी दुर्गम स्थिति, और विशेष परिस्थिति में मुझे वी० ए० प्रवेश का आदेश मिला। यह अगस्त सन् छियालीस की बात है। मेरे पास एक रुपया भी नहीं और एक सप्ताह

के भीतर मुझे यूनिवर्सिटी में प्रवेश के लिए कुल दो सौ दस रुपये की दरकार थी।

मेरे पास कोई रास्ता नहीं था। मैं क्या करता। फिर मुझे वही स्वर याद आया—सभी को आना होगा “अपने” को ढूँढ़ने। वह किसी विशेष मन की, व्यक्ति की, परिस्थिति की आवाज नहीं थी। मेरे अंतस के दबाव से फूटी हुई आवाज थी कि मैं अपने आपको पाने के लिए जब अपनी सीमाओं से बाहर निकला हूँ, तो सिर्फ अकेला मैं हूँ अपना। पर मैं क्या कर सकता हूँ इतने कम समय में उतने रुपये प्राप्त करने के लिए? उस समय “पोस्टल स्ट्राइक” चल रही थी। चिट्ठी-पत्री, तार, फोन सब ठप्प। वह स्ट्राइक पूरे देश के जीवन तथा मुझे असहाय बना रही थी। तर्क मुझ पर आघात कर रहा था। लगने लगा था “आवाज” का तो कहीं अन्त नहीं। कितनी आवाजों, स्वरों का कोलाहल आकाश को हिला रहा है। हाँ, यह बात तो है। बात सच भी है। सब प्रत्यक्ष भी है। सब तर्कयुक्त है। पर...पर...फिर भी, फिर भी... मेरे भीतर एक आवाज क्षीण नहीं होती। मैं अपने से बाहर निकला हूँ तो केवल “अपने” ही सहारे। अपने उस परम अकेलेपन में काँपते हुए हाथ से पहली बार अपनी वह लेखनी पकड़ी थी, जिसने लगातार तीन रातों में किसी बन्द दुकान के बरामदे में बैठाकर पहला उपन्यास लिखवाया था “रक्तदान”। उसी पाण्डुलिपि को दो सौ रुपये में खरीदा था युनिवर्सिटी रोड इलाहाबाद के प्रमोद पुस्तक प्रकाशक ने।

कलम पकड़ने के वे क्षण, तब से आज तक मुझे बार-बार याद दिलाते रहें हैं कि कलम पकड़ना अपने आप में एक आदर्श कर्म है। उसके आदर्श को सामने रखकर अपनी सारी छोटों-छोटी दासनाओं को अनुशासित करना है। अपनी कलम को जीवन के ऐसे आचार-अनुष्ठान से जोड़ा, जिससे “अपने” को ढूँढ़ने और प्राप्त करने का सुफल हाथ लगा।

अमृता : खलील जिब्रान ने एक बार भरे हुए मन से कहा था—“मैं एक ऐसे पेड़ की तरह हूँ, जो अपने पके हुए फल के भार से थक गया। चाहता हूँ, कोई आए और इस फल को तोड़ ले, चख ले। और मैं इसके भार से मुक्त हो जाऊँ। जरूर कभी ऐसा एहसास आपको हुआ होगा। कब हुआ और किस रचना की सूरत में अपनी आत्मा की अमीरी को बाँटकर एक राहत महसूस हुई।

लाल : गाँव में मेरे घर के सामने मैदान में आम की बगिया में एक वृक्ष था आम का। बिल्कुल हरा भरा, पूरा, सुन्दर और स्वस्थ। मैं तब करीब सात वर्ष का था। उस पेड़ के नीचे बैठा खेल रहा था। मेरी दादी जी दौड़ी हुई

आई और मुझे उस वृक्ष के नीचे कभी मत खेलना

जिसमें फल नहीं, उसकी हरी-भरी छाया तो बैठते हैं। यह कितना सब निष्फल। मैं दूर से जाता, यह कैसी अजीब

तब मैं दस साल का था। एक दिन आम के फलों के उसके फलों को देखकर

अब तक उस वृक्ष को ही चढ़े रहते। और दिन-दिन जवाब में अब वह फल पन दूर हो गया। अब

तब फल आने से दो वर्षों तक उसमें फल तीसरे वर्ष फिर उसमें

इस घटना से मेरे बार सोचने लगा कि वृक्ष फल में है। यह कैसा स्वार्थ ही फल है।

जब बड़ा हुआ, पढ़ा हुआ तो सोचने लगा—

फल माने नतीजा, यह था कि फल आते हैं परिणाम था उस फल का दे। छाया, उसकी हरी वह वृक्ष उसका अपना फल वह है जो उसमें उसका उपभोग कर स है ? उसे क्या मिला अ

मुझे वही स्वर याद
ती विशेष मन को,
बाब से फूटी हुई
से बाहर निकला
इतने कम समय में
न" चल रही थी।
जीवन तथा मुझे
लगने लगा था
कोलाहल आकाश
ब प्रत्यक्ष भी है।
एक आवाज क्षीण
ही सहारे। अपने
बहु लेखनी पकड़ी
में बैठाकर पहला
रूपये में खरीदा

याद दिलाते रहे
आदर्श को सामने
रना है। अपनी
अपने" को दूढ़ने

था—“मैं एक
मा। चाहता हूँ,
भार से मुक्त हो
हुआ और किस
रत महसूस हुई।
या में एक वृक्ष
मैं तब करीब
दी जी दौड़ी हुई

आई और मुझे उस वृक्ष के नीचे से खींचती हुई बोलीं—खबरदार, इस वृक्ष के नीचे कभी मत खेलना। यह असगुन है, अभागा पेड़ है। इसमें फल नहीं आता।

जिसमें फल नहीं, वह अभागा, असगुन वृक्ष। उसके नीचे कोई नहीं जाता। उसकी हरी-भरी छाया में कोई नहीं बैठता। यह कैसी बात है। पर इस पर पंछी तो बैठते हैं। यह कितना छायादार है। पर छाया से क्या, अगर फल नहीं तो सब निष्फल। मैं दूर से ही उस आम के सुन्दर वृक्ष को निहारता और सोचत रह जाता, यह कैसी अजीब बात है। फल नहीं तो जैसे यह आम का वृक्ष ही नहीं।

तब मैं दस साल का हुआ और देखा उस पेड़ में बौर आये हैं, और वह पेड़ एक दिन आम के फलों से भर गया। बहुत सारे लोग आये उस पेड़ के नीचे और उसके फलों को देखकर प्रसन्न हो गए।

अब तक उस वृक्ष का कोई मालिक नहीं था, अब सारा गाँव उसका मालिक हो गया। जो आता, डंडा मारकर फल तोड़ ले जाता। बच्चे-जवान उस पर चढ़े रहते। और दिन भर उस पर डण्डा, ईंट-पत्थर से मार पड़ती। मार के जवाब में अब वह फल देता। बड़ा ही मीठा फल। फल आने से उसका अभागा-पन दूर हो गया। अब वह सगुन वृक्ष हो गया।

तब फल आने से वह इतना पिटा, इतना तोड़ा और लूटा गया कि अगले दो वर्षों तक उसमें फिर फल नहीं लगे। तब वह फिर अभागा हो गया। जब तीसरे वर्ष फिर उसमें फल आये तो वह फिर सुभागा हो गया।

इस घटना से मेरे किशोर हृदय पर बड़ी गहरी छाप पड़ी। तब से मैं बराबर सोचने लगा कि वृक्ष अपने आप में कुछ नहीं है। उसका सारा मूल्य उसके फल में है। यह कैसा स्वार्थ है? पर उस वृक्ष का भी तो अपना स्वार्थ है। तो स्वार्थ ही फल है।

जब बड़ा हुआ, पढ़-लिखकर और जीवन का थोड़ा अनुभव पाकर वयस्क हुआ तो सोचने लगा—यह फल क्या है?

फल माने नतीजा, परिणाम। उस वृक्ष का अपना नतीजा और परिणाम तो यह था कि फल आते ही उसे पीटा जाता। उसे इतनी चोट मिलती। पर यह तो परिणाम था उस फल का। फल क्या है? जो जिसका श्रेष्ठतम है, वह दूसरों को दे। छाया, उसकी हरी-भरी पत्तियाँ, उसकी लकड़ी यह क्या उसका फल नहीं है? वह वृक्ष उसका अपना निराला अस्तित्व यह क्या उसका फल नहीं है? नहीं, फल वह है जो उसमें फलित हो, उसके भीतर से बाहर आ लगे। और लोग उसका उपभोग कर सकें। पर उस फल के प्रसंग में, उस वृक्ष का भोग क्या है? उसे क्या मिला अपने उस फल से?

वृक्ष और फल के इस प्रश्न पर सोचते-सोचते, अपने जीवन, समाज, राज-नीति, अर्थनीति को देखते-देखते मुझे एक बड़ी चीज हाथ लगी। ऐसी चीज जो हमारे जीवन, चरित्र और हमारी संस्कृति की बुनियाद है। इससे अचानक मुझे अपने भारतीय चरित्र और उसके जीवन-दर्शन का रहस्य प्राप्त हुआ।

जब किसी वृक्ष में फूल खिल उठता है तब लगता है जैसे वह फूल ही वृक्ष का एकमात्र लक्ष्य हो। लेकिन यह बात उस फूल में छिपी रहती है कि वह फूल दरअसल फल लगने का एक मात्र उपलक्ष्य मात्र है। फिर भी वह फूल अपने वर्तमान के गौरव में आनन्दित रहता है। भविष्य उसे डराता नहीं। और फूल से एक दिन फल लगने पर उस फल को देखकर लगता है जैसे वही अन्तिम लक्ष्य हो वृक्ष का। पर नहीं, वहाँ भी यह बात छिपी रहती है कि फल अपने गर्भ में भावी वृक्ष का बीज पका रहा है। वृक्ष को, फूल और फल को परिश्रम कहाँ करना पड़ता है? वह तो आनन्द है, सौन्दर्य है, पराप्रकृति है जिसमें वह सहज ही अपनी भूमिका अदा कर रहा है। वृक्ष अपना स्वधर्म पूरा कर रहा है।

फल में जब रस भर जाता है, और उसका मूदा रस में पककर तैयार हो जाता है, तब वह पका हुआ फल एक दिन अपने आप वृक्ष से अलग होकर पृथ्वी पर चू पड़ता है—अपने बीज को फिर उसी पृथ्वी में दे देने के लिए ताकि एक नया वृक्ष उग सके। बीज, वृक्ष, फूल और फल अन्त में फिर वही बीज, यह है वृत्त और रचना गति जो संगीत की तरह अबाध गति से मुझमें चल रहा है।

यही अहसास मुझे अक्सर रहा है कि मैं स्वयं अपने गाँव वाला बही पेड़ हूँ। उसकी जो गति रही है, वही मेरी है। सिर्फ कुछ को छोड़कर, जिसे मैंने किसी और दबाव में लिखा है, बाकी जो लिखता हूँ वह स्वयं रचना होती है, सहज जैसे—उपन्यासों में “बड़ी चंपा छोटी चंपा”, “मन वृन्दावन”, “पुष्पोत्तम”। नाटकों में “अन्धा कुआँ”, “व्यक्तिगत”, “बलराम की तीर्थयात्रा”, “कथा विसर्जन” आदि।

अमृता : आपकी रचना “मन वृन्दावन” मुझे लगता है, जैसे अन्तर्ध्वनि की तरह आपके भीतर से उठी है। क्या यह मात्र मेरा अहसास है या आपका भी ?

लाल : आपका अहसास बिल्कुल सही है। आपका अहसास मेरा अहसास है। यह ऐक्यबोध ही तो आपको इतना श्रेष्ठ, ईमानदार लेखक बनाए रखता है। अपने चैतन्य को जो सभी के अन्तर में स्थित पाते हैं, वही तो ज्ञानी हैं। आप वहीं हैं, तभी अहसास की बात आप पूछ रही हैं।

अपनी बात कहूँ—“मन वृन्दावन” क प्रसंग में। मुझ जैसे सहज-साधा-

रण लेखक “मन वृन्दावन” पाते हैं। अर्थात् एक-दूसरे द्वारा। पृथ्वी पर ऐसे बा आप प्रकाशवान हैं, जिनका अहसास है। मैं अपने प्राण अनुभूति मेरी अन्तर्ध्वनि है राम, सुबन्धु, सुगन और दिख जाए अपने आपको, है। अगर मन से मुक्ति न कुक्षेत्र—लड़ाई का मैदान देखिये :

“सुबन्धु यात्रा में खो रही है, कब तक चलती वह अपूर्व है। कल के विशोर कम हो गया है। गा

इसी यात्रा में कभी यूनानी महामुन्दरी क्लिस भी आगे आया था, अपनी हैब्वर, विक्टर जेकेमाउंट खोजने।

आज यहाँ आए हैं उदास लोग। और भाव गुरु कर इतनी दूर बढ़का आया है तो कोई अपने उ

इस यात्रा में सुबन्धु वह सुबन्धु के साथ बिन घर में बिल्कुल पीछे वाले रही थी। सुगन ने कहा हैं।”

सुबन्धु ने उत्तर दिया चलना ही होगा।” “आखिर क्यों ?”

जीवन, समाज, राज-
गी। ऐसी चीज जो
इससे अचानक मुझे
पता हुआ।

जैसे वह फूल ही वृक्ष
रहती है कि वह फूल
भी वह फूल अपने
पता नहीं। और फूल
से वही अन्तिम लक्ष्य
कि फल अपने गर्भ में
फल को परिश्रम कहाँ
है जिसमें वह सहज
कर रहा है।

में पककर तैयार हो
से अलग होकर पृथ्वी
ने के लिए ताकि एक
फेर वही बीज, यह है
झमें चल रहा है।

बंदा वाला वही पेड़ है।
इकर, जिसे मैंने किसी
रचना होती है, सहज
वन", "पुरुषोत्तम"।
यात्रा", "कथा विस-

है, जैसे अन्तर्ध्वनि की
अहसास है या आपका

अहसास मेरा अहसास
लेखक बनाए रखता
है, वही तो ज्ञानी है।

मुझ जैसे सहज-साधा-

रण लेखक "मन वृन्दावन" जैसी कृतियों के द्वारा ही अपना परिचय, पहचान दे पाते हैं। अर्थात् एक-दूसरे के द्वारा—सुबंधु, हिरण्यमयी, सुगन, पतितराम के द्वारा। पृथ्वी पर ऐसे बहुत कम लेखक-रचनाकार या पुरुष हुए हैं जो अपने आप प्रकाशवान हैं, जिनका आलोक, प्रतिबिम्बित आलोक नहीं है। मेरा यही अहसास है। मैं अपने पात्रों के प्रतिबिम्बित आलोक से ही प्रकाशवान हूँ। यही अनुभूति मेरी अन्तर्ध्वनि है जो "मन वृन्दावन" जैसी रचनाओं में उठी है। पतितराम, सुबंधु, सुगन और हिरण्यमयी के ही प्रकाश में देखा है कि अपना मन अगर दिख जाए अपने आपको, तो वह मन कट जाता है, मन से मुक्ति ही वृन्दावन है। अगर मन से मुक्ति नहीं, मन के ही संसार में जो बन्दी है, फिर तो वहीं है कुक्षेत्र—लड़ाई का मैदान। सतत नर्क की दुनिया। मन वृन्दावन का एक दृश्य देखिये :

"सुबन्धु यात्रा में खो गया है। इतनी बड़ी यात्रा न जान कब से यह चल रही है, कब तक चलती रहेगी। पर अब यह यात्रा जिस बिन्दु पर पहुँची है, वह अपूर्व है। कल के दिन में और आज के दिन में बहुत अन्तर है। यात्रा में शोर कम हो गया है। गाने वाले लोगों की आवाज में अब थकन आ गयी है।

इसी यात्रा में कभी महात्मा बुद्ध आये थे आन्नपाली के साथ। इसी में वह यूनानी महासुन्दरी क्लिसांबोरा भागकर आयी थी। मुना है, एक फ्रांसीसी यात्री भी आगे आया था, अपनी इतावली प्रेमिका गार्बा के संग। फिर आये यहाँ विश्वप हैब्वर, विक्टर जैकेमाउंट और ग्राउन, पश्चिम से निराश यहाँ आध्यात्मिक शांति खोजने।

आज यहाँ आए हैं उत्तरशती के लोग। चोर, डाकू, नास्तिक, हारे-थके, उदास लोग। और भावनामयी, निष्ठामयी हिरन, प्रेममयी सुगन, कुछ नहीं से शुरू कर इतनी दूर बढ़कर आ पहुँचा है वह पतितराम। कोई यहाँ इतिहास ढूँढ़ने आया है तो कोई अपने अभाव का अर्थ।

इस यात्रा में सुबन्धु को ले आने के लिए जिम्मेदार है, वही सुगन। जैसे वह सुबन्धु के साथ बिना इस यात्रा में नहीं आ सकती थी। सुबन्धु तब उसके घर में बिल्कुल पीछे वाले कमरे में गिलास थामे बैठा था। सामने सिगरेट जल रही थी। सुगन ने कहा था—“चलो मेरे संग, मैं तुम्हारे भले के लिए कह रही हूँ।”

सुबन्धु ने उत्तर दिया था, “मेरा सोचने वाली तुम कौन हो? तुम्हें मेरे संग चलना ही होगा।”

“आखिर क्यों?”

“यह यात्रा ब्रज की है, श्रद्धा और विश्वास की यात्रा। चलो, तुम्हें वहाँ अपना खोया हुआ विश्वास मिलेगा।”

“नहीं, मैं नहीं जाऊँगा।”

“आखिर क्यों?”

“तुम इतनी भोली हो? इतने बड़े आदमी की स्त्री मेरे संग उस यात्रा में चले। और मैं?... मैं जो कोई नहीं हूँ... किसी का जो कुछ नहीं हूँ... यहाँ तक कि अपना भी नहीं। जो मेरे साथ चलेगा, उसे नुकसान उठाना पड़ेगा—मैं झूठ नहीं बोलता।”

“तो नुकसान मेरा होगा न।”

“मेरा नहीं हमारा।”

सुगन ने हँसकर सुबन्धु के कन्धे पर हाथ रख दिया था। उसके हाथ का गिलास काँपकर फर्श पर गिर पड़ा था। शीशा टूटकर बिखर गया था। पूरे कमरे में शराब की गंध भर गई थी।

आज वही यात्रा चलते-चलते यहाँ तक आ पहुँची है। लगता है, जितनी बड़ी यात्रा अब तक समाप्त हुई है, उमसे कहीं अधिक कठिन यात्रा अभी आगे है।... अन्त में है।

पतितराम ने सुबन्धु से कहा, “अब भी तुममें कोई फ़रक नहीं आया, बाबू? लगता है, बड़े भारी अहंकारी हो तुम। तुम सोचते हो, सारी दुनिया तुम्हारे लिए मर जाय और तुम जिन्दा रहो। तुम किसी की कीमत नहीं जानते। मैं मानता हूँ, तुमने कभी किसी को कुछ दिया होगा, और जब तुम्हें तुम्हारी समझ के मुताबिक नहीं मिला, तो सर्प की तरह सब से तुम्हारा अहंकार फनक रहा है।”

सुगन चिल्ला उठी, “पतितराम”। पतितराम दोनों हाथ जोड़कर बोला, “बहू माँ, मुझे आज तुम गोली से उड़ा दो, मुला आज मुझे पूरी बात कह लेने दो।”

सुगन ने सुबन्धु की ओर देखा—सुबन्धु चुप था। पतितराम के कन्धे पर बहंगी नाच उठी थी।

वह आगे बोला, “उसी अहंकार ने तुम्हारे भीतर आग लगा रखी है। उसी में तुम्हारा सब कुछ भस्म हो रहा है। और तुम दोष लगाते फिरते हो दूसरे पर। एक ही बार दिया है न तभी इतना अहंकार है... अरे भइया पूरी जिन्दगी महज देना पड़ता है—यही है प्राप्ति।”

सुबन्धु एकटक पतितराम का मुँह देखता रहा। पतितराम के हाँठ फड़क

रहे थे। उसके मुँह में बीमारी घुस गई है।

सुगन ने एकाएक पतितराम को जमाया। तुम कैसी हो।

“यह सब आज बोला। “माँ, मैं भी कहा है, वह अपने अगर तुम मुझे न मि कर वही तिलचट्टा क उड़ता नहीं...” सदा कभी खुलकर बोलता

यह कहकर पति

अमृता : कुछ उनकी बात कहिए चिंतन की सुरत में मस्तिष्क में अमिट

लाल : बचपन वर्षों तक, जो हृदय प्राप्त नहीं हुए। सो पाया कि प्रायः सब है। एक क्षण अपने जीवन से मुखी है? जीवन क्या है?

मैं एकटक उन तार-तार करती हुई सोचता है कि वह अ पर है।

मेरी जिन्दगी में को प्रणाम और प्या कर जैसे मैं अपने जी हूँ। मैं जानता हूँ वह

स की यात्रा। चलो, तुम्हें वहाँ

की स्त्री मेरे संग उस यात्रा में
को जो कुछ नहीं हैं... यहाँ तक
नुकसान उठाना पड़ेगा—मैं झूठ

रख दिया था। उसके हाथ का
शा दूटकर बिखर गया था। पूरे

पहुँची है। लगता है, जितनी
अधिक कठिन यात्रा अभी आगे

में कोई फ़रक नहीं आया, बाबू ?
चते हो, सारी दुनिया तुम्हारे
सी की कीमत नहीं जानते। मैं
, और जब तुम्हें तुम्हारी समझ
से तुम्हारा अहंकार फनक रहा

तराम दोनों हाथ जोड़कर बोला,
आज मुझे पूरी बात कह लेने

था। पतितराम के कन्धे पर

मीतर आग लगा रखी है। उसी
शेष लगाते फिरते हो दूसरे पर।

अरे भइया पूरी जिन्दगी महज

हा। पतितराम के होंठ फड़क

रहे थे। उसके मुँह में आज शब्द नहीं अँट रहे थे, “हाँ, हाँ, तुम्हारे अहंकार में
बीमारी घुस गई है। तुममें है क्या, जो दुनिया तुम्हें...”

सुगन ने एकाएक पतितराम के मुँह पर तमाचा जड़ दिया, “बुप रह !”

पतितराम को जरा भी चोट न लगी। उसने बड़े कोमल स्वर में कहा, “बहू
माँ। तुम कैसी हो। लगता है, तुम पागल हो गई हो।”

“यह सब आज तू क्या बक रहा है, पतितराम ?” सुगन ने कहा। पतितराम
बोला। “माँ, मैं भी इसी तरह अहंकारी था, मैं सब जानता हूँ, मैंने जो कुछ भी
कहा है, वह अपने लिए भी कहा है।... विश्वास करो, बहू माँ, इस दुनिया में
अगर तुम मुझे न मिली होती, तो मैं जरूर कहीं आत्महत्या कर लेता और मर-
कर वही तिलचट्टा कीड़ा होता... अंधेरे में रहने वाला, जिसके पंख हैं—पर वह
उड़ता नहीं... सदा छिपकर चोर की तरह घूमता रहता है। कभी गाता नहीं,
कभी बुलकर बोलता नहीं।

यह कहकर पतितराम सुबन्धु के सामने माथा झुकाकर खड़ा हो गया।”

अमृता : कुछ व्यक्तिगत प्रभाव आपकी आत्मा में समाए हुए होंगे, कुछ
उनकी बात कहिए। वे प्रभाव चाहे मुहब्बत की सूरत में, या ममता के या
चितन की सूरत में। लेकिन बात कुछ ऐसे क्षणों की कहिए जो आप के मन-
मस्तिष्क में अमिट हो गए हों।

लाल : बचपन में, जब से होश हुआ, तबसे लेकर जीवन के करीब पच्चीस
वर्षों तक, जो हृदय से चाहा, जिसकी कामना की, जिसके स्वप्न देखे, वे कभी
प्राप्त नहीं हुए। सोचा, शायद यही जीवन है। अपने आस-पास गौर से देखा,
पाया कि प्रायः सबको यही दशा है। फिर तो पक्का हो गया कि यही जीवन
है। एक क्षण अपनी कल्पना की एक सुंदरी मित्र से मैंने पूछा—आप अपने
जीवन से मुखी हैं ? उन्होंने मेरे होठों को चिंगोटी काटकर कहा—बताओ न,
जीवन क्या है ?

मैं एकटक उनका मुख निहार रहा था। वह अपने जूड़े से फूल खींचकर उसे
तार-तार करती हुई कह रही थीं—जो जहाँ है अपने जीवन में वह हर वक्त यही
सोचता है कि वह अपनी सही जगह नहीं है, पर दरअसल वह अपनी सही जगह
पर है।

मेरी जिन्दगी में वह क्षण ऐसा है जो मेरे अंतस में अमिट है। मैं उस क्षण
को प्रणाम और प्यार दोनों एक साथ करता हूँ। उसी से प्रेरित उत्साहित रह
कर जैसे मैं अपने जीवन और लेखन को प्रणाम और प्यार दोनों एक साथ करता
हूँ। मैं जानता हूँ वह क्षण मेरे लक्ष्मी के ललाट पर एक काले तिल के भी बरा-

बर नहीं है, पर मेरे आगे के जीवन में वही क्षण मेरी भूमि (चित्त) माता के नवजात, श्यामल शिशु की तरह है। वही शिशु, बालक मेरा लेखक मेरा रचनाकार है। वह जब जहाँ होता है, करता है जो कुछ, मैं लक्ष्मीनारायण लाल उसके पास पिता-माता रूप में खड़ा रहता हूँ ताकि कोई उसे किसी तरह की बाधा-विघ्न न पहुँचा सके। वह कहीं जरा भी डरे-गिरे नहीं।

कभी इसके ठीक उल्टा होता है। मैं कभी लिखता, करता, सोचता, पढ़ता, देखता, जीता हूँ तो मैं अपना वही शिशु मैं अपना कही बालक मेरे “मैं” की रखवाली और रक्षा में लक्षावधि निश्चल खड़ा पाता हूँ। वह मुझे जगाए रखता है। मुझसे हठ करता है—कोई कथा कहो, मेरे लिए कोई और नाटक लिखो। मुझे टहलाने ले चलो। मेरे साथ रहो। सच, वही मेरी भूमि का रंग है, वही मेरी भूमि है, मैं उसका रंग हूँ।

उसी ने मुझे अपनी भारतमाता से मिलाया। उसी ने मेरे अंतस में धर्म संस्कृति के रहस्य खोले। उसी ने मुझे महात्मा गाँधी से मिलाया। अपने देश समाज और “अपनेपन” से परिचित कराया। उसने मुझे कितनी अमूल्य वस्तुएँ दीं। भाव दिए, जीवन मूल्य दिए मित्र, परिवार दिए, जीवन की जानकारी, सतत जिज्ञासा भाव और न जाने क्या-क्या दिए।

तथाकथित आधुनिक लेखकों के तत्वज्ञान पर मेरा कोई अधिकार नहीं। मैं एक निबोध मनुष्य हूँ—व्यक्ति से आगे गया हुआ। श्रद्धा-विश्वास को जीता हुआ। विश्व पर, जगत पर, मनुष्य मात्र पर, अपने जीवन पर, मैं कभी संदेह नहीं करता।

अमृता : एक बहुत ही राजदाना बात बताइये। कभी आपके सपनों में कोई संकेत देकर आपकी किसी अधूरी रचना को पूरी करने में किसी ने मदद की है ?

लाल : मेरा विश्वास है, अनुभव भी, कि जो स्वतंत्र है, वही एक हो सकते हैं। वही हमें मिलते हैं, यहाँ तक कि स्वप्न में भी। अपने जीवन में ऐसा दो बार हुआ है। पहली बात कलकत्ते के मित्र स्वर्गीय कमलाकांत वर्मा से जुड़ी हुई है। पुरानी दिल्ली, नई दिल्ली की पृष्ठभूमि पर उपन्यास लिखने की सामग्री ढूँढ़ रहा था। अनुसंधान, शोधकार्य पूरा कर चुका था। कुछ लिखकर पूरा भी कर चुका था। लेकिन न कोई उचित नाम सूझ रहा था, न वह केन्द्र बिन्दु पा रहा था, जहाँ से उपन्यास की कथा, पात्र रचना को स्वरूप दे सकूँ। तब कमलाकांत जी, जो अपने समय के प्रसिद्ध कहानीकार थे, वह जब भी दिल्ली आते, संगीत-शास्त्र में श्रुतियों पर शोध कार्य के सिलसिले में, कृपाकर ईस्ट पटेलनगर के मेरे निवास पर ही ठहरते। उनसे हम रात को तुलसी के भजन सुनते। खासकर

“श्रीरामचन्द्र कृपाल भक्त
स्वर में गाते हारमोनियम
उन्हें नहीं बतायी। एक
भाषा में बोले—बताओ
जवाब दिया—सबसे बड़ा
ओर अहंकार है, तो वह

मेरे उपन्यास का रंग

उसका नामकरण भी कर

दूसरी बात १९७७

हुआ कि, यह जो हमारा

राज्य के नाम पर जो र

समय से क्या रिश्ता है,

लिए बड़बोलापन न सम

सिद्धार्थ के सामने यह प्रश्न

क्या है, यह जगत क्या है

आया कि यह हमारी राज

यह प्रश्न तब मेरे भ

प्रकाश का जीवन-चरित्र

साथ था। मेरे भीतर इ

१९७५ की मुबह। इस प्र

जितना कुछ पढ़ा, सोचा,

है। परंतु इस प्रश्न के स

तक राज्य समाज के अधी

जिस समय से राज्य समा

जहाँ जितना अभाव हो

एकमात्र लक्ष्य है शक्ति हा

इनसे धीरे-धीरे इनकी

राज्य का रूप देती है, वह

धर्म के स्वामित्व से हाथ

चरित्र है। इस चरित्र में

यहाँ इस क्षेत्र में आकर ह

का राजा नहीं। ऐसा क्य

भूमि (चित्त) माता के मेरा लेखक मेरा रचना-शमीनारायण लाल उसके से किसी तरह की बाधा-

, करता, सोचता, पढ़ता, श्री बालक मेरे "मैं" की । वह मुझे जगाए रखता होई और नाटक लिखो । रो भूमि का रंग है, बही

उसी ने मेरे अंतस में धर्म से मिलाया । अपने देश के कितनी अमूल्य वस्तुएँ, जीवन की जानकारी,

कोई अधिकार नहीं । मैं श्रद्धा-विश्वास को जीता जीवन पर, मैं कभी संदेह

आपके सपनों में कोई किसी ने मदद की है ? है, वही एक हो सकते जीवन में ऐसा दो बार त वर्मा से जुड़ी हुई है । लिखने की सामग्री ढूँढ़ लिखकर पूरा भी कर वह केन्द्र विन्दु पा रहा सकूँ । तब कमलाकांत के दिल्ली आते, संगीत-कार ईस्ट पटेलनगर के भजन सुनते । खासकर

"श्रीरामचन्द्र कृपाल भञ्जु मन हरण भवभय दारुण" का गायन । अजब संगीत स्वर में गाते हारमोनियम बजाकर । मैंने चाहकर भी अपने उपन्यास की समस्या उन्हें नहीं बतायी । एक रात सपने में वही कमलाकांत जी आए । न जान किस भाषा में बोले—बताओ लाल, किस चीज का दान सबसे बड़ा दान है ? उन्होंने जवाब दिया—सबसे बड़ा दान अहंकार का होता है । प्रेम में अगर किसी भी ओर अहंकार है, तो वह अपवित्र है ।

मेरे उपन्यास का उन्होंने संकेत-भाषा में केन्द्रविन्दु ही नहीं दिया, बल्कि उसका नामकरण भी कर दिया, "प्रेम अपवित्र नदी" ।

दूसरी बात १९७७ की है । जिस दिन मुझे यह प्रश्न अपने आपसे प्राप्त हुआ कि, यह जो हमारा वर्तमान राज्य है, राजनीति है, यह है क्या चीज ? राज्य के नाम पर जो राजनीति चल रही है, इसका हमारे जीवन से, देश से, समय से क्या रिश्ता है, क्या प्रसंग है और क्या अर्थ है ? अगर यह कहना मेरे लिए बड़बोलापन न समझा जाए तो मुझे यह कहने की अनुमति दे कि जैसे सिद्धार्थ के सामने यह प्रश्न उनके भीतर से उनके सामने आया था कि यह जीवन क्या है, यह जगत क्या है—ठीक उसी प्रकार मेरे सामने मेरे भीतर से यह प्रश्न आया कि यह हमारी राजनीति क्या है ?

यह प्रश्न तब मेरे भीतर अपना पूर्ण स्वरूप नहीं ले सका था, जब मैं जय-प्रकाश का जीवन-चरित्र लिख रहा था, या बिहार आन्दोलन में जब मैं उनके साथ था । मेरे भीतर इस प्रश्न ने अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्राप्त किया २६ जून १९७५ की सुबह । इस प्रश्न के आगने-सामने खड़ा होकर, इसके साक्षात्कार में जितना कुछ पढ़ा, सोचा, पाया खोया, उसे बता पाना कठिन है—शायद असंभव है । परन्तु इस प्रश्न के संदर्भ में जो पहली बात मेरे हाथ लगी वह यह कि जब तक राज्य समाज के अधीन था, तब तक राजनीति नहीं राज्यधर्म था, परन्तु जिस समय से राज्य समाज पर हावी हुआ, उस क्षण से राजनीति शुरू हुई । जहाँ जितना अभाव होगा वहाँ उतनी ही राजनीति होगी । राजनीति का एकमात्र लक्ष्य है शक्ति हासिल करना । शक्ति का स्रोत है मनुष्य और समाज—इतने धीरे-धीरे इनकी शक्ति हथियाकर एक दिन राजनीति जिस सत्तावादी राज्य का रूप देती है, वहाँ मनुष्य और समाज अन्ततः अपने हित, कल्याण और धर्म के स्वामित्व से हाथ धो बैठता है । आज भारतीय राजनीति का यही मूल चरित्र है । इस चरित्र में केवल "राज" है, "नीति" गायब होती चली गई है । यहाँ इस क्षेत्र में आकर हर कोई जैसे पश्चिम का किंग बनना चाहता है । भारत का राजा नहीं । 'ऐसा क्यों हुआ ? अंग्रेजों ने इस देश को जो राज्य व्यवस्था

दी उसका केवल एक ही लक्ष्य था कि उस व्यवस्था से वे इस देश पर राज करें— और राज्य का केवल यही उद्देश्य था कि इस देश को वे लुटें और हर तरह से यहाँ की जनता का शोषण करें।

इस विषयवस्तु पर मैं अपना लेखन कार्य सम्पन्न कर चुका था। पर मुझे पुस्तक के लिए इसका उचित नाम नहीं सूझ रहा था।

नागपुर के मेरे अभिन्न मित्र प्रख्यात लेखक, पत्रकार अनन्य हिन्दी सेवी अनंत गोपाल शेरवड़ेजी एक रात सपने में आए। मुझे इस क्षण भी उस सुगंधि की अनुभूति हो रही है, मेरे पास आते ही कमरा चंदन की गंध से भर गया। उन्होंने पुस्तक का नामकरण किया “निर्मूल वृक्ष का फल”। और अदृश्य हो गए। मेरी आँख खुली, तब भी उन्हें ढूँढ़ता रहा। और आज भी, जब वे दोनों मित्र इस प्रत्यक्ष जगत में नहीं हैं, मैं इन्हें नहीं भूल पाता।

कहना चाहता हूँ, मेरी दुनिया में तर्क करने के लिए उस तरह के प्रश्न नहीं हैं, जैसे प्रश्न मेरे साथ के लोग पश्चिम का साहित्य पढ़कर करते हैं।

अमृता : जिंदगी से जो किरदार आपने लिए, जरूर कभी उन लोगों ने आपकी रचना के आडने में खुद को देखा होगा। उसकी प्रतिक्रिया उन पर क्या हुई, कुछ कहेंगे ?

लाल : अमृताजी, मेरा लेखन, गायन की तरह है, जो प्रतिक्षण संचल रहता है। जैसे गायन ठीक उसी तरह मेरा लेखन है। इसका मूल कारण है कि मेरे सारे लेखन का आधार जीवन है। मेरे सारे पात्र जीवन के चरित्र हैं। जीवन से लिए गए चरित्र से जब पात्र बनाया जाता है, तब उसमें बनाने वाले का भी अंश स्वभावतः आ ही जाता है। इससे एक विशेष आकर्षण मेरे उन चरित्रों को हुआ है, जो मेरी रचनाओं के पात्र हैं। इस संबंध में तीन चरित्रों-पात्रों की चर्चा आवश्यक है। पहला “अंधाकुआँ” नाटक की सूका, दूसरा “सुंदरी” कहानी की नायिका, तीसरा मन वृन्दावन का सुबंध। सूका काकी मेरे गाँव मेरे घर के पिछवाड़े की थीं, बे-पढ़ी लिखीं। उन्हें न जाने किससे कैसे मेरे नाटक “अंधा कुआँ” की कथा और सूका के बारे में पता चला। किसी ने उन्हें पढ़कर सुनाया भी। सूका के रूप में काकी अपने आपको देखकर, कई दिनों तक चुप हो गई थीं। एक बार जब हमारी भेंट हुई तो पहले वह खिलखिलाकर हँसीं। फिर मुस्कान भरे मुख से बोलीं—“हे हो लाल भइया, ई नाटक हम पै लिक्ख्यो है ?”

—“हाँ, क्यों काकी, कोई गलत बात तो नहीं लिखा ?”

मूँह में अपने आंचल का एक छोर भरकर वह चुप हो गई। उनकी आँखों से जो आँसू बहते देखा, मेरे होश उड़ गए। उनके सामने खड़ा रह पाना संभव

नहीं था। तब तक का

काकी हँसने लगी और फटे होठों के बीच रही थी—जो कोई मे बलाओ, क्या मेरे इत सूका नामक पात्र को आप को मैंने स्वयं दे

“सुन्दरी” कहान आँखें छोटी, रंग का लड़ाई। पति की मा करती, उत्तम। अवगु उसकी पत्नी हो गई के साथ भाग सकती है अलग ही रहता। वह चरित्र मेरी समुराल के दी। वह बहुत खुश। शृङ्गार कर कहीं दूर देख लूँ। उसने कभी मुझे आकृष्ट किया।

“मन वृन्दावन” में जब यह उपन्यास चरित्र को सुबंध के प साधु चोला भी धारण बड़े विचलित थे। पह दिन बोले—तुमसे सच मैं वह नहीं बना रह स अब बोलो क्या करूँ ?

यही प्रश्न सुबंध ने मुझसे जो स्वीकार लाल तुम्हारा “मन वृन्दावन” लाल—५

देश पर राज करें—
लूटें और हर तरह से

चुका था। पर मुझे

अनन्य हिन्दी सेवी
ण भी उस सुगंधि की
से भर गया। उन्होंने
अदृश्य हो गए। मेरी
ब ये दोनों मित्र इस

स तरह के प्रश्न नहीं
करते हैं।

कभी उन लोगों ने
प्रतिक्रिया उन पर

प्रतिक्षण सचल रहता
ल कारण है कि मेरे

चरित्र हैं। जीवन
बनाने वाले का भी

मेरे उन चरित्रों को
चरित्रों-पात्रों की

रा “सुंदरी” कहानी
मेरे गाँव मेरे घर के

से मेरे नाटक “अंधा
उन्हें पढ़कर सुनाया

दनों तक चुप हो गई
लाकर हँसी। फिर

म पै लिक्ख्यो है ?”
”

गई। उनकी आँखों
बड़ा रह पाना संभव

नहीं था। तब तक काकी भरे कंठ से बोली—‘का तू हमारे दुखदर्द की बात कहे
हो ? नहीं कौन कहि सके ऊ ?’

काकी हँसने लगी थीं। वह निर्मल हँसी, जो डंडों की मार से टूटे दाँतों
और फटे होठों के बीच से उमड़ रही थी, वह अपनी संकेत भाषा में मुझसे कह
रही थी—जो कोई मेरे चरित्र पर दोष लगाएगा तो वह दोष मुझे लगेगा ?
बताओ, क्या मेरे इतने आँसू मेरी लज्जा नहीं ढकेंगे ? साक्षात काकी ने अपने
सूका नामक पात्र को आड़ने की तरह ‘मेरे सामने रख दिया था। उसमें अपने
आप को मैंने स्वयं देखा—सूका के पैरों पर एक आँसू का बूँद टुलक गया था।

“सुंदरी” कहानी की नायिका देखने में इतनी असुंदर थी कि क्या कहूँ।
आँखें छोटी, रंग काला, दाँत निकले हुए। न कोई गुण न शऊर। पति से
लड़ाई। पति की मार, गाली-गलौज। पर उसमें एक गुण था। जो भी काम
करती, उत्तम। अवगुण यही था कि जिसे एक बार देखा, उसी के साथ भागकर
उसकी पत्नी हो गई थी। इसलिए पति को हमेशा यही डर कि वह फिर किसी
के साथ भाग सकती है—इसलिए उसे लेकर हमेशा गाँव बस्ती से दूर कहीं सबसे
अलग ही रहता। वही मेरी “सुंदरी” के रूप में मेरी कहानी में आयी। वह
चरित्र मेरी समुराल के गाँव का है। वह कहानी भी किसी ने पढ़कर उसे सुना
दी। वह बहुत खुश। जब भी मैं अपनी समुराल फरीदपुर गाँव गया, वह पूरा
शृङ्गार कर कहीं दूर से मुझे देखती। तब तक देखती रहती, जब तक मैं उसे न
देख लूँ। उसने कभी भी मुझसे कोई बात नहीं की। सिर्फ अपनी सुंदरता से
मुझे आकृष्ट किया।

“मन वृन्दावन” का सुबंधु मेरे अपने एक मित्र का ही चरित्र है। “धर्मयुग”
में जब यह उपन्यास धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा था, तब वह अपने
चरित्र को सुबंधु के पात्र में पढ़ रहे थे। दुनिया के लिए वह साधु हो गए थे।
साधु चोला भी धारण कर लिया था। पर सुबंधु के रूप में अपने को देखकर
बड़े विचलित थे। पहले मुझसे लड़े-झगड़े। अपने आपको भी दुख दिया। एक
दिन बोले—तुमसे सच कह रहा हूँ—लाल तुमने ऐसा क्यों चित्र बनाया ? अब
मैं वह नहीं बना रह सकता जो मैं नहीं हूँ। वह नहीं जी सकता जो मैं नहीं हूँ।
अब बोलो क्या करूँ ?”

यही प्रश्न सुबंधु ने “मन वृन्दावन” में स्वयं से किया है। जीवन में सुबंधु
ने मुझसे जो स्वीकार किया, उसे मैं कभी नहीं भूलूँगा। उसने मुझसे कहा कि
लाल तुम्हारा “मन वृन्दावन” पढ़कर मैं यह कभी नहीं मानूँगा कि एक का भला,
लाल—५

दूसरे के बिनाश से ही संभव है। मारूंगा, हर एक को अपनी इच्छानुसार जीने का अधिकार है।

अमृता : आप कुछ देर राजनीति से भी जुड़े रहे थे—शायद सियासत से नहीं, सियासतदानों से, फिर बाद में कुछ पछतावा हुआ कि नहीं ?

लाल : यह बड़ा दर्दनाक सवाल पूछा। इस सवाल ने मुझे बहुत भटकाया। बड़ी तकलीफें दीं। पर इस सवाल के उत्तर पाने की प्रक्रिया में मैंने जो समझ पाई, वह मेरे लिए अमूल्य निधि-सी साबित हुई। सवाल के उत्तर ढूँढ़ने में मैंने सप्रमाण देखा कि आज हम जिस राज्य और उसकी राजनीति को देख रहे हैं वह “इंडिया” की डिमोक्रेसी “पश्चिमी” से उत्पन्न राजनीति है, भारत के लोक-तंत्र या जनतंत्र की राजनीति नहीं। पश्चिम में उसकी अपनी डिमोक्रेसी और उसकी राजनीति का चरित्र स्वभावतः आधुनिक है। परंतु वही चूँकि हमारी भारतीय मनीषा और सामाजिक बोध से बेमेल है, विपरीत है, फलतः उसी राजनीति का चरित्र यहाँ मध्ययुगीन है। राजमहल या जेल, दो ही जगहें हैं जहाँ हमारे यहाँ का राजनेता निवास करता है, वल्कि जहाँ उसे निवास कराया जाता है। दोनों स्थानों पर सिपाही का पहरा रहता है। इसकी चरित्रगत विशेषताओं में आडंबर, दरबारी सभ्यता, झूठ और क्रूरता उल्लेखनीय है। मध्य युग में कहीं एक तैमूर, एक नादिरशाह, एक बाबर,— एक बार लूट कर चला जाता था, अब असंख्य छोटे-छोटे तैमूर और नादिरशाह लगातार लूटते रहते हैं।

चाहे कोई सत्तादल में हो या प्रतिपक्ष के किसी भी दल में, आज की हमारी राजनीति ने सबको अपनी जगह से उठाकर राजमहल की खिड़की के पास खड़ा कर दिया है। सबको परधर्मी और लालची बनाया है। यह राजनीति मनुष्य को बेहतर बनाने गरांब की गरीबी मिटाने के नाम पर अपना व्यवसाय करती है। इसे पता है कि इसका अस्तित्व ही निर्भर है मनुष्य के दारिद्र्य, दुःख, विपत्ति, संकट और उसके अज्ञान पर।

भारत का राजनेता सबसे अधिक वाणी या भाषा का उपयोग करता है। वह तीन प्रकार की भाषा इस्तेमाल करता है—आध्यात्मिक भाषा, क्रान्तिकारी भाषा और वाजारू भाषा। पश्चिम का पत्रकार और राजनयिक इसकी भाषा से आश्चर्यचकित रह जाता है। उसकी समझ में कुछ नहीं आता। भारत के राजनेता और व्यापारी में पूरी तरह से समानता है। अगर असमानता है तो केवल एक—राजनेता बिना किसी माल के, पूंजी के अपना व्यापार करता है—इसीलिए इतनी बातें करता है—“सेवा”, “देश सेवा”, आदि और ध्यान रहे कि मनुष्य सेवा नहीं, यहाँ तक कि अपने स्वास्थ्य की सेवा नहीं, केवल देशसेवा।

और व्यापारी माल सा
के लिए चुप्पी साधे रह

“इसके इस चरित्र
नहीं राज्य शक्तिशाली
हो गया है। लोग राज
लिये विवश हुए। इस
लिस्ट लिए घूम रहा है
और अधिक भूख पैदा
रचाता है। वही दाता
दूसरे हाथ से देना। ए
करना।

अमृता : आज ये
और कुछ लोग अक्षरों व
हैं, लेकिन इनके लिए न
कहिए इस नाम की आब

लाल : अक्षर, का
अक्षर का अर्थ है—जिस
अक्षर का दूसरी ओर व
नहीं है, शब्द भी नहीं,
लोगों ने साहित्य नाम दे
मात्र है। इस लिपि के प
पद लूटने की मारामारी

[जिस अक्षर से सा
अर्थात् उस साहित्य का वि
में भारतीय “व्यक्ति” श
विरोध पर जोर देना चाह
जो अपनी विशेषता के म
विजुअल” का घातु मूलक
संभव नहीं है। हमारा अ
विजुअल” का तथाकथित
है। मैं तो यहाँ तक कहत
उनमें अपनी कोई विशेषत

और व्यापारी माल सामने रखकर अपना व्यापार करता है, और केवल "लाभ" के लिए चुप्पी साधे रहता है।

"इसके इस चरित्र का फल यह हुआ कि समाज के स्थान पर राज व्यवस्था नहीं राज्य शक्तिशाली हो गया है। व्यक्ति की जगह परिवेश दुर्बल और अजेय हो गया है। लोग राज्य से बिकने के लिए, हर क्षेत्र में "कैरियरिस्ट" बनने के लिये विवश हुए। इसलिए इस राजनीतिक परिवेश में हर कोई "मेरी माँगों" की लिस्ट लिए घूम रहा है। वही परिवेश उत्तरोत्तर अधिक माँग, अधिक इच्छा और अधिक भूख पैदा कर रहा है। और वही अपने मे संघर्ष का नाटक भी रचाता है। वही दाता है, वही डाकू है, वही नियंता है। एक हाथ से लेना दूसरे हाथ से देना। एक ओर माँग की स्थितियाँ पैदा करना, दूसरी ओर दमन करना।

अमृता : आज ये तो मानना पड़ेगा, कुछ लोग अक्षरों से प्यार करते हैं, और कुछ लोग अक्षरों का व्यापार करते हैं। ये स्थितियाँ एक दूसरे के मुखालिफ हैं, लेकिन इनके लिए नाम तो एक ही इस्तेमाल होता है—"साहित्य"। आप कहिए इस नाम की आबरू का क्या होगा ?

लाल : अक्षर, का संबंध धर्म से है, अपनेपन से है, जिसे संस्कृति कहते हैं। अक्षर का अर्थ है—जिसका 'क्षर' नाश न हो। यह एक ओर है। पर जिस अक्षर का दूसरी ओर व्यावसायिक आर्थिक क्षेत्र में व्यवहार होता है वह अक्षर नहीं है, शब्द भी नहीं, वह तो एक लिपिबद्ध लेखन मात्र है, जिसे इस वर्ग के लोगों ने साहित्य नाम दे रखा है। यह अक्षर नहीं क्षर है। शब्द नहीं लिपि मात्र है। इस लिपि के पदों में, कोख में किसी तरह ताकत हथियाने, नाम, धन पद लूटने की मारामारी है। यह साहित्य के नाम पर नंगी राजनीति है।

[जिस अक्षर से साहित्य बनता या रचित होता है, उस अक्षर का सम्बन्ध अर्थात् उस साहित्य का विषय व्यक्तिगत होता है "इन्डीविजुअल" नहीं। यहाँ पर मैं भारतीय "व्यक्ति" शब्द और पश्चिम के "इन्डीविजुअल" शब्द के परस्पर विरोध पर जोर देना चाहता हूँ। व्यक्ति शब्द के धातुमूलक अर्थ का आशय है, जो अपनी विशेषता के भीतर से व्यक्त हो उठा है, वही व्यक्ति है। "इन्डी-विजुअल" का धातु मूलक अर्थ है, वह अन्तिम इकाई जिसका आगे विभक्तिकरण संभव नहीं है। हमारा अधिकांश तथाकथित आधुनिक साहित्य इसी "इन्डी-विजुअल" का तथाकथित साहित्य है, जिसमें स्वभावतः अक्षर का गौरव नहीं है। मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि उसमें शब्द का भी गौरव नहीं है। क्योंकि उनमें अपनी कोई विशेषता व्यक्त नहीं हो रही है। व्यक्ति की विशेषता उसके

साहित्य में तभी व्यक्त हो सकती है, जब वह व्यक्ति स्वयं स्वतंत्र हो। वह अपने आप में पूरी तरह से यह विश्वास कर सके कि इस जगत में पूरी तरह से उसके अनुरूप दूसरा नहीं है।]

आज हम साहित्य-जगत में जब यहाँ तक देखते हैं कि नामों के ऊपर एक लेखक दूसरे पर मुकदमा ठोकने को विवश है तो इससे यही लगता है कि वह अक्षर की गरिमा से बहुत दूर हटकर पश्चिम के "इन्डोविजुअल" पर चला गया है।

मेरे खयाल से जिस दिन व्यक्ति अपने सही धरातल से अक्षर की महिमा पुनः प्राप्त कर रचना क्षेत्र में उसे साधेगा, उसी क्षण अक्षर की गरिमा उसे अनुभूत होगी। वही अनुभूति साहित्य का पद पुनः प्राप्त करेगा। रवीन्द्रनाथ के शब्दों में—

'विश्व का जो भी कोई पदार्थ साहित्य में सुस्पष्ट है वही व्यक्ति-जीव-जन्तु पेड़ पौधे, नदी-पहाड़, समुद्र अच्छी चीज, बुरी चीज, वस्तु की चीज, भाव की चीज, सभी कुल व्यक्ति है—अपनी एकात्मिकता से यदि वह व्यक्ति न हो सकी तो साहित्य में वह लज्जित होती है।'

किन्तु आज के अधिकांश साहित्य में अक्षर का गौरव नहीं है, मतलब साहित्यकार होने का आत्म गौरव नहीं है, यह महसूस कर लज्जित होना पड़ता है। जिस विशेष गुण से यहाँ सारा दृश्य जगत, मानव व्यवहार, दुख, सुख, नाते रिश्ते शब्दों में इस तरह व्यक्त हो उठते हैं कि हमारा चित्त उन्हें स्वीकार करने के लिए बाध्य हो जाता है, वही तो है अक्षर गुण, प्रायः दुर्लभ होता जा रहा है। इसका मूल कारण इस देश की वही राजनीति है, जिसमें अधिकांश साहित्यकारों को अपनी साहित्य रचयिता की भूमि से उठाकर राजमहल की खिड़की के पास खड़ा कर दिया है। साहित्य रचयिता अपने जिस अक्षर वैभव पर स्थित होता है, उसमें वह शक्ति होती है, जिसे केवल वहीं जानता है। जिसे नाम दिया गया है कल्पना शक्ति रचनाशक्ति, सौन्दर्यशक्ति। जिसे मैं शिव-शक्ति मानता हूँ। शब्द, गणानाम् अर्थ, संघानाम्, शब्द श्रद्धा, अर्थ विश्वास।

अमृतः : नौ ग्रहों की तरह नौ सवाल ही मन में आए हैं। इसलिए यह नौवाँ आखिरी सवाल पूछती हूँ कि पाकिस्तान के एक शायर मजहरउल इस्लाम ने नए साल की दुआ माँगते हुए तड़पकर खुदा से कहा है—'ऐ खुदा, इस आने वाले साल में तू सब अदीनों की नजमों और कहानियों में सच्चाई और मुहब्बत उतार।' मैं मानती हूँ, मैं भी इस दुआ में शामिल हूँ। लेकिन एक चीख ओठों पर तड़पती है कि ये दुआ माँगने की नौबत क्यों आई? आप क्या कहना चाहेंगे ?

दोस्त कुछ कहेंगे

तात्पर्य : दुआ

स्थान से हटकर

स्थान पर चला

भी दूसरा या पर

माँगना ही है।

है। परिचय, पह

है फलतः राज्य

समाज से, अपने

असहाय हो गया

माँगने की नौबत

और दुआ, दोनों

मेरा निवेदन

ऐसी भाषा आप

स्वभाव वाला हि

लिखे अक्षरों से भ

दोस्त कुछ कहेंगे

स्वयं स्वतंत्र हो। वह अपने जगत में पूरी तरह से उसके

ते हैं कि नामों के ऊपर एक इससे यही लगता है कि वह "इन्डोविजुअल" पर चला

परातल से अक्षर की महिमा अक्षर की गरिमा उसे अनु- प्राप्त करेगा। रवीन्द्रनाथ के

ष्ट है वही व्यक्ति-जीव-जन्तु राज, वस्तु की चीज, भाव की यदि वह व्यक्ति न हो सकी

का गौरव नहीं है, मतलब मूस कर लज्जित होना पड़ता व व्यवहार, दुख, सुख, नाते रा चित्त उन्हें स्वीकार करने मयः दुर्लभ होता जा रहा है। तसमें अधिकांश साहित्यकारों राजमहल की खिड़की के पास अक्षर वैभव पर स्थित होता ता है। जिसे नाम दिया गया शिव-शक्ति मानता है। शब्द,

आए हैं। इसलिए यह नौवां र मजहरउल इस्लाम ने नए —“ऐ खुदा, इस आने वाले में सच्चाई और मुहब्बत है। लेकिन एक चीख ओठों ? आप क्या कहना चाहेंगे ?

दोस्त कुछ कहेंगे

६८

लाल : दुआ माँगने की नौबत इसीलिए आई कि साहित्यकार अपने व्यक्ति स्थान से हटकर औरों से परिचय, सम्मान, यश, सत्ता, प्रशंसा प्राप्त करने के स्थान पर चला गया। साहित्यकार नामक "व्यक्ति" के लिए इस मायने में खुदा भी दूसरा या पराया (और) ही है। माँगना चाहे किसी से भी हो, माँगना तो माँगना ही है। माँगना है तभी तो परिचय पर, श्रेणी पर, वर्ग पर, इतना बल है। परिचय, पहचान के आधार पर दूसरे से माँगने पर चूँकि इतना अधिक जोर है फलतः राज्य और सत्ता इतना हावी हो चुकी है साहित्यकार पर कि अपने समाज से, अपने आप से कटा और उखड़ा हुआ वह सबसे अधिक अरक्षित, असहाय हो गया है—तभी तो खुदा की याद आई है। पहले उस याद, उस दुआ, माँगने की नौबत क्यों नहीं आई, जो आज याद आ रही है। क्योंकि साहित्यकर्म और दुआ, दोनों में इतना फर्क नहीं था तब।

मेरा निवेदन है अमृताजी, चूँकि यह भाषा आप ही समझ सकती हैं—क्योंकि ऐसी भाषा आप जैसी शायरा और श्रेष्ठ गद्यकार की ही हो सकती है—कि मृदु स्वभाव वाला हिरन भागकर ही अपनी जान बचाता है लेकिन साहित्यकार अपने लिखे अक्षरों से भागकर कहाँ जा सकता है ?

जीवन और सृजन कर्म

डॉ० मंजुलता सिंह

साहित्यकार और लक्ष्मीनारायण लाल इन दो को एक साथ देख और जान कर एक बात यह समझ में आई कि लाल की तीन चित्त भूमियाँ हैं। पहली, जहाँ उनका जन्म हुआ, खेले-कूदे, बुनियादी संस्कार ग्रहण किए। जहाँ अपना हृदय मुक्त किया। लाल भाई की वह भूमि है अवध की। दूसरी भूमि है स्मृति की, जिससे यह अपनी परंपरा से जुड़ते हैं। अपने पुरखे, घर, परिवार, माता-पिता भाई-बहन, स्त्री-संतान, आस-पड़ोस से मिलते हैं। तीसरी भूमि है, आत्म-लोक, चेतना भूमि, सृजन भूमि की। ये तीनों भूमियाँ परस्पर मिली हुई हैं। इलाहाबाद में बी० ए० के विद्यार्थी थे, तभी एक ओर विद्यार्थी थे, दूसरी ओर लेखन का कार्य शुरू किया। एम० ए० में पढ़ रहे थे, तभी समाज, "रंग" से जुड़कर नाटक लिखना-खेलना प्रारम्भ किया। गाँव में धर्मपत्नी, शहर में लाल, स्वावलम्बन के साथ अध्ययन। अध्ययन के साथ अपने आपका अनुसंधान, हर कदम पर संघर्ष, संघर्ष के साथ कर्मठ जीवन—इन सारे जीवन तत्वों से निर्मित होनी शुरू हुई थी लाल की चेतना भूमि।

सन् १९५० का वह समय था इलाहाबाद में। मैं महिला विद्यापीठ की छात्रा थी। मेरे भइया श्री कृष्ण गोपाल, लाल भाई के अभिन्न मित्र थे। तभी से आज तक मेरा और लाल भाई तथा उनके परिवार के साथ आत्मीय संबंध बना हुआ है। इनका कृतित्व और व्यक्तित्व ये दोनों पक्ष मेरे लिए परम आकर्षण, जिज्ञासा, एवं आदर के विषय रहे हैं। इनके व्यक्तित्व के जिस प्रधान गुण ने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है, वह है, नारी के प्रति इनकी सहज श्रद्धापूर्ण आत्मीयता।

सन् १९५० के बाद से जो साहित्यकारों की पीढ़ी उभर कर आई है, उनमें अधिकांश में परिवार के प्रति हीनताबोध, नारी संबंधों में दुराव-छिपाव, तथा पत्नी के प्रति उपेक्षापूर्ण आक्रोश देखने को मिलता है। लक्ष्मी भाई इसके आश्चर्यजनक अपवाद हैं। भाई, पति, पिता एवं पुत्र के रूप में नारी के साथ प्रत्येक दशा में इन्होंने बड़ी ईमानदारी और प्रसन्नता से संबंध निबाहा है। भाई के रूप

जीवन और सृजन

में लक्ष्मी भाई का मैं अपना सौभाग्य अपनी कृतियों से और कहानी संग्रह

“घरती की

सभी सट्टेलियों को कि मेरे भाई ने सभी मेरे भाई थे

समय साहित्यिक सहज प्रसन्नता में

सन् १९५६ में

प्रोड्यूसर' बनकर

में भी रहे और वह

पास दो छोटे-छोटे

वाले सभी रहते थे।

को भइया के पास

उस स्टोरनुमा कमरे

उन्हें बाधा पहुँचाता

में उनका सामान था

मजे से उनका लिख

बातें करके समय ब

वरवाद करो, शोर

भइया से नहीं कह प

रेडियो की नीव

इलाहाबाद अपनी स

बाग में रहते थे, उन

यहाँ जाती, उन्हीं के

कमरे में सोते और

साहित्य-सृजन के

एकाग्रता मैंने केवल

शक्ति है, जो इन्हें स

उतार-चढ़ाव में इनके

में लक्ष्मी भाई का आशीर्वाद सन् ५० से अब तक मुझे मिलता रहा है और यह मैं अपना सौभाग्य मानती हूँ। राखी के पवित्र धागों का उपहार लक्ष्मी भाई ने अपनी कृतियों से दिया है और "धरती की आँखें" उपन्यास से लेकर अनेक नाटक और कहानी संग्रह मेरे पास सुरक्षित हैं।

"धरती की आँखें" उपन्यास जब छपकर आया था तो छात्रावास में अपनी सभी सहैलियों को मैंने बारी-बारी से पढ़वाया था और मैं खुशी से झूम उठी थी कि मेरे भाई ने उपन्यास लिखा है। जिन तीन लोगों को यह समर्पित था, वे सभी मेरे भाई थे और मेरे लिए इस उपन्यास का मूल्य बहुत बढ़ गया था। उस समय साहित्यिक मूल्यांकन की मेरी उम्र नहीं थी पर लक्ष्मी भाई से मिली वह सहज प्रसन्नता मैं आज भी नहीं भूल पाई हूँ।

सन् १९५६ में लखनऊ में आल इण्डिया रेडियो पर जब लक्ष्मी भाई 'ड्रामा प्रोड्यूसर' बनकर आए थे तब कुछ दिन मेरे बड़े भइया के पास कंधारी बाजार में भी रहे और वहाँ पर उनके व्यक्तित्व का निकट से परिचय मुझे मिला। हमारे पास दो छोटे-छोटे कमरे थे जिनमें मेरे बड़े भइया, उनका नौकर तथा आने-जाने वाले सभी रहते थे। मैं उस समय लखनऊ के कैलाश होस्टल में थी और शनिवार को भइया के पास आती थी। लक्ष्मी भाई जिस सहजता और शांति से हमारे उस स्टोररूम कमरे में पढ़ते-लिखते थे, मुझे आश्चर्य होता था। न कोई शोर उन्हें बाधा पहुँचाता था और न गर्मी-सर्दी परेशान करती थी। पीछे वाले कमरे में उनका सामान था, वहीं पर एक मेज-कुर्सी, उसी पर उनकी किताबें और मजे से उनका लिखना-पढ़ना चलता था। मैं जब भी आती घंटों उनके साथ बातें करके समय बरबाद करती पर उन्होंने कभी यह नहीं कहा कि समय न बरबाद करो, शोर न करो, बरन मेरी अनेक समस्याओं को जो मैं अपने बड़े भइया से नहीं कह पाती थी सुना और मुझे समझाया।

रेडियो की नौकरी लाल भाई को अनुकूल न लगी। झटपट, त्यागपत्र देकर इलाहाबाद अपनी सृजन भूमि पर लौट आए। इलाहाबाद में जब वे तुलाराम बाग में रहते थे, उनके पास आठ कमरों का मकान था। पर मैं जब भी उनके यहाँ जाती, उन्हीं के कमरे में भाभी से गर्वें मारती, उनके दोनों बच्चे उसी कमरे में सोते और लक्ष्मी भाई मजे में सहज ही अपना लेखन कार्य करते रहते। साहित्य-सृजन के बीच बहिन, पत्नी, बच्चे-सभी की उपस्थिति में भी सहज एकाग्रता मैंने केवल लक्ष्मी भाई में देखी है। वह एकाग्रता, तन्मयता, बहुत बड़ी शक्ति है, जो इन्हें सहज बरदान के रूप में प्राप्त है। इसी शक्ति से जीवन के उतार-चढ़ाव में इनके व्यक्तित्व में दृढ़ता एवं आत्मविश्वास पैदा होते रहे हैं।

में लक्ष्मी भाई का आशीर्वाद सन् ५० से अब तक मुझे मिलता रहा है और यह मैं अपना सौभाग्य मानती हूँ। राखी के पवित्र धागों का उपहार लक्ष्मी भाई ने अपनी कृतियों से दिया है और "धरती की आँखें" उपन्यास से लेकर अनेक नाटक और कहानी संग्रह मेरे पास सुरक्षित हैं।

"धरती की आँखें" उपन्यास जब छपकर आया था तो छात्रावास में अपनी सभी सहैलियों को मैंने बारी-बारी से पढ़वाया था और मैं खुशी से झूम उठी थी कि मेरे भाई ने उपन्यास लिखा है। जिन तीन लोगों को यह समर्पित था, वे सभी मेरे भाई थे और मेरे लिए इस उपन्यास का मूल्य बहुत बढ़ गया था। उस समय साहित्यिक सूर्यांकन की मेरी उम्र नहीं थी पर लक्ष्मी भाई से मिली वह सहज प्रसन्नता मैं आज भी नहीं भूल पाई हूँ।

सन् १९५६ में लखनऊ में आल इण्डिया रेडियो पर जब लक्ष्मी भाई 'ड्रामा प्रोड्यूसर' बनकर आए थे तब कुछ दिन मेरे बड़े भइया के पास कंधारी बाजार में भी रहे और वहाँ पर उनके व्यक्तित्व का निकट से परिचय मुझे मिला। हमारे पास दो छोटे-छोटे कमरे थे जिनमें मेरे बड़े भइया, उनका नौकर तथा आने-जाने वाले सभी रहते थे। मैं उस समय लखनऊ के कैलाश हॉस्टल में थी और शनिवार को भइया के पास आती थी। लक्ष्मी भाई जिस सहजता और शान्ति से हमारे उस स्टोररुमा कमरे में पढ़ते-लिखते थे, मुझे आश्चर्य होता था। न कोई शोर उन्हें बाधा पहुँचाता था और न गर्मी-सर्दी परेशान करती थी। पीछे वाले कमरे में उनका सामान था, वहीं पर एक मेज-कुर्सी, उसी पर उनकी किताबें और मजे से उनका लिखना-पढ़ना चलता था। मैं जब भी आती घंटों उनके साथ बातें करके समय बरबाद करती पर उन्होंने कभी यह नहीं कहा कि समय न बरबाद करो, शोर न करो, वरन मेरी अनेक समस्याओं को जो मैं अपने बड़े भइया से नहीं कह पाती थी सुना और मुझे समझाया।

रेडियो की नौकरी लाल भाई को अनुकूल न लगी। झटपट, त्यागपत्र देकर इलाहाबाद अपनी सृजन भूमि पर लौट आए। इलाहाबाद में जब वे तुलाराम बाग में रहते थे, उनके पास आठ कमरों का मकान था। पर मैं जब भी उनके यहाँ जाती, उन्हीं के कमरे में भाभी से गर्प्ये मारती, उनके दोनों बच्चे उसी कमरे में सोते और लक्ष्मी भाई मजे में सहज ही अपना लेखन कार्य करते रहते। साहित्य-सृजन के बीच बहिन, पत्नी, बच्चे-सभी की उपस्थिति में भी सहज एकाग्रता मैंने केवल लक्ष्मी भाई में देखी है। वह एकाग्रता, तन्मयता, बहुत बड़ी शक्ति है, जो इन्हें सहज वरदान के रूप में प्राप्त है। इसी शक्ति से जीवन के उतार-चढ़ाव में इनके व्यक्तित्व में दृढ़ता एवं आत्मविश्वास पैदा होते रहे हैं।

और यही कारण है कि पारिवारिक उत्तरदायित्वों को इन्होंने कभी अपने साहित्य सृजन में बाधा नहीं माना है।

लक्ष्मी भाई का अत्यन्त आत्मीय रूप मुझे तब देखने को मिला, जब मेरे बड़े भइया श्रीकृष्ण गोपाल एम० ए० की परीक्षा नागपुर से दे रहे थे। लक्ष्मी भाई इलाहाबाद से छुट्टी लेकर लखनऊ आये। वे भइया के लिए संक्षिप्त नोट्स बनाते, प्रश्नों के उत्तर लिखते और कोर्स देखकर किताबें इधर-उधर से इकट्ठा करते। परन्तु बड़े भइया पढ़ने की बात को भजाक में उड़ा देते। उस समय लक्ष्मी भाई का रीढ़ रूप देखते ही मैं तो छात्रावास भाग लेती। और भइया को बन्द कमरे में पढ़ाई करनी पड़ती। स्टेशन पर जब नागपुर के लिए हम लोग भइया को छोड़ने गए तो लक्ष्मी भाई कहने लगे—“देखो गोपाल। रास्ते में जरूर एक बार सब देख लेना, मैंने बहुत संक्षेप में सब लिख दिया है। और हाँ, सारे पेपर्स देना, छोड़ना नहीं। प्रश्न सब कर देना और परीक्षा बिना दिए भाग मत आना, मेरी इज्जत का सवाल है।” इतनी निकटता और मित्र के लिए इतनी आत्मीयता विरलों में ही होती है। लक्ष्मी भाई हमेशा चाहते हैं कि उनके सम्पर्क में आने वाले आगे बढ़ें। अपने आप से जुड़ें। जो जिसका स्वधर्म हो, उसे सम्पूर्णता से करें। यही कर्म, सृजन है, वह किसी भी क्षेत्र में हो। उन्होंने मुझे तो सदैव ही बढ़ावा दिया है। उत्साहित किया है, और लिखने-पढ़ने के लिए प्रेरणा दी है। एम ए० करने के उपरान्त मुझे तुरन्त नौकरी मिल गई। और घर-गृहस्थी, नौकरी, चाकरी के चक्कर में पढ़ाई छूट गई। लक्ष्मी भाई मेरे नाम के आगे डॉक्टर लिख कर कहते—“डॉक्टर तो तुझे बनना ही होगा, मेरी भविष्य-वाणी है।” और जब मुझे पी-एच० डी० की उपाधि मिल गई तो वे बहुत प्रसन्न हुए। जब भी वे मिलते हैं एक प्रश्न मुझसे अवश्य पूछते हैं—“लिखना-पढ़ना चल रहा है या नहीं। देखो अपनी प्रतिभा को कुंठित मत करना।” मैं नहीं जानती कि मुझमें प्रतिभा है या नहीं पर इतना जरूर जानती हूँ कि लक्ष्मी भाई अपने संसर्ग में आने वाले प्रत्येक व्यक्ति में कुछ न कुछ मूल्यवान् ढूँढ़कर उसे ऊँचा उठाना चाहते हैं। यह उनके चित्त की पहचान है।

लक्ष्मी भाई के सतत संघर्ष और सतत निर्माण तथा संकल्प पथ पर पहुँचने की एक शक्ति हैं आरती भाभी। शिव के साथ पार्वती, राम के साथ सीता, कृष्ण के साथ राधा जैसे शाश्वत शक्तिरूप हैं वैसे ही लक्ष्मीनारायण की आरती भी अपनी निरंतर ज्योति से मंगल प्रकाश बिखेर रही है। आज यह लेख लिखते समय मुझे वह लक्ष्मी भाई याद आ रहे हैं, जो लखनऊ में दाहल शफा में हमारे साथ थे और जिन्होंने आरती भाभी को गाँव से लाने से पहले उनकी सहज ग्रामीण

मूर्ति से हम सबका परि-
केवल बड़े भइया के पैर
गदगद कर दिया। आ
भूलतीं। मेरी अपनी भी
और हमेशा नाम लेकर
छोटा नहीं बनना चाहती
दिया और उन कुछ मह
बड़ों से पैर छुआना मुझे
लगत था। आरती भा
चना नहीं की और पल
में आने वालों से भी
पत्नी को लेकर केवल
होने के लिए लक्ष्मी भा
गाँवार कहने वाले तथा
लक्ष्मी भाई और आ
के कई समकालीन तथा
मुक्ति पाने के लिए सं
व्यक्ति स्वातंत्र्य की दु
आसान है, पर जीवन
आता है। पति-पत्नी
और सेक्स को समझ
जीवन के संबंध में ए
एक-दूसरे को समझ
बच गया।” उन्होंने
के साथ उनमें आत्मनि
गृहस्थी को सुचारु रूप
समय देकर आत्म सं
आरती भाभी की सच
लक्ष्मी भाई के
मैं इनकी अति संवेक
हूँ। अपनी हठधर्मित
के मामले में वे कभी

कभी अपने साहित्य

को मिला, जब मेरे
से दे रहे थे। लक्ष्मी
लिए संक्षिप्त नोट्स
इधर-उधर से इकट्ठा
दा देते। उस समय
थी। और भइया को
के लिए हम लोग
गोपाल। रास्ते में
दिया है। और हाँ,
क्षा बिना दिए भाग
और मित्र के लिए
चाहते हैं कि उनके
का स्वधर्म हो, उसे
में हो। उन्होंने मुझे
लिखने-पढ़ने के लिए
मिल गई। और
लक्ष्मी भाई मेरे नाम
होगा, मेरी भविष्य-
ई तो वे बहुत प्रसन्न
हैं—“लिखना-पढ़ना
करना।” मैं नहीं
ते हैं कि लक्ष्मी भाई
लक्ष्यवान हूँकर उसे

कल्प पथ पर पहुँचने
के साथ सीता, कृष्ण
यण की आरती भी
गज यह लेख लिखते
बल शफा में हमारे
उनकी सहज ग्रामीण

सूति से हम सबका परिचय करा दिया था। स्टेशन से घर आकर भाभी ने न केवल बड़े भइया के पैर छुए, वरन् मुझे छोटी ननद को भी जवर्दस्ती पैर छूकर गद्गद कर दिया। आज भी वे जब मिलती हैं, ननद को सम्मान देना नहीं भूलतीं। मेरी अपनी भी भाभी उस समय थी पर उन्होंने कभी मेरे पैर नहीं छुए और हमेशा नाम लेकर ही बुलाया, क्योंकि मैं उन्न में छोटी थी और वे पैर छूकर छोटा नहीं बनना चाहती थी। आरती भाभी ने मुझे सभी ननद से ज्यादा सम्मान दिया और उन कुछ महीनों में जो सिर चढ़ाया वह आज तक याद है। अपने से बड़ों से पैर छुआना मुझे भी अब अच्छा नहीं लगता परन्तु उस समय जरूर अच्छा लगता था। आरती भाभी की संस्कार प्रियता की लक्ष्मी भाई ने कभी आलोचना नहीं की और पत्नी के नारी रूप को पूरा सम्मान दिया है तथा अपने संपर्क में आने वालों से भी दिलवाया है। अपने समकालीन साहित्यकारों के लिए जो पत्नी को लेकर केवल कूठा, संश्राम और हीनताबोध में जी रहे हैं, उससे मुक्त होने के लिए लक्ष्मी भाई प्रेरणा के स्रोत हैं। अपनी पत्नी को अपढ़, जाहिल और गंवार कहने वाले तथा अपनी शिक्षा और आधुनिकता का दंभ भरने वालों को लक्ष्मी भाई और आरती भाभी के जीवन से प्रेरणा लेनी चाहिए। लक्ष्मी भाई के कई समकालीन तथा सम्मानित साहित्यकारों को मैं जानती हूँ जो पत्नियों से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष करते रहे हैं। नारी को साहित्य में प्रतिष्ठित करना, व्यक्ति स्वातंत्र्य की दुहाई देना, प्रेम, सेक्स, और विवाह पर गंभीर चिंतन करना आसान है, पर जीवन में नारी को नारी की गरिमा देना कुछ विरलों को ही आता है। पति-पत्नी के संबंध तभी स्थायी और सुखद बन सकते हैं जब प्रेम और सेक्स को समझदारी से ग्रहण किया जाये। लक्ष्मी भाई ने अपने वैवाहिक जीवन के संबंध में एक स्थान पर लिखा है—“तीसरे चरण में जाकर हम लोग एक-दूसरे को समझ सके और मेरा विवाह मेरे कई मित्रों की भाँति टूटने से बच गया।” उन्होंने अपनी पत्नी को प्रेम, सम्मान, बराबरी, और स्वतंत्रता देने के साथ उनमें आत्मविश्वास भी पैदा किया है, जिससे वह स्वयं निर्णय लेकर गृहस्थी को सुचारु रूप से चलाती रही हैं। और पति को लेखन के लिए अधिक समय देकर आत्म संतोष पाती रही हैं। लक्ष्मी भाई की प्रत्येक उपलब्धि में आरती भाभी की सच्ची सश्लेदारी है।

लक्ष्मी भाई के व्यक्तित्व का एक अन्य सशक्त पक्ष है उनकी हठधर्मिता जिसे मैं इनकी अति संवेदनशीलता और आत्म सम्मान—इन दोनों का योग मानती हूँ। अपनी हठधर्मिता के कारण वे कहीं पर भी समझौता नहीं कर सके। नौकरी के मामले में वे कभी स्थिर नहीं रहे, जहाँ भी उन्हें लगा कि नौकरी उनके आत्म

सम्मान को चोट पहुँचा रही है, उन्होंने तत्काल नौकरी छोड़ दी। एक बार निर्णय लेने के बाद वे अपने निर्णय से कभी नहीं हटते। बर्फीली चट्टानों से टकराने की अद्भुत शक्ति उनके व्यक्तित्व में है। तभी तो आज की आर्थिक उठा-पटक-स्थिति में वे केवल लेखक को साध्य मानकर समर्पित हैं। एक इण्टरव्यू में उन्होंने कहा था “सोलह वर्ष अध्यापक रहने के बाद मुझे पता चला कि मैं केवल लिख सकता हूँ। वही केवल वही मेरा स्वधर्म है। जब स्वधर्म मिल जाय तो उसे पकड़ लेना और उसी के साथ मरना-जीना यही तो पुरुषार्थ है।” स्वधर्म का पालन करते हुए वे निरंतर साहित्य-सृजन में लगे हुए हैं और उनकी बहुमुखी प्रतिभा उनके उपन्यास, कहानी, आलोचना, जीवनी तथा नाटकों में देखी जा सकती है। उनके साहित्य का प्राण है—मनुष्य के प्रति उनकी श्रद्धा, और आशा और यह मनुष्यता ही उनके सृजन कर्म की मूल प्रेरणा है। मानवीय दुर्बलताओं से इतने परिचित होने के कारण ही वे निश्चित रूप से जानते हैं कि मनुष्य में अपार शक्ति है और वह चाहे तो अपनी दुर्बलताओं पर विजय पा सकता है।

लक्ष्मी भाई की कृतियों में उनके कई नारी पात्रों ने मुझे प्रभावित किया है। “अंधा कुआँ” की सूका, “मादा केक्टस” की सुजाता, “दर्पन” की पूर्वी “रातरानी” की कुंतल और “गंगा माटी” की गंगा और “मन वृन्दावन” की हिरनमयी ऐसे अविस्मरणीय नारी चरित्र हैं, जो लक्ष्मी भाई की नारी भावना को बड़ी गहराई से उजागर करते हैं। मुझे तो इन पात्रों में कहीं लक्ष्मी भाई की भारतीय संस्कार प्रियता तो कहीं उनकी आधुनिकता के प्रति सही विवेक दृष्टि दिखाई दी है। वे चाहते हैं कि नारी घर की चारदीवारी को तोड़कर आगे बढ़े, पुरुष की सदा सहधर्मिणी बने, पर अपने देश की संस्कृति से जुड़कर ही। उससे दूटकर अलग होकर नहीं। पुरुष और स्त्री का जीवन तभी सार्थक बन सकता है जब दोनों में एक-दूसरे के लिए समर्पण भाव हो। इसके लिए पुरुष को प्रयास करना पड़ता है। और स्त्री यह कार्य सहजता से कर लेती है। “अंधा कुआँ” की सूका का “भगौती” के प्रति सर्वस्व समर्पण, उत्सर्ग का जल है जो भगौती के अन्तस के सूखेपन और अंधेपन को हरा भरा कर देता है। भगौती न सूका को पत्नी मान पाता है और न प्रेयसी क्योंकि उसने सूका को उसके अभिभावकों से खरीदा है। भगौती का अहंकार सूका के समर्पण भाव के आगे परास्त हो जाता है। अहंकार जितना ही बड़ा होता है उसकी प्रतिक्रिया उतनी ही तीखी। पुरुष का अहंकार परास्त होता है नारी के प्रेम और समर्पण से। सूका प्राण देकर भगौती की प्राणरक्षा करती है और ग्लानि की अग्नि में भगौती का अहंकार जलकर राख हो जाता है।

“मादा केक्टस” सहन नहीं कर पाती। दुर्व्यवहार को वह नहीं सह सकती। जो यह कहते हैं कि पत्नीत्व कला को पत्नी नहीं प्रेयसे से सहला सके। कर तलाक दे देता है और कला क्षेत्र साधना की कृत्रिम इस प्रतिक्रिया का कार को स्वीकार्य

“दर्पन” की दर्पन बचपन से ही आई और जब ही पूर्वी बनकर जीने पूर्वी का द्वन्द्व है। परन्तु अतीत पीछे भिक्षुणी बनने के माँगो थी, आज मैं की पत्नी को खोल नहीं। भोग को ही निष्काम बन प

“रातरानी” है। उसका पति और पत्नी को भी सहन कर लेती है। कमाने की मशीन और वह कहती चाहिए—ठीक है, मन में छिपे विशे

छोड़ दी। एक बार निर्णय ली चट्टानों से टकराने की आर्थिक उठा-पटक-स्थिति क इण्टरव्यू में उन्होंने कहा कि मैं केवल लिख सकता जाय तो उसे पकड़ लेना स्वधर्म का पालन करते की बहुमुखी प्रतिभा उनके देखी जा सकती है। उनके आशा और यह मनुष्यता लतताओं से इतने परिचित य में अपार शक्ति है और

मुझे प्रभावित किया है। ता, "दर्पन" की पूर्वी और "मन वृन्दावन" की भाई की नारी भावना में कहीं लक्ष्मी भाई की प्रति सही विवेक दृष्टि को तोड़कर आगे बढ़े, से जुड़कर ही। उससे गो सार्थक बन सकता है के लिए पुरुष को प्रयास ती है। "अंधा कुआँ" का जल है जो भगौती है। भगौती न सूका को उसके अभिभावकों के आगे परास्त हो गया उतनी ही तीखी। मर्पण से। सूका प्राण में भगौती का अहंकार

"मादा कैक्टस" की "सुजाता" कलाकार "अरविन्द" की पत्नी है जो यह सहन नहीं कर पाती कि कलाकार के आड़े कभी पत्नीत्व आ सकता है। पति के दुर्व्यवहार को वह सह सकती है पर सभी व्याहता स्त्रियों पर इतना बड़ा आक्षेप नहीं सह सकती। सुजाता का स्वाभिमान उसके शब्दों में फूट पड़ता है। "वे जो यह कहते हैं कि मेरा विवाह मेरी कला को खा रहा है—यह बड़ा भयानक है। पत्नीत्व कलाकार को दुख देता है यह कितना निर्मम है सोचना।" अरविन्द को पत्नी नहीं प्रेयसी चाहिए जो उनकी कला चेतना को अपनी भावात्मक संवेदना से सहला सके। अरविन्द सुजाता की समस्त सेवा, श्रद्धा और समर्पण को ठुकरा-कर तलाक दे देता है। सुजाता अरविन्द से अलग होकर कला से अपने को जोड़ती है और कला क्षेत्र में प्रसिद्ध हो जाती है। आर्टिस्टिक बनकर अरविन्द की कला-साधना की कृत्रिमता और व्यर्थता का एहसास तीखा कर देती है। सुजाता की इस प्रतिक्रिया का मूल कारण है कि स्त्रीत्व का अपमान किसी भी स्त्री के अहं-कार को स्वीकार्य नहीं होता।

"दर्पन" की दर्पन तथा पूर्वी एक ही नारी के दो नाम हैं—दो रूप हैं। दर्पन बचपन से भिक्षुणी थी, रोगियों की सेवा करते-करते हरिपद्म के सम्पर्क में आई और जब हरि स्वस्थ हुआ तो उसे घर ले गया जहाँ पर दर्पन के मन में पूर्वी बनकर जीने की लालसा जागी। वैराग्य और भोग का द्वन्द्व दर्पन और पूर्वी का द्वन्द्व है। पूर्वी हरि की दुलहिन बनकर जीवन को भोगना चाहती है परन्तु अतीत पीछा नहीं छोड़ता और अन्त में वह फिर भिक्षुणी बन जाती है। भिक्षुणी बनने के पूर्व वह हरि से कहती है—"बुद्ध ने पहली भिक्षा यशोधरा से माँगी थी, आज मैं पहली भिक्षा तुमसे माँगती हूँ।" दर्पन का चरित्र नारी मन की पतों को खोलता है और स्पष्ट करता है कि राम को जाने बिना वैराग्य संभव नहीं। भोग को समझे बिना योग का बोध नहीं हो सकता। कामना को जानकर ही निष्काम बन पाती है दर्पन।

"रातरानी" की "कुंतल" पतिपरायणा और पातिव्रत धर्म को मानने वाली है। उसका पति जयदेव दोस्त, पार्टी, क्लब, ताश और जुएँ में व्यस्त रहता है और पत्नी को भी दहेज में पाये अन्य सामान की तरह समझता है। कुंतल सब सहन कर लेती है परन्तु यह नहीं सह पाती कि उसका पति उसे केवल पैसा कमाने की मशीन मान ले। उसका आहत अहंकार प्रतिक्रियावादी हो उठता है और वह कहती है—"आपको हपये चाहिए। इसीलिए मुझे नौकरी करनी चाहिए—ठीक है, सच कहते हैं आप?" यह नाटकीय ध्वन्यात्मकता नारी के मन में छिपे विद्रोह को प्रकट करने में समर्थ है।

“गंगा माटी” की गंगा का पति देवल मानसिक भावात्मक हिंसा से पूर्ण पात्र है जो अपनी पत्नी को केवल संताप देता है और जिसके मन में हर समय पत्नी को पराजित देखने की कामना रहती है। गंगा और देवल के जीवन को देखकर लगता है कि हर स्त्री-पुरुष के जीवन में उनके आपसी संबंधों का सह-जता से निर्वाह एक गम्भीर समस्या होती है। गंगा देवल को मार्ग दिखाती है। वह अपने पुरुष को पूर्ण बनाना चाहती है। जब वह कहती है—“मेरे प्राण ! तुम जीवन से भटककर धर्म-राजनीति में क्यों जाते हो ? बार-बार वहीं क्यों ? लौट आओ। जीवन तट पर खड़ी कब से पुकार रही हूँ।” पुरुष देवल को अन्ततः सहज प्रकृति रूपा गंगा के समक्ष पराजित भाव से खड़ा होना पड़ता है।

सूका, मुजाता, दर्पन, कुंतल, हिरनमयी, छोटी चंपा और गंगा जैसे सशक्त नारी पात्रों के सर्जक लक्ष्मी भाई की सृजन शक्ति उनके जीवन की चित्त भूमि से सहज ही उगी है और विविध रंग, रूप, आकार, प्रकार, फल फूलों से सुसज्जित, भरपूर है। इन्होंने नाट्य क्षेत्र में अपनी जिस “रंगभूमि” को ढूँढ़ा और पाया है, वह हमारी नाट्य श्रीवृद्धि में सदा याद किया जाएगा। कथा साहित्य में जिस “कथा तत्त्व” को उन्होंने प्रतिष्ठित किया है, अपनी कथा कृतियों “मन वृन्दावन” “बड़ी चम्पा—छोटी चम्पा” “प्रेम अपवित्र नदी” “रूपाजीवा” और “गली अनारकली” में, उससे एक स्थायी तत्त्व उभरता है वह है—संबंधों की पवित्रता, भावुकता नहीं। लाल भाई की अद्वैत श्रद्धा है मनुष्य में, वह जो व्यक्ति से आगे बढ़ता है। उनका विश्वास है, साहित्य या जीवन में जो भावुकता है उसका भी मूल्य है, पर उतना ही जितना वृक्ष में पत्त्व का है। पर कर्मों की पवित्रता तो मूल वस्तु है। और मूल तो अपनी ही भूमियों में है।

लक्ष्मीनारायण

लक्ष्मीनारायण लाल बहुमुन्यास उनके साहित्य की प्रमुख विकास दृष्टिगत होता है। नाट्यकार हैं। उपन्यास के भी उनके उपन्यासों में विषय विविधता उनके चरित्र-वैशिष्ट्य की भावना न्यास जीवन और जगत की परिपरन्तु ‘पुरुषोत्तम’ नामक उपन्यास बनाया है। अतः उसे ऐतिहासिक

सबसे पहले उसी इसी उपन्यास के उत्कर्ष के शिखरों को स्पर्श करने के उपन्यास में इस असफलता के व्यक्तियों का चित्रण और चरित्र महान् चरित्र हैं शंकरपुर के रानी की प्रचलित शैली में अपने प्राण को रूपक-शैली भी कहा जा सकता है।

“पुरुषोत्तम” की कथावस्तु अंग्रेज अपने प्रभाव की वृद्धि के विरोध में है। अंग्रेज कम्पनों के सिपाहियों के अवध में चक्कर लगाते हैं। सामने आता है, वह एक विद्वान् अली शाह और उनके बाद वे अंग्रेजों पर बिठाने और अवध के स

तोर सृजन कर्म

हिंसा से पूर्ण
त में हर समय
के जीवन को
बंधों का सह-
दिखाती है।

‘मेरे प्राण !

र वहीं क्यों ?

ष देवल को

ता पड़ता है।

ा जैसे सशक्त

की चित्त भूमि

फल फूलों से

‘मि’ को ढूँढ़ा

आएगा। कथा

अपनी कथा

पवित्र नदी’

भरता है वह

ढा है मनुष्य

या जीवन में

स्त्व का है।

में है।

लक्ष्मीनारायण लाल की कथा-यात्रा

डॉ० कृष्णविहारी मिश्र

लक्ष्मीनारायण लाल बहुमुखी प्रतिभा के साहित्यकार है। नाटक और उपन्यास उनके साहित्य की प्रमुख विधायें हैं। दोनों में ही उनकी कला का मनोरम विकास दृष्टिगत होता है। नाटक के क्षेत्र में तो वे इस समय हिन्दी के अग्रणी नाट्यकार हैं। उपन्यास के भी उनके प्रयोग अत्यन्त सशक्त और चर्चित रहे हैं। उनके उपन्यासों में विषय विविध और शैली वैचित्र्य दिखलाई पड़ता है, साथ ही उनके चरित्र-वैशिष्ट्य को भी प्रशंसा करनी पड़ती है। उनके अधिकांश उपन्यास जीवन और जगत की विशेष कर भारत की संकटकालीन स्थिति पर हैं, परन्तु ‘पुरुषोत्तम’ नामक उपन्यास सन् सत्तावन की क्रान्ति को अपना विषय बनाया है। अतः उसे ऐतिहासिक उपन्यास की श्रेणी में रखना होगा।

सबसे पहले उसी इसी उपन्यास को लें, क्योंकि इसमें लेखन की कथा-शैली उत्कर्ष के शिखरों को स्पर्श करती है। सन् १८५७ की क्रांति असफल हुई, इस उपन्यास में इस असफलता के कारणों का विश्लेषण तो है ही, उस समय के वीर व्यक्तियों का चित्रण और चरित्र विश्लेषण भी किया गया है। और ऐसे ही एक महान् चरित्र हैं शंकरपुर के राजा वेणी माधववक्श सिंह। डॉ० लाल ने उपन्यास की प्रचलित शैली में अपने प्रारम्भिक उपन्यास लिखे थे, परन्तु अब उनकी शैली को रूपक-शैली भी कहा जा सकता है।

‘पुरुषोत्तम’ की कथावस्तु में नवाब वाजिद अली शाह राज्य में किस प्रकार अंग्रेज अपने प्रभाव की वृद्धि करते रहे हैं, इस तथ्य से कथा का आरम्भ होता है। अंग्रेज कम्पनी के सिपाहियों की भरती अवध में होती है। और उसके सिपाही अवध में चक्कर लगाते हैं। नवाब वाजिद अली शाह का जो व्यक्तित्व हमारे सामने आता है, वह एक विलासी और भोगी शासक का है। कथा वाजिद-अली शाह और उनके बाद बेगम हजरत महल के द्वारा विरजिस कादिर को गद्दी पर बिठाने और अवध के सामंतों को एकत्र कर समस्त देश के सियासी विद्रोह

के साथ जुड़ने की है। शंकरपुर के राजा वेणी माधव के अतिरिक्त गोंडा के राजा देवी बख्श, चरखारी के राजा बलभद्रसिंह, गोसाईगंज के तालुकेदार आनन्दो और खुशहाल, सेमुरवा चन्दरपुर के राजा शिवदर्शनसिंह और वहीं के जमींदार राम-वख्श, अमेठी के राजा लालमाधव सिंह, राजा नानपुरा के अमरेन्दर, कल्लू खाँ, खजूर गाँव के राजा रघुनाथ सिंह और रसूलाबाद के राजा तथा अयोध्या, सुल्तान-पुर, बाराबंकी तथा सँडीला के चौधरी, राजा और नवाब बेगम हजरत महल के नेतृत्व में अंग्रेजों से लड़े। लेकिन आपसी फूट और अव्यवस्था के कारण लड़ाई में अंग्रेजों से हार हुई। राजा वेणी माधवबख्श को अंग्रेज नहीं पकड़ सके। राजा बाबा (राजा वेणी माधव बख्श के पिता) के द्वारा प्रस्तुत किया गया एक चित्र देखें—

“बुद्धि अपने आप में एक व्यवस्थित शक्ति है, इकाई है। बुद्धि का काम ही है, अव्यवस्था से व्यवस्था की ओर जाना। और ऐसे क्षणों में यही बुद्धि ही जल्द-बाजी में घबड़ाकर सच्चाइयों से समझौते कर लेती है। पहली बार हारने से जब बुद्धि चकरा जाती है, लगता है, सर्वनाश है। तब वास्तव में यह दिखता है कि सब भूमिका है। मविता उपासना और सविता अर्थात् जगत की प्रेरक शक्ति को अर्घ्य देना।”

राजा के पुत्र रघुवीर का निकट पड़ोसी तालुकेदार मूरजसिंह की पुत्री हंस-गौरी के साथ विवाह होना निश्चित था। परन्तु मूरजसिंह विश्वासघाती निकले। अंग्रेजों से मिल गये। इसीलिए पुत्री का विवाह किसी दूसरे स्थान पर करने का विचार करने लगे। परन्तु हंसगौरी भारतीय पतिव्रता है जो जीवन में एक ही व्यक्ति का वरण करती है।

“पुरुषोत्तम” में रामचन्द्र के अवतार की कथा को रूपक कथा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। भारत के प्राचीन पौराणिक इतिहास का मर्म समझाया गया है। “पुरुषोत्तम” रोचक कथा काव्य है। उपन्यास नहीं, उन अर्थों में नहीं, जिन अर्थों में पश्चिम में समझा समझाया जाता है।

‘गली अनारकली’ लाल की नयी कथा कृति है। इसमें लखनऊ में चिकन का काम करने वाली मुसलमान औरतों के शोषण की कथा अत्यन्त मार्मिक रूप में प्रस्तुत है। फिर रूहकारी ढंग पर काम करके, इस शोषण को समाप्त करने का समाधान बड़ी सुन्दरता से उपस्थित किया गया है। अत्यन्त रोचक दास्तान गली में, भावनाओं का जीवन्त चित्रण इस कृति की विशेषता है। शोषकों के षड्यंत्र और साजिश का पर्दाफाश किया है लेखक ने।

“असत्य भाषा” एक लघु उपन्यास है, परन्तु सन् ८६ की रचना है। इसमें

नारी के ऊपर पुरुष है। कुँवर और म उठाकर लेखक ने पुरुष नारी की पवि माला के अध्यात्म के पास चली जा पड़ता है। लघु प ‘मनवृन्दावन’ उपन

“मन वृन्दावन

यात्रा का दृष्यांकन जहाँ मन, चित्त र

“हरा समन्द

दृष्टियों का ताना माध्यम से भारतीय

यह उपन्यास सन्

इस कथा में

से और बैताल पाँडे घटनाओं का वर्णन अँगूठी का आदान-मनुष्य के मन में य है। जैसे बाबू गोड कहता है—

“गलत, झूठ,

ब्रह्माण्ड की दुनिया बाहरी पर्त है। सब हैं।

मनुष्य की अ बाद मनुष्य ने सर्व चाहता है।”

तानाशाही श सुन्दर विप्लेषण वि

“कोई भी व

धव के अतिरिक्त गोंडा के राजा गंज के तालुकदार आनन्दो और ह और वहीं के जमींदार राम-नपुरा के अमरेन्दर, कल्लू खाँ, राजा तथा अयोध्या, सुल्तान-र मवाव बेगम हजरत महल के अव्यवस्था के कारण लड़ाई अंग्रेज नहीं पकड़ सके। राना रा प्रस्तुत किया गया एक चित्र

इकाई है। बुद्धि का काम ही से क्षणों में यही बुद्धि ही जल्द-गरी है। पहली बार हाग्ने से तत्र वास्तव में यह दिखता है अर्थात् जगत की प्रेरक शक्ति

दाग सूरजसिंह की पुत्री हंस-सिंह विश्वासघाती निकले। उसी दूसरे स्थान पर करने का प्रता है जो जीवन में एक ही

को रूपक कथा के रूप में इतिहास का मर्म समझाया गया नहीं, उन अर्थों में नहीं,

है। इसमें लखनऊ में चिकन की कथा अत्यन्त मामिक के, इस शोषण को समाप्त गया है। अत्यन्त रोचक निति की विशेषता है। शोषकों ने।

सू ५६ की रचना है। इसमें

नारी के ऊपर पुरुष प्रधान समाज में होने वाले अत्याचार का लोमहर्षक चित्रण है। कुंवर और माला की प्रेमकथा और जयश्री के चरित्र पर शंका की बात उठाकर लेखक ने नारी जीवन की एक ओर दुःखती रंग पर उँगली रखी है। पुरुष नारी की पवित्रता पर संदेह करता है। जयश्री इस शंका से पीड़ित होकर माला के अध्यात्मिक जुए, कावेरी तट पर बसे वृन्दावन वाले गुरग्राम के निवासी के पास चली जाती है। और विजय को उसे प्राप्त करने के लिए वहाँ जाना पड़ता है। लघु परन्तु रोचक उपन्यास। इनसे पहले के उपन्यासों में लाल का 'मनवृन्दावन' उपन्यास विख्यात कथाकृति है।

“मन वृन्दावन” में मन को यात्री रूप में मानकर वृन्दावन की परिक्रमा यात्रा का दृश्यांकन है। दूसरी ओर रूपक की दृष्टि से मन स्वयं वृन्दावन है। जहाँ मन, चित्त रमरम करता रहता है।

“हरा समन्दर गोपी चन्दर” उपन्यास में राजनीति, इतिहास और कथा दृष्टियों का ताना बाना बुनकर ऐसी अगूठी कथा की सृष्टि की गई है, जिसके माध्यम से भारतीय जीवन और उसका राजनीतिक चरित्र मूर्तिमान हो उठा है। यह उपन्यास सन् ५४ में प्रकाशित हुआ था।

इस कथा में प्राचीन विक्रम और वैताल की कथा को कथानायक विक्रम से और वैताल पांडे के चरित्र के साथ जोड़ा गया है। कहानी में कई अलौकिक घटनाओं का वर्णन है। जैसे विक्रम और मधुबाला का स्वप्न से मिलन और अगूठी का आदान-प्रदान। आज राजनीति जिस प्रकार सर्वग्रासी हो उठी उससे मनुष्य के मन में यह भ्रांति पैदा हो गई कि राजनीति ही सब चीजों की बुनियाद है। जैसे बाबू गोडंठा सिंह कहते हैं। परन्तु विक्रम इसका खण्डन करता हुआ कहता है—

“गलत, झूठ, बिल्कुल असत्य। इस पूरी जिन्दगी, समाज, राष्ट्र और पूरे ब्रह्माण्ड की बुनियाद में केवल मनुष्य है, केवल मनुष्य। राजनीति केवल एक बाहरी पर्त है। सब चीज की बुनियाद है मनुष्य। वहीं धुरी है...वहीं शक्ति भी है।

मनुष्य की आत्मा उसकी आस्था अभी नहीं मरी है। कितने ही संघर्षों के बाद मनुष्य ने सार्वजनिक जीवन मूल्यों की तलाश की है और वहीं वह जीना चाहता है।”

तानाशाही शासन व्यवस्था किस प्रकार देश में पनपती है इसका लेखक ने सुन्दर विश्लेषण किया है।

“कोई भी वस्तु या जीव दस वर्षों तक एक स्थान पर टिक जाये, तो वह

या तो सड़ने लगता है, नहीं तो वह अपने पाँव जमाये रखने की कोशिश में लग जाता है। मनुष्य इतिहास के उसी बिन्दु से तानाशाही का ताना-बाना बुनना शुरू करता है। वह सबसे पहली चोट मनुष्य की कोमलता पर उसके मूल्यों पर करता है। फिर उसकी चोट लोकतंत्रात्मक संस्थाओं पर होती है।”

“रूपाजीवा” डॉ० लाल का एक अपेक्षाकृत बड़ा उपन्यास है जिसे प्रचलित उपन्यास शैली पर रचित कहा जा सकता है। यह शास्त्रीय कृति, व्यावसायिक चरित्र और धन को सर्वाधिक महत्व देने वाले व्यापारी धर्म की कहानी कहता है। चेताराम का मसुर गोरेमल पक्का व्यापारी है। चेताराम चुनाव में खड़ा होता है तो वह उसे डाँटकर बिठा देता है और प्रतिपक्षियों से धन के रूप में मुआवजा ले लेता है। वह हर चीज को, घटना को, व्यक्ति को सिर्फ धन रोजगार व्यवस्था की दृष्टि से देखता है। चेताराम जैसे सामान्य व्यक्ति को वह अपनी वणिक् कौशल में घनाढ्य और वैभवशाली बना देता है। जेयर मार्केट के भावों को वह जबरन अध्ययन करता है। उन्हें अखबारों में सोने की खानें बताता है। योरोप में ही निकट भविष्य में होने वाली लड़ाई (द्वितीय विश्वयुद्ध) को पहले से भाँप कर वह उससे लाभ उठाता है। गोरेमल की पुत्री रूपा की जीवन की दुखांतकी को प्रधान रूप दिया गया है। रूपा अतीव सुन्दरी है। चेताराम उसके योग्य नहीं है। चारित्रिक दुर्बलता के कारणों से राजू पण्डित के साथ हुए अवैध सम्पर्क से ही उसे पुत्र की प्राप्ति होती है। परन्तु जीवन भर वह एक अन्तर्द्वन्द्व और पाश्चाताप की अग्नि में जलती रहती है। मूगज के भीतर पिता और नाना की वणिक् वृत्ति भी है। वह संचय और भ्रष्टाचार का विरोधी है। ईशुरी पंडित और मधुतुआ की मर्यादक कहानी भी इस कथा में गूथी गई है। स्वतन्त्रता के लिए किये गये आन्दोलन को भी व्यापक रूप से कथा का विषय बनाया गया है। रूपाजीवा डॉ० लाल की महत्त्वपूर्ण कृति है। जो समाज की अर्थ-व्यवस्था को पैनेपन से देखती है। उसके ताने-बाने का समझाने की कोशिश करती है।

“त्रया का घोंसला और साँप” डॉ० लाल की प्रारंभिक रचना है परन्तु उसी ने उन्हें उपन्यासकार के रूप में हिन्दी जगत में प्रतिष्ठित किया था। इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन का वास्तविक चित्र है ऐसा यथार्थ चित्र जब जमींदार, नौरुशाही, जाति व्यवस्था आदि के कारण जमुना और सुभागी जैसी नारियाँ भौदन भर नारकीय यातना भोगने के लिए अभिशप्त थीं। नारी को भोगने के लिए कितने-कितने तरह के षड्यंत्र रचता था पुरुष वर्ग। गाँवों में विधवाओं की दुर्वशा, कन्या के विवाह की दुर्गम बाधाएँ आदि का भी चित्र है लेकिन इन सबके बीच जमुना और सुभागी किस दृढ़ता के साथ समाज से जुझती हैं, परि-

लक्ष्मीनारायण लाल की क

स्थितियों से लोहा लेती हैं, डॉ० लाल की नारियाँ भी हैं, कभी कोह का रोग जो कीय होते हुए भी मानव के उनसे लघु उपन्यासों में यह

“काले फूल का पौधा, उसका सौन्दर्य और उसकी जीवन का आदर्श, परम्परा और ओम का रास्ता कुछ आधुनिकता के जाल में इस के बाद गीता से उसे नैतिक उसी आधुनिकता के मार्ग पर से पराजित हो जाता है।

डॉ० लाल के संवाद बड़े स दिए जा चुके हैं। एकाध

“मनुष्य सहज रूप से है जब अपनी कहता है तो

गीता का संवाद, “यह था “अपने को बाँधकर रख बोच में जय हो—घरती की की तरह।”

व्यक्तियों के चरित्र को बार वह नहीं होते जो दिख चित्रा ओम के कारण जैसी शता है। और गीता उसको आधुनिकता के नाम पर कैस उपन्यास में लेखक ने सुन्द अपने शिशु को दूध पिलाने है ही, आधुनिकतम चिकित्स है।

स्वप्नों और कल्पनाओं प्रयोग और उपयोग किया है लाल—६

माये रखने की कोशिश में लग साशाही का ताना-बाना बुनना कोमलता पर उसके मूल्यों परों पर होती है।”

बड़ा उपन्यास है जिसे प्रचलित है शास्त्रीय कृति, व्यावसायिक पापों धर्म की कहानी कहता चेतनम चुनाव में खड़ा होता में से धन के रूप में मुआवजा के सिर्फ धन राजगार व्यवस्था व्यक्ति को वह अपनी वणिक गेयर मार्केट के भावों को वह की खानें बताता है। योगेप (विश्वयुद्ध) को पहले से भांपे स्था की जीवन की दुखांतकी । चेतनम उसके योग्य नहीं माय हुए अवैध सम्पर्क से ही एक अन्तर्द्वन्द्व और पाश्चाताप और नाना की वणिक वृत्ति ईशुरी पंडित और मधुसुआ स्वतन्त्रता के लिए किये गये रनाया गया है। रूपाजीवा अर्थ-व्यवस्था को पैसेपन से करती है।

प्रारंभिक रचना है परन्तु प्रतिष्ठित किया था। इस ता यथार्थ चित्र जब जमी-जमुना और मुभागी जैसी भेषधर्म थीं। नारी को भोगने वर्ग। गांवों में विधवाओं का भी चित्र है लेकिन इन समाज से जूझती हैं, परि-

स्थितियों से लोहा लेती है, वह अद्भुत है। 'हाडी' की नायिकाओं के समान डॉ० लाल की नारियाँ भी दुर्भाग्य की मारी हैं। कहीं पति की असामयिक मृत्यु है, कभी कोढ़ का रोग जो रामानंद को ग्रस लेता है। उपन्यास का अन्त नाटकीय होते हुए भी मानव की आस्था और विश्वास को टूटने में बचा लेता है। उनसे लघु उपन्यासों में यह सर्वश्रेष्ठ है।

“काले फूल का पौधा, मध्यमवर्गीय नागरिक दम्पत्य जीवन की कथा है, उसका सौन्दर्य और उसकी विडम्बनायें दोनों ही उसमें मुखरित हैं। गीता के दम्पत्य जीवन का आदर्श, परम्परा और सामाजिक आदर्शों के अनुकूल है, जबकि चित्रा और ओम का रास्ता कुछ अलग है। विवाह के पहले देवन भी इस कथाकथित आधुनिकता के जाल में इस मित्र दम्पति की कृपा से कैसे फँसा था, परन्तु विवाह के बाद गीता से उसे नैतिकता की सही परिभाषा मिलती है। ओम गीता को भी उसी आधुनिकता के मार्ग पर ले जाना चाहता है, परन्तु उसकी चारित्रिक दृढ़ता से पराजित हो जाता है। इस उपन्यास में और अन्यत्र अन्य उपन्यासों में भी डॉ० लाल के संवाद बड़े सजीव, सटीक और रोचक होते हैं। कुछ उदाहरण पीछे दिए जा चुके हैं। एकाध इस उपन्यास में भी दृष्टव्य हैं।

“मनुष्य सहज रूप से जब दूसरों की कहने लगता है तब अपनी छिपा लेता है जब अपनी कहता है तो दूसरों की छिपा लेता है।”

गीता का संवाद, “यहाँ आने के पहले, माताजी ने मेरी गाँठ बाँध कर कहा था “अपने को बाँधकर रखना, अगर अपने से बड़े हों, नीचे स्नेह पाने वाले हों, बीच में जय हो—घरती की भाँति अचल, उसी पर पति खड़ा हो गंभीर आकाश की तरह।”

व्यक्तियों के चरित्र को डॉ० लाल ने खूब समझा है, परखा है। पात्र कई बार वह नहीं होते जो दिखते हैं। उनके भीतर कोई दूसरा चरित्र होता है। चित्रा ओम के कारण जैसी हो गई, वास्तव में वैसी नहीं है। वह उसकी विवशता है। और गीता उसको पहचान लेती है। नगर के मध्यमवर्गीय व्यक्तियों के आधुनिकता के नाम पर कैसी-कैसी गलत रुढ़ियों को पाल लिया है, इसे भी इस उपन्यास में लेखक ने मुन्दरता से उद्घाटित किया। जैसे देवन का गीता को अपने शिशु को दूध पिलाने से मना करना जो मातृत्व का स्वाभाविक धर्म होता है ही, आधुनिकतम चिकित्सा शोध की दृष्टि से भी अत्यन्त लाभकर समझा गया है।

स्वप्नों और कल्पनाओं के संसार का भी डॉ० लाल ने अपने उपन्यासों में खूब प्रयोग और उपयोग किया है। अक्सर ये स्पष्ट भविष्य का संकेत कराने वाले होते लाल—६

हैं। कई बार दमित इच्छाओं के प्रतिरूप और कभी-कभी आशंकाओं के प्रति-बिम्ब इन सभी रूपों में उपन्यास में उनकी सार्थकता है।

साधुओं के चरित्र, आध्यात्मिक गुरुओं के रूप विशेष-सामान्य व्यक्तियों के चरित्र इनके अनेक उपन्यासों में हैं। कहीं वह जीवन और जगत पर टिप्पणी करते हैं तो कहीं उनकी विडम्बनाओं को रेखांकित करते हैं।

भाषा का सरल सहज रूप, कथन की स्वाभाविक शैली, मिला-जुला तद्भव शब्द समूह जिसमें अनेक ग्रामीण शब्द भी आते हैं, उर्दू, फारसी के सभी प्रचलित शब्द और संस्कृत की उक्तिर्या, गीता के श्लोक यह सब उनकी भाषा के अंग हैं। लोकगीतों की पंक्तियाँ और पूरे लोकगीत उनके उपन्यासों में अनेक स्थलों पर सजीव हो उठते हैं। यह सांस्कृतिक दृष्टि से सम्पन्न कथाकार हैं। अतीत, वर्तमान, भविष्य सब पर इनकी समान दृष्टि है।

इनके कथा साहित्य में—जिसमें करीब चालीस कहानियाँ भी हैं—मानवता पर पूरा बल है। 'बड़ी चंपा छोटी चंपा' की दोनों सखियाँ, 'मन वृन्दावन' का पतितराम, 'रूपाजीवा' की रूपा, 'गली अनारकली' की अपाला—आदि ऐसे पात्र हैं लाल के कथा साहित्य के, जिनके चरित्र कभी भुलाए नहीं जा सकते। मुख्य विशेषता के भीतर सभी पात्र अपने-अपने चरित्र अनुसार जीवन धर्मी हैं। एक निगूढ़ प्राणशक्ति जो साहित्यकार लक्ष्मीनारायण लाल की पहचान है, वही तत्त्व उनके सारे पात्रों में मौजूद है। एक उल्लेखनीय बात यह कि लाल के कथा-साहित्य और नाट्य-साहित्य के चरित्र-विन्यास में अपनी अलग-अलग पहचान है।

कहीं-कहीं इनके पात्र आत्मविश्लेषण में लग जाते हैं और अपनी छानबीन करते हैं, प्रतीकों के माध्यम से। कहीं उनकी शैली में वाक्य छोटे-छोटे होते हैं, परन्तु एक दूसरे से गुंथे, जैसे—

“बस मैं हूँ केवल—मैं और मेरा शरीर। शरीर में बोध नहीं है, क्योंकि मैं उसमें से निकल आया हूँ। मेरे किनारे का वातावरण ठीक उस शांत तालाब जैसा है, जिस पर अभी-अभी संध्या का सूर्य डूबा है। तब उसके तीर तल पर एक घोंघा निकला है—अपनी खोल से बाहर, जैसे एक ही सत्ता के दो रूप।”

—काले फूल का पौधा, पृष्ठ १६

उनके सभी उपन्यासों की शब्द गत और शिल्पगत विवेचना के लिए पर्याप्त समय और बहुत स्थान चाहिए। एक निबंध में उनके मूल्यांकन का प्रयास दुस्साहस भी है और उनकी दीर्घ साधना के प्रति अन्याय भी। वे सहज कथाकार हैं परन्तु सबसे पहले वे नाटककार हैं, तब किस्सागी, कथाकार। इसीलिए उनके उपन्यासों की कथावस्तु, शैली, चारित्रिकता सभी में अतिरिक्त शक्ति और प्रभाव

लक्ष्मीनारायण लाल की

पैदा हुआ है। जो एक न
उनकी कथाओं को और
है। और उनके संवादों

उनके उपन्यासों से
सादे और सरल नहीं थे,
“घोंसला तथा साँप” के
तक एक सा है। परन्तु
कई पत्र हैं, कई तहें और
घाटित करती हैं। ‘पुरुष’
इसके जीवंत उदाहरण है

हिन्दी के अन्य प्रेमच
अमृतलाल नागर आदि से
समकालीन भीष्मसाहनी,
अलग है। हर्ष शिवप्रसाद
साधना से लाल ने अपने
विन्यास अन्य सभी से सर्व

भाव का परिवेश भा
के सुरमुट और अमराइयाँ
इन सब पर उनकी दृष्टि
सभी को वे अच्छी तरह से
उनका व्यवहार, उनके दोष
में उनसे कोई गलती नहीं
समाज, उसके चित्र, उनके
बिभल मित्र के पात्र। वे

उत्तरप्रदेशी मध्यमवर्ग औ
के पात्र विषयवस्तु हैं। प
वाली है। क्रान्तिकारिणी है
बहुत से घोषित और तथाक
वह कोसों आगे है। साल
कोई ग्रामीण बुजुर्ग का अत
वैसे ही लेखक का बोध है
विषमताओं से जुड़े समाज

कभी आशंकाओं के प्रति-
है।

विशेष-सामान्य व्यक्तियों के
वन और जगत पर टिप्पणी
करते हैं।

क शैली, मिला-जुला तद्भव
उर्दू, फारसी के सभी प्रचलित
तब उनकी भाषा के अंग हैं।
पन्थासों में अनेक स्थलों पर
कथाकार हैं। अतीत, वर्त-

कहानियां भी हैं—मानवता
सखियाँ, 'मन वृन्दावन' का
को अपाला- आदि ऐसे पात्र
गाए नहीं जा सकते। मुख्य
सार जीवन धर्म हैं। एक
की पहचान है, वही तत्त्व
ह कि लाल के कथा-साहित्य
अलग पहचान है।

ते हैं और अपनी छानबीन
में वाक्य छोटे-छोटे होते हैं,

में बोध नहीं है, क्योंकि मैं
रण ठीक उस शांत तालाब
। तब उसके तीर तल पर
क ही सत्ता के दो रूप।"

ले फूल का पौधा, पृष्ठ १६
त विवेचना के लिए पर्याप्त
मूल्यांकन का प्रयास दुस्सा-
भी। वे सहज कथाकार हैं
कथाकार। इसीलिए उनके
प्रतिरिक्त शक्ति और प्रभाव

पैदा हुआ है। जो एक नाटककार की विशेषता होती है। उस नाटकीय तत्त्व ने
उनकी कथाओं को और प्रभावशाली है बनाया उनकी रमणीयता में वृद्धि की
है। और उनके संवादों को प्राणवत्ता से समृद्ध किया है।

उनके उपन्यासों से प्रारंभ में चरित्रों में भी संलिप्तता तो होती थी, वे सीधे-
सादे और सरल नहीं थे, परन्तु वे कभी-कभी टाइप मात्र लगते थे जैसे बया का
'घोंसला तथा साँप' के तहसीलदार साहब। जिनका खलनायक प्रारंभ से अंत
तक एक सा है। परन्तु बाद के उपन्यासों में अनेक चरित्र ऐसे हैं जिनके भीतर
कई पत हैं, कई तहें और अलग-अलग घटनाएँ उनको क्रमशः उभारती हैं। उद्-
घाटित करती हैं। 'पुरुषोत्तम' की हंसगौरी, 'असत्य भाषा' की जयश्री आदि
इसके जीवंत उदाहरण हैं।

हिन्दी के अन्य प्रेमचंदोत्तर श्रेष्ठ उपन्यासकारों, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा,
अमृतलाल नागर आदि से लक्ष्मीनारायण लाल बिल्कुल भिन्न और पृथक हैं। अपने
समकालीन भीष्मसाहनी, शिवप्रसाद सिंह और श्रीलाल शुक्ल से भी उनकी जमीन
अलग है। हाँ शिवप्रसाद सिंह शायद उनके कुछ समीप पड़ते हैं। परन्तु अपनी
साधना से लाल ने अपने रचनाकार को इतना सबल बनाया है कि उसका रूप
विन्यास अन्य सभी से सर्वथा भिन्न पृथक दिखलाई पड़ता है।

भाव का परिवेश भारत का ग्रामीण समाज, उसके छप्पर, टीले, खेत, बाँस
के झुरमुट और अमराइयाँ, तालाब और पोखर उनमें खिलने वाले पुष्प और फल
इन सब पर उनकी दृष्टि अधिक रहती है। गाँव के बूढ़े, बालक, युवक, स्त्रियाँ,
सभी को वे अच्छी तरह से पहचानते हैं। उनकी आदतें, उनका स्वभाव, सलीका,
उनका व्यवहार, उनके दोष और गुण, सभी कुछ उनके खूब जाने-बूझे हैं। इस क्षेत्र
में उनसे कोई गलती नहीं होती। बहुत समृद्ध आधुनिक वैभव का अभिजात्य
ममाज, उसके चित्र, उनके यहाँ उस तरह नहीं हैं जैसे बगाल के शंकर या
विमल मित्र के पात्र। वे पूरी तरह से हिन्दी के हैं, उत्तरी भारत के विशेषकर
उत्तरप्रदेशी मध्यमवर्ग और ग्रामीण कृषक श्रमिक समुदाय, उनके उपन्यासों
के पात्र विषयवस्तु हैं। परन्तु उनकी सामाजिक चेतना आश्चर्यचकित करने
वाली है। क्रान्तिकारिणी है। प्रभावशाली है, और उथल-पुथल मचाने वाली है।
बहुत से घोषित और तथाकथित प्रगतिशीलों से अपनी लेखनी में, अपने संदेश में
वह कोसों आगे है। लाल का लेखक किसी भी आडम्बर से कोसों दूर है। जैसे
कोई ग्रामीण बुजुर्ग का अनुभव जिन्दगी के कटु सत्यों को हथेली पर स्पष्ट है,
वैसे ही लेखक का बोध है। लाल अपनी लेखनी से आज की विसंगतियों और
विषमताओं से जुड़े समाज को चुपके से आपकी मुट्टी में बन्द कर देते हैं। कोई

चमत्कार नहीं, कोई जादू नहीं, अनुभव के सत्य ने उन्हें विवेकपूर्ण दृष्टि दी है। परन्तु वह उपदेशक नहीं है, कथाकार है, इसलिए अपने संदेश के स्वर अपने ढंग से कहने के आदी है।

कहीं-कहीं पाठक उनके पात्र बाहुल्य में भ्रमित हो जाता है। खुद उनके पास सभी पात्रों के रंग उभारने का जैसे समय न हो, कहीं घटना के बीच अलौकिक तत्त्व ले आकर पाठक में झुंझलाहट पैदा करते हैं। यह विस्मय और अविश्वास का बातावरण बनने लगता है परन्तु उनका कथाकार सजग है, मूल कथासूत्र को हाथ से कभी जाने नहीं देता, फिर पाठक को ठीक राह पर लौटा लाता है। बात करता है कि बीच में तुम जो देख रहे थे, वह भी जीवन का ही एक पक्ष है, अमूर्त और आध्यात्मिक पक्ष। परन्तु अमूर्त होने के कारण ही वह असत्य नहीं है। वह जीवन का वृहत्तर सत्य है।

उनके उपन्यासों में किन्हीं विशेष कृतियों पर उँगली रखने का अर्थ अन्यो का महत्त्व गिराना नहीं है परन्तु 'बया का घोसला और सांप', 'रूपाजीवा', 'मन वृन्दावन' और 'पुरुषोत्तम' अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण और सशक्त कृतियाँ हैं। एक विशेष बात यह कि हर रचना उनके मन में से इस प्रकार रची बसी रहकर सामने आती है कि उनकी प्रत्येक कथाकृति अद्भुत ताजगी लिए हुए रहती है, सबके भीतर धरती की सोंधी महक होती है और रचनाकार का उत्साह और उल्लास हमारे भीतर संक्रामित हो जाता है।

अभी वह पूरे विश्वास के साथ कदम जमा कर चल रहे हैं। उन्होंने बहुत कुछ दिया है परन्तु अभी तक उनकी वे संभावनायें शेष हैं जो नई कृतियों का साधन बनेंगी।

एक सु

डॉ० लक्ष्मीनारायण
नाटक बल्कि, उपन्यास
'रक्तदान' था जो उल्
तरनि रूप से लिखा थ
वंश) सम्भवतः यह
लेकर अब तक वे बर
जहाँ उनकी नाट्यकृ
साहित्य का सम्यक् मू
कुल लेखन के प्रति दे
जीवनी तथा 'निर्मूल
उजागर करते हैं। इ
फिलहाल हम उनके उ

डॉ० लाल ने लग
चित्तन प्रस्फुटित होता
जा सकता है। उपन्यास
भी समर्थ रचनाकार क
है जो उनके अनुभव औ
विषय डॉ० लाल को व
मिलते हैं। विचारों के
दिखाई पड़ते हैं। डॉ०
असहमत भी हो सकता
पहचान देने के लिए क
उपन्यास हो जिसमें प्रेम
जितनी बारीकी से 'मन

ताल की कथा-यात्रा

कपूर्ण दृष्टि दी है।

के स्वर अपने ढंग

है। खुद उनके पास

के बीच अलौकिक

मय और अविश्वास

के, मूल कथासूत्र को

र लोटा लाता है।

का ही एक पक्ष है,

ही वह असत्य नहीं

बने का अर्थ अन्यो

पं', 'रूपाजीवा',

सशक्त कृतियाँ हैं।

र रची बसी रहकर

लिए हुए रहती है,

र का उत्साह और

हैं। उन्होंने बहुत

को नई कृतियों का

एक सुदृढ़ चिंतन कथानक की तलाश में

डॉ० ओम् प्रकाश शर्मा 'प्रकाश'

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल एक अरसे से लिखते चले आ रहे हैं; न केवल नाटक बल्कि, उपन्यास भी। उनकी सुपुत्री के अनुसार उनका पहला उपन्यास 'रक्तदान' था जो उन्होंने अपने विद्यार्थीकाल में आर्थिक विपन्नता की नदी में एक तरनि रूप से लिखा था (वसन्तऋतु: कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल : डॉ० रघु-वंश) सम्भवतः यह उपन्यास तीस-पैंतीस वर्ष पहले लिखा गया होगा। तब से लेकर अब तक वे बराबर लिख रहे हैं। यह तथ्य ध्यान आकर्षित करता है कि जहाँ उनकी नाट्यकृतियों पर पर्याप्त चर्चा-परिचर्चा हुई है, वहाँ उनके कथा साहित्य का सम्यक् मूल्यांकन नहीं हुआ। कभी-कभी ऐसा लगता है कि उनके कुल लेखन के प्रति देय हिन्दी जगत् को चुकाना अभी बाकी है। जयप्रकाश की जीवनी तथा 'निर्मूल वृक्ष का फल' उनकी लेखन प्रतिभा के अन्य पक्षों को उजागर करते हैं। इन सबका समुचित निर्धारण भी किया जाना चाहिए। फिलहाल हम उनके उपन्यासों को चर्चा का विषय बनाएँगे।

डॉ० लाल ने लगभग एक दर्जन उपन्यास रचे हैं जिनमें एक ओर उनका चिंतन प्रस्फुटित होता तो दूसरी ओर उनके औपन्यासिक विकास के ग्राफ को पढ़ा जा सकता है। उपन्यासों के समग्र अनुशीलन से यह तथ्य साफ झलकता है कि किसी भी समर्थ रचनाकार की तरह लक्ष्मीनारायण लाल की निश्चिन्त विचार-सरणि है जो उनके अनुभव और अध्ययन का सहज फल है। वस्तु चयन के स्तर पर कुछ विषय डॉ० लाल को अत्यन्त प्रिय हैं जो कमीबेश उनके हर उपन्यास में पिरोये मिलते हैं। विचारों के बोझ को ढोते ये उपन्यास जगह-जगह अपरूप तक होते दिखाई पड़ते हैं। डॉ० लाल का अपनी बुनियादी सोच है जिससे कोई पाठक असहमत भी हो सकता है। प्रेम, कथाकार का प्रिय विषय है जिसके स्वरूप को पहचान देने के लिए वह निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। यों तो शायद ही कोई उपन्यास हो जिसमें प्रेम सम्बन्धी प्रसंग न आए हों, किन्तु उसके स्वरूप को जितनी बारीकी से 'मन वृन्दावन' में तराशा गया है, उतनी मेहनत उस रूप में

अन्य उपन्यासों में नहीं है। लगभग हर उपन्यास में कोई न कोई मला आदमी किसी स्त्री की ओर सहज रूप से आकर्षित होकर प्रेम की पींग शुरू करता है जो कालान्तर में दोनों के सहयोग से विकसित हो स्थायी सम्बन्ध का रूप ले लेती है। 'बया का घोसला और साँप' में यह सुभागी और आनन्द की जोड़ी है तो 'रूपाजीवा' में सूरज और सन्तोष की। 'शृङ्गार' में श्रीमंत और पेरिन हैं तो 'वसन्त की प्रतीक्षा' में अनुपम मिश्र और मीनाक्षी। 'गोपीचन्दर हरा समन्दर' में प्रेम विक्रम और सुगन सुन्दरी के बीच पनपता है तो 'गली अनारकली' में कमाल और अपाला के बीच। बाकी उपन्यासों में भी ऐसी योजना है। 'प्रेम अपवित्र नदी' और 'मन वृन्दावन' की स्थिति किञ्चित् विशिष्ट है। 'प्रेम अपवित्र नदी' में तीन पीढ़ियों की कहानी है, इसलिए उसमें ताने-बाने कुछ अधिक जटिल हैं। 'मन वृन्दावन' में यह एक त्रिकोण की शकल में है जहाँ एक प्रेमी दो प्रेमिकाओं के बीच संचरण करता है। 'शृंगार' में जहाँ प्रेम प्रकृति और पुरुष की शकल इक्षित्यार कर स्वैराचार हो गया है, वहाँ 'मन वृन्दावन' में यह चिंतन के सूक्ष्म धरातल पर प्रतिष्ठित है।

लेखक ने प्रेम को निष्ठापूर्वक बहुत ऊँचा दर्जा दिया है और एक हृदय तक मुक्ति की अवस्था माना है। प्रायः यह सामाजिक मर्यादा की अवहेलना करता हुआ अलौकिक और निजी हैसियत ग्रहण कर लेता है। इस प्रक्रिया में यह सामाजिक रुढ़ियों से टकराता नहीं बल्कि 'मैं तुम्हारी परवाह नहीं करता' के रुढ़ से घटा बताता, मुँह चिढ़ाता निकल जाता है। अगर कहीं यह संघर्ष हुआ भी है तो बराए नाम। इस दृष्टि से यह 'प्रेम अपवित्र नदी' में अपेक्षाकृत अधिक ठोस और संघर्षपूर्ण धरातल पर स्थापित किया गया है। ब्रजरानी का संघर्ष हृदय की भूख से उत्पन्न होता है जबकि शिवानी का जुर्रतभरा कदम बाह्य प्रतिरोधों, विरोधों को भी झेलता है। अमृता प्रीतम ने माना है कि शिवानी हालत (स्थिति) न होकर एक दिशा है (मेरे पथ बन्धु : कृतिकार लक्ष्मीनारायण लाल : डॉ० रघु-वंश)। स्वतन्त्रता-संघर्ष में अपनी भूमिका को पाये-तकमील तक पहुँचाने के आधार पर अमृता प्रीतम का ऐसा मानना सरासर मुनासिब है। सारी मान्यताओं के खिलाफ जाकर पति के जीवित रहते हुए अपने देवर से मनमर्जी का विवाह परिवेश का अद्यतन निरूपण है।

'मन वृन्दावन' में प्रेम को 'लीला' या 'महारास' के स्तर पर प्रतिष्ठित कर उसे 'परा' की भूमि पर बैठा दिया गया है। प्रेम के स्तर में रोजी-रोटी जैसे स्थूल संघर्षों के लिए गुञ्जाइश नहीं रखी गई। प्रेम मन की एक भूख है जिसको सहज तृप्ति अनिवार्य है। यह आवश्यकता इतनी सर्वोपरि है कि प्राथमिकता की

एक सुदृढ़ चिंतन कथानक की

दृष्टि से शेष उपादानों के मुद्रण मुख्यतः इस अभाव का दुष्परिणाम में विवाहिताओं के पातिव्रत्य इतिहास कह सकती हैं।

'मन वृन्दावन' में उन्मुक्त

जिसे दर्शन के स्तर पर व्याख्या की जाये उसे बेशक कवच प्रदान किया है। इसे अधिक ऊँचा हो गया है। जीवित बिना कोई भाव या विचार जीवित

जिस दूसरे विषय को उपन्यास

वैसे तो रचनाओं में प्राणिमात्र के अस्मिता को विशेषकर पूरा मानना नारायण लाल के लगभग सभी स्त्री भाँति-भाँति के देवावों के नए रूप में हैं—चाहे वे आर्थिक हों या न हों इसमें पुरुष के अहं जनित अत्याचारों से सभी तत्त्व बाधक बनते हैं।

चित्रण है। परमसुन्दरी ब्रजरानी इसलिए घर से बाहर जा पड़ती उसे हरिद्वार में पंढे को दान के चारिकता मात्र थी क्योंकि पंडावार यह औपचारिकता एकाएक में पाई वस्तु को लौटाने पर राजी का पति कोई संघर्ष नहीं करता, हाथ घर लौट आता है। पूरी हृदय से वह को साधिकार लौटा लाए। लेखक का यह चिंतन बहुत स्वस्थ प्रस्त होने की बिना पर औरत के रिवाजों से कहीं ऊपर है। किसी ब्रजरानी का पुत्र विष्णुपद अपनी किंतु संघर्षपूर्ण जीवन को चुनता है शिवानी जो सभ्य है, सुसंस्कृत है

वतन कथानक की तलाश में

कोई न कोई भला आदमी की पीग शुरू करता है जो भी सम्बन्ध का रूप ले लेती और आनन्द की जाँड़ी है तो श्रीमंत और पेरिन है तो 'पोपीचन्दर हरा समन्दर' में 'माली अनारकली' में कमाल योजना है। 'प्रेम अपवित्र नदी' में कुछ अधिक जटिल है। 'प्रेम अपवित्र नदी' में एक प्रेमी दो प्रेमिकाओं की हृति और पुरुष की शकल 'न' में यह चिंतन के सूक्ष्म

है और एक हृदय तट पर दास की अवहेलना करता इस प्रक्रिया में यह सामा-ह नहीं करता' के रख से यह संघर्ष हुआ भी है तो 'आकृत अधिक ठोस और का संघर्ष हृदय की भूख बाह्य प्रतिरोधों, विरोधों की हालत (स्थिति) न रायण लाल : डॉ० रघु-कमील तक पहुँचाने के सिब है। सारी मान्य-ने देवर से मनमर्जी का

स्तर पर प्रतिष्ठित कर तर में रोजी-रोटी जैसे की एक भूख है जिसको है कि प्राथमिकता की

एक सुदृढ़ चिंतन कथानक की तलाश में

२७

दृष्टि से शेष उपादानों के मुकाबले सबसे पहले आती है। सुबन्धु का टूटना मुख्यतः इस अभाव का दुष्परिणाम है। 'मन वृन्दावन' में 'राधाकृष्ण के 'बैकड़ाप' में विवाहिताओं के पातिव्रत्य इसमें बाधा नहीं डालते। वे मुक्तभाव से विहार कर सकती हैं।

'मन वृन्दावन' में उन्मुक्त प्रेम संजीवनी के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है जिसे दर्शन के स्तर पर व्याख्यायित करने का प्रयत्न है। चिंतन की सुदृढ़ता ने इसे बेशक कवच प्रदान किया है किन्तु इस प्रक्रिया में यह पारलौकिक होकर कुछ अधिक ऊँचा हो गया है। जीवन और जगत् के जंजाल से सीधी टक्कर लिए बिना कोई भाव या विचार जीवन के लिए कम उपयोगी तो हो ही जाता है।

जिस दूसरे विषय को उपन्यासों में महत्व मिला है वह नारी की मुक्ति है। वैसे तो रचनाओं में प्राणिमात्र की मुक्ति का सन्देश है तथापि कथाकार नारी की अस्मिता को विशेषकर पूरा मान-सम्मान देता है। मोटे अर्थ में, डॉ० लक्ष्मी-नारायण लाल के लगभग सभी उपन्यास नारी उत्पीड़न के उपन्यास हैं। उनमें स्त्री भ्राँति-भ्राँति के दबावों के नीचे कसमसाती दीखती है। ये दबाव रुढ़ियों के रूप में हैं—चाहे वे आर्थिक हों या सामाजिक या धार्मिक अथवा पारिवारिक। इसमें पुरुष के अहं जनित अत्याचार भी जोड़े जा सकते हैं। स्त्रियों की मुक्ति में ये सभी तत्त्व बाधक बनते हैं। 'प्रेम अपवित्र नदी' में इस दर्द का बड़ा मार्मिक चित्रण है। परमसुन्दरी ब्रजरानी रायसाहब के घराने की पुत्रवधू है। वह मात्र इसलिए घर से बाहर जा पड़ती है कि सूरज कपूर कुल परम्परा के अनुसार उसे हरिद्वार में पंडे को दान कर देता है। साधारणतया तो यह मात्र औपचारिकता मात्र थी क्योंकि पंडा उस दान को तुरन्त लौटा देता था लेकिन एक बार यह औपचारिकता एकाएक कटु हकीकत में बदल जाती है जब पंडा दान में पाई वस्तु को लौटाने पर राजी नहीं होता। ऐसी भीषण स्थिति में ब्रजरानी का पति कोई संघर्ष नहीं करता, उल्टे एक पिटे हुए खिलाड़ी की तरह खाली हाथ घर लौट आता है। पूरी हवेली में किसी पुरुष में इतना दम नहीं कि पंडे से बहू को साधिकार लौटा लाए। उनके लिए कुल मर्यादा व्यक्ति से बड़ी है। लेखक का यह चिंतन बहुत स्वस्थ और प्रासंगिक है कि व्यक्ति का कल्याण—अस्त होने की बिना पर औरत का विशेष रूप से—थोथी मान्यताओं या जड़ रिवाजों से कहीं ऊपर है। किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण अमानुषिक है। ब्रजरानी का पुत्र विष्णुपद अपनी माँ के विचारों का विस्तार है। वह स्वतन्त्र किन्तु संघर्षपूर्ण जीवन को चुनता है। उसके साथ सहयोगी पात्र है उसकी भाभी शिवानी जो सभ्य है, सुसंस्कृत है और स्वतन्त्र रूप से सोच सकती है। शिवानी

का विष्णुपद से विवाह दिखाकर लेखक ने विद्रोही मुद्रा को ताकिक क्रम प्रदान किया है। शिवानी का परम्परामान्य उलझनों के बीच से गुजर कर अन्ततः उन पर विजय पा लेना पिछले मूल्यों के चुक जाने की घोषणा है।

'बया का घोंसला और साँप' में सुभागी के कष्ट भरे जीवन का अन्त आनन्द द्वारा अपना लिए जाने पर होता है। यहाँ लेखक पेचीदगी का एक दूसरा आयाम प्रस्तुत करता है। सुभागी को सताने वाला, बल्कि कहना चाहिए उसे नोचने-वाला और कोई नहीं स्वयं आनन्द का तहसीलदार पिता है। जहाँ प्रेमिका की पीड़ा का स्रोत खुद प्रेमी के घर में ही मौजूद हो, वहाँ मर्यादा के उल्लंघन के लिए अतिरिक्त साहस की आवश्यकता पड़ती है। भारतीय संस्कारों में पिता का विरोध करना या उसके खिलाफ संघर्ष करना काफी साहस का काम है किन्तु आनन्द को अन्ततः ऐसा करते दिखाया गया है जो एक निश्चित अभियान की सफलता है। यह धारा बाकी उपन्यासों में भी प्रवाहित है। 'गोपीचन्दर हरा समन्दर' में विक्रम एक वेश्या पुत्री का उद्धार कर उसे जीवन संगिनी बनाता है तथा सारे समाज के सामने इस रूप में प्रस्तुत हो लानत-मलामत का भाजन बनता है। 'गली अनारकली' में कमाल बीमार अपाला से शादी कर उसे जीवन-सौंदर्य से मंडित करता है। अपाला निखर भी जाती है और स्वस्थ भी हो जाती है। 'गली अनारकली' की लगभग तमाम औरतें एक या दूसरे कारणों से पीड़ित हैं। मुस्लिम वर्ग की सदस्याएँ होने के नाते लेखक ने इसके लिए स्वाभाविक 'स्कोप' बनाया है। बड़ी बहिन को उसके खाविद ने छोड़ दिया था। उसके बाद तीन बार निकाह और तलाक होने के बाद आज वह फिर अकेली है। खुद बच्चों के अब्बा माँ को छोड़कर बम्बई जा बसे हैं। रजा आमीर अपनी अमीरी के बल पर जहाँ-तहाँ औरतों का शोषण करता धूमता है। कुछ और औरतें नोची के चकले में चक्की के पाटों में फँसे गेहूँ के दानों की तरह पीसी जाती हैं। निराश्रित महिलाएँ आय का हल्का सा स्रोत जुटाने के लिए जी तोड़ कोशिश करती हैं। अन्ततः कमाल और तहमीना के प्रयत्नों से एक संगठन बना कर एक सहकारी उद्योग स्थापित किया जाता है।

'वसन्त की प्रतीक्षा' उपन्यास में स्त्री-पीड़ा एक नितान्त भिन्न रूप में प्रस्तुत की गई है। एक छात्रा जा प्रेम-निवेदन को ठुकराती है, अन्ततः पाती है कि वस्तुतः वरेण्य वहाँ है जिसे वह तिरस्कृत करती रहती है। एक धनी व्यापारी से विवाह हो जाने के पश्चात् उसे अपने प्राध्यापक अनुपम मिश्र का सच्चा प्रणय निवेदन बार-बार स्मरण आता है। उसकी पीड़ा उपेक्षा जनित अतृप्ति और असन्तोष के स्तर पर है। अन्त में मिलन सच्चे प्रेम की सफलता को रेखांकित करता है।

डा० लाल के वसन्त कामलता को मूल्यवान तत्त्व की राह लेखक यह दिखाता मनोवृत्ति जीवन को जड़ और उदाहरण 'रूपाजीवा' है जहाँ को जीवन का 'समय बोन' को नियंत्रित करता है जिस है। एक अमानवीय जड़ता है। स्नेह के आदान-प्रदान लगता है। रूपाबहू की कठोर कार है। 'वसन्त की प्रतीक्षा' देखती थी लेकिन जिस व्यापार औरत अपने चूल्हे-चक्की के कामों के कारण यदि वह नहीं। उदासी मिटाने हेतु औरत की प्रकृति को स्पष्ट जिस जगह इस वजह बैठकर उसके बारे में शब्दों में वत विराट् हो गई है। यहाँ निष्पक्षण याद कर रही है। बिन ही होता है, उतना ही तुम आ जाओ, मेरा यह पत्र प को ठण्डाता पति रामतीर्थ है—'माई डियर मीनू, तुम ... बजे मिला ... तुम्हें और का एक बैंक ड्राफ्ट इस प ट्रेवलर्स चेक मैंने रख दिए हैं, वे ठीक से काम कर रहे दो। वे तुरन्त बदले जा स में इस बिन्दु के लिए गुंजाइ सकता। विवेच्य उपन्यास भूमिका स्पष्ट करता है।

चिंतन कथानक की तलाश में

मुद्रा को ताकिक क्रम प्रदान
बोच से गुजर कर अन्ततः उन
घोषणा है।

एक भरे जीवन का अन्त आनन्द
बोदगी का एक दूसरा आयाम
क कहना चाहिए उसे नोचने-
र पिता है। जहाँ प्रेमिका की
हाँ मर्यादा के उल्लंघन के लिए
य संस्कारों में पिता का विरोध
स का काम है किन्तु आनन्द
श्चित्त अभियान की सफलता
। 'गोपीचन्दर हरा समन्दर'
न संगिनी बनाता है तथा सारे
सलामत का भाजन बनता है।
गदी कर उसे जीवन-सौदर्य से
स्वस्थ भी हो जाती है। 'गली
कारणों से पीड़ित हैं। मुस्लिम
नए स्वाभाविक 'स्कोप' बनाया
था। उसके बाद तीन बार
केलो है। खुद बच्चों के अब्बा
पनी अमीरी के बल पर जहाँ-
और औरतें नोची के चकले में
ी जाती हैं। निराश्रित महिलाएँ
इ कोशिश करती हैं। अन्ततः
बना कर एक सहकारी उद्योग

एक नितान्त भिन्न रूप में प्रस्तुत
ी है, अन्ततः पाती है कि वस्तुतः
। एक धनी व्यापारी से विवाह
मिश्र का सच्चा प्रणय निवेदन
जनित अतृप्ति और असन्तोष के
ता को रेखांकित करता है।

डा० लाल के बेशतर उपन्यास जीवन की सहजता, स्वाभाविकता और
कोमलता को मूल्यवान तत्त्व के रूप में उभारते हैं। कथा और चरित्र विकास
की राह लेखक यह दिखाना चाहता है कि व्यापारिक दृष्टि और व्यावसायिक
मनोवृत्ति जीवन को जड़ और सम्बन्धों को कुण्ठित कर देती है। इसका सर्वश्रेष्ठ
उदाहरण 'रूपाजीवा' है जहाँ गोरेमल द्वारा निर्दिष्ट चेताराम व्यापार की प्रगति
को जीवन का 'सममं बोन' मान लेता है। गोरेमल आर्थिक निवेश द्वारा चेताराम
को नियंत्रित करता है जिसके परिणाम स्वरूप चेताराम का परिवार टूटता जाता
है। एक अमानवीय जड़ता परिवार के माहौल को क्रमशः मनहूस बनाती चलती
है। स्नेह के आदान-प्रदान के अभाव में पति-पत्नी का दाम्पत्य जीवन भूखने
सगता है। रूपाबद्ध की कठोरता के मूल में भाव जगत् का यही निःशब्द हाहा-
कार है। 'वसन्त की प्रतीक्षा' में मीनाक्षी अपने प्रेमी को हिकारत की नजर से
देखती थी लेकिन जिस व्यापारी से उसका विवाह होता है वह यह मानता है कि
औरत अपने चूल्हे-चक्की या घर-बार के कामों में मस्त रह सकती है। विजनेस
के कामों के कारण यदि वह पत्नी से संवाद नहीं कर पाता तो कोई खास बात
नहीं। उदासी मिटाने हेतु दार्जिलिंग गई मीनाक्षी का पति को लिखा गया पत्र
औरत की प्रकृति को स्पष्ट करता है—“माई स्वीट डियर राम, दार्जिलिंग में
जिस जगह इस वस्त्र बैठकर मैं तुम्हें यह पहला पत्र... नहीं प्रेमपत्र लिख रही हूँ
उसके बारे में शब्दों में बता पाना किसी के लिए संभव नहीं। सारी प्रकृति यहाँ
विराट हो गई है। यहाँ किसी का अकेले रह पाना नहीं हो सकता। मैं तुम्हें हर
क्षण याद कर रही हूँ। बिना तुम्हारे मैं अपूर्ण हूँ। इस अपूर्णता का बोध जितना
ही होता है, उतना ही तुम याद आते हो... मेरे पास आ जाओ, प्रियतम। अभी
आ जाओ, मेरा यह पत्र पाकर हो आ जाओ...। “इस सहज कोमल उत्तेजन
को ठण्डाता पति रामतीर्थ मलिक का उत्तर कितना नीरस और 'विजनेस लाइक'
है—“माई डियर मीनू, तुम्हारा पत्र दिनांक... यहाँ मुझे दिल्ली में दिनांक... को
... बजे मिला... तुम्हें और रूपों की जरूरत तो नहीं है? अहतियातन दस हजार
का एक बैंक ड्राफ्ट इस पत्र के साथ संलग्न है। तुम्हारी नीली अटैची में कुछ
ट्रेवलर्स चेक मैंने रख दिए थे। यहाँ से जो आया और नीकर तुम्हारे साथ गए
हैं, वे ठीक से काम कर रहे हैं अथवा नहीं? नहीं तो मुझे तार दो, या फोन कर
दो। वे तुरन्त बदले जा सकते हैं...।” राम जैसे उद्योगपतियों की विचारधारा
में इस बिन्दु के लिए गुंजाइश नहीं कि कपया कोमल भाव का स्थानापन्न नहीं हो
सकता। विवेक्य उपन्यास पारिवारिक सम्बन्धों के विघटन में इस दुर्वृत्ति की
भूमिका स्पष्ट करता है।

एक अन्य उपन्यास 'प्रेम अपवित्र नदी' का पूरा ढाँचा अर्थात् अर्थान्धता की धुरी से संचालित है। तीन पीढ़ियों में से चाहे हीराचन्द कपूर हों या सूरज कपूर अथवा कुँवर, सब एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। पीढ़ियों का अन्तराल उनके दृष्टिकोण में कोई बुनियादी अन्तर पैदा नहीं करता। सबका जीवन लक्ष्य अधिकाधिक सम्पत्ति अर्जित करना है। चाँदनी चौक से बाराखम्भा और बाराखम्भा से गोलफ लिंक पहुँच कर व्यापार चाहे अधिक 'सोफिस्टिकेटिड' हो गया हो किन्तु घटा जोड़ की प्रवृत्ति ज्यों-की-त्यों कायम रहती है। इस प्रक्रिया में सूरजप्रकाश ब्रजरानी को खोता है और उसका पुत्र कुँवर शिवानी से हाथ धो बैठता है खास बात यह है कि दोनों को यह महसूस नहीं होता कि उन्होंने कहीं कुछ गंवाया है। यह जोड़ना जरूरी है कि आज भी यह मनोवृत्ति अपने घातक प्रभाव के साथ हमारे सामाजिक जीवन में विद्यमान है। आर्थिक सत्ता से उसे लोगों के परिप्रेक्ष्य में लाल के उपन्यास 'रूपया सभी कुछ नहीं है' का ज्वलन्त निष्कर्ष बार-बार दोहराते हैं।

अब तनिक उपन्यासों की संरचना पर नजर डाल लें।

डा० लाल 'काले फूल का पीधा' से लेकर 'गली अनारकली' की यात्रा कर चुके हैं। निश्चय ही इस यात्रा में विकास के लक्षण उपलब्ध हैं और कुछ श्रेष्ठ उपन्यासों के नमूने भी देखने को मिल सकते हैं लेकिन कुल मिलाकर देखने पर कमजोर ढाँचे की वजह से स्थिति बहुत उत्साहवर्द्धक नहीं है। लाल का विचारक हमेशा उपन्यासों में एक अफरा-तफरी सी, एक अव्यवस्था सी फैलाता रहता है। वे अपने सोच को पाठकों के सामने प्रस्तुत करने की उतावली में उपन्यास संरचना की ओर ध्यान देते नहीं जान पड़ते। प्रायः वे कथानक का तानाबाना सफलतापूर्वक नहीं बुन पाते। बहुत से विचार एक साथ आकर गड़मड़ हो जाते हैं या लेखक बहुत सारी समस्याओं को एक ही कथानक में भर देना चाहता है। 'गोपीचन्द्र हरा समन्दर' में धूस, पुलिस, अत्याचार, इलेक्शन, तस्करी औरतों पर अत्याचार, जाति-पाँति, सहकारी खेती, वेश्या वृत्ति, उद्योग और श्रमिक, शिक्षा जगत् की न्यूनताएँ, राजनीति और प्रजातन्त्र आदि न जाने कितने विषय-उप-विषय समा गए हैं। इनके अतिरिक्त रोमांस, प्रकृति प्रेम और ग्रामोन्मुखता आदि के उल्लेख भी बीच-बीच में आते रहते हैं। बहुत से विषयों की पंचियाँ असम्बद्ध ढंग से जहाँ-तहाँ चिपकती जाती हैं। बहुत से प्रसंग, वार्ताएँ, उपदेश उपन्यास की मूल धारा में बरबस ठूस दिए गए हैं जो छोटे-मोटे स्वतंत्र निबन्ध की शकल इधितयार किए हुए हैं। इसका एक दुष्परिणाम यह होता है कि गम्भीर समस्याओं के पक्षों पर भी सही ढंग से विचार-विमर्श नहीं हो पाता। अनावश्यक भर्ती से

जहाँ उपन्यास काम है। बड़े महत्त्वपूर्ण है कि कोई पात्र— है और चलताऊ व

प्रायः उपन्यास

मुद्दे को विधिवत् आगे बढ़ता चला

'गोपीचन्द्र

यद्यपि उसकी प्रा

दूर चल कर वह स

की विशिष्ट भूमिक

इस उपन्यास में अ

कथानक में सं

लगता है। 'वसन्त

की सेवा करने वाल

मिश्र निकलता है

श्रीमंत उद्योगपति

वास्तव में वह गरी

मालिक जोशी ने प

घटना-प्रसंग

और उनका विकास

गया है। दो नितान

शारीरिक सम्बन्ध

नहीं लगती कि को

पंढे के हाथों सांप

कठिन है कि किस

हैं। चुंगी वाला उ

अच्छों-अच्छों को

हैं। किस गैबो ता

नहीं देता। 'शृङ्गा

गई है लेकिन उत्तर

माइंडेड' हो जाती

जहाँ उपन्यास का म्य आकार से आगे बढ़ जाता है, वहीं गम्भीर विवेचन छूट जाता है। बड़े महत्वपूर्ण विषय को भी सतही ढंग से लिया जाता है। पद्धति यह रहती है कि कोई पात्र—इस संदर्भ में स्वयं नायक विक्रम उनके विषय में कहता चलता है और चलताऊ ढंग से हर समस्या निपटती चलती है।

प्रायः उपन्यासों में विस्तार तो है पर घनत्व नहीं यानि लेखक किसी भी मुद्दे को विधिवत् 'बिल्ड अप' नहीं करता; हाथ लगाकर छोड़ता चलता है और आगे बढ़ता चला जाता है।

'गोपीचन्द्र' को एक्सर्ट उपन्यास नहीं माना जा सकता। यद्यपि उसकी प्रारम्भिक उठान इस बात का भ्रम पैदा करती है किन्तु कुछ ही दूर चल कर वह सामान्य ढर्रे का अनुगमन करता है। एक्सर्ट उपन्यास में भाषा की विशिष्ट भूमिका तथा घटना-प्रसंगों का विपर्यस्त होना आवश्यक है जिसका इस उपन्यास में अभाव है।

कथानक में संयोग तत्त्व का इस्तेमाल फिल्मी लटकॉ-सटकों की याद दिलाने लगता है। 'वसन्त की प्रतीक्षा' उपन्यास के अन्त में ट्रेन दुर्घटना ग्रस्त मीनाक्षी की सेवा करने वाला आर्कियालोजिस्ट डॉ० कश्यप मीनाक्षी का पूर्व प्रेमी अनुपम मिश्र निकलता है जो मरा हुआ समझ लिया गया था। 'शृङ्गार' का नायक श्रीमंत उद्योगपति का पुत्र है किन्तु समाप्ति के आस-पास राज खुलता है कि वास्तव में वह गरीब मजदूरिन का बेटा था जिसे मजदूरिन के मर जाने पर मालिक जोशी ने पाला था।

घटना-प्रसंग और चरित्र कई बार वास्तविक जगत् से विच्छिन्न लगते हैं और उनका विकास किसी तार्किक आधार पर न होकर मनमाने ढंग से किया गया है। दो नितान्त अज्ञान व्यक्तियों के बीच तुरत-फुरत घनिष्ठता प्रेम और शारीरिक सम्बन्ध फिल्मी अन्दाज का सा लगता है। यह बात बहुत विश्वसनीय नहीं लगती कि कोई पति केवल औपचारिक दान के आधार पर अपनी पत्नी को पंजे के हाथों साँप दे और वापसी के लिए जरा भी जद्दो जहद न करे। कहना कठिन है कि किस कारण 'गोपीचन्द्र' के नायक के सामने सभी मात खाते जाते हैं। चुंगी वाला उससे रिश्तत नहीं लेता, पुलिस उससे घबराती है। यों पुलिस अच्छों-अच्छों को ठोक देती है ! कोठों के इर्दगिर्द के गुण्डे उससे हार मान जाते हैं। किस गैबी ताकत के अन्तर्गत यह होता चलता है, उपन्यासकार इसके संकेत नहीं देता। 'शृङ्गार' की पेरिन पहले इतनी प्राकृतिक सहज और उन्मुक्त दिखाई गई है लेकिन उत्तरार्द्ध में बही अत्यन्त व्यावसायिक, व्यावहारिक और 'बिजनेस माइंडेड' हो जाती है। इस अन्तर्विरोध की उपन्यास में कहीं कोई व्याख्या नहीं।

'गली अनारकली' के आरम्भ में कमाल क्योंकर रजा आमीर से जुड़ता है, कहना कठिन है।

लगभग हर उपन्यास में पात्र अकारण या सकारण काव्य पंक्तियाँ गाते मिलेंगे जो एकदम आरोपित में लगते हैं क्योंकि उपन्यास के ढाँचे से इनका कोई तुक जुड़ता नजर नहीं आता।

गठन की दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक मजबूत भूमि पर हैं—'रूपाजीवा', 'मन वृन्दावन' तथा 'प्रेम अपवित्र नदी'। इन्हीं में कुछ चरित्र ऐसे हैं जो मन पर छाप छोड़ते हैं। रूपा बहू अपने मनोवैज्ञानिक वैशिष्ट्य के लिए तथा सूरज क्रान्तिमूलक विरोध के लिए स्मरणीय हैं। इनके चरित्र की पूरी कैफियत उपन्यास में उपलब्ध है। ऐसे ही मधुबुआ, फूफा और गोरेमल भी प्रभावशाली हैं। 'प्रेम अपवित्र नदी' की ब्रजरानी अपनी दृढ़ता और संघर्षों के लिए बेमिसाल है। उसके संघर्ष सकारण और सोद्देश्य हैं। विष्णुपद का आचरण उसके संस्कारों की बजह से अत्यन्त स्वाभाविक है। उसके चरित्र की एक पूरी पृष्ठभूमि संलग्न है। ऐसे ही शिवानी के साहस के बीज पहले कहीं-न-कहीं दबाए गए हैं जो समुचित परिस्थितियों से विकास पाते हैं। इस उपन्यास में पीढ़ियों के अन्तराल के रूबरू क्रमिक विकास दिखाया गया है।

'मन वृन्दावन' अपने ढंग का एक अनूठा उपन्यास है। डॉ० लाल के उपन्यासों में यह अकेला अपनी अलग कोटि की मांग करता है। पूरे उपन्यास को नाटकीय 'पेट्रन' पर विकसित किया गया है। कथा प्रवाह का माध्यम यात्रा को बनाया गया है। यात्रा बराबर आगे बढ़ती जाती है। मुनासिब समय पर उसमें पड़ाव भी आते हैं। समानान्तर चलती है कथा जो उपयुक्त पड़ावों पर आकर मोड़ लेती चलती है। इस प्रकार यात्रा के साथ सम्बद्ध होकर कथानक का सहज विकास स्वतः होता चलता है। वृन्दावन की यात्रा एक ओर कथा की यात्रा है और दूसरी ओर मन की भी। मन ही वृन्दावन है। यात्रा का अंतिम लक्ष्य आनन्द है जो मुक्त मन की राह संभव है। सुबन्धु, सुगन, हिरनमयी आदि जिन प्रश्नों से उलझते-झूझते हैं वे जीवन से सम्बन्धित हैं यद्यपि वे सभी चिंतन के स्तर पर हैं। इसलिए अपेक्षाकृत सूक्ष्म भी लगते हैं।

पतितराम इस उपन्यास का विलक्षण पात्र है जो अपनी सीमित भूमिका में भी अत्यन्त प्रभावशाली है। पतितराम सुबन्धु, सुगन, हिरन के बहुत से सवालों का मानो जवाब है। अपनी सादगी में भी वह सुदृढ़ और निर्विकल्प है। डॉ० लाल के उपन्यासों में कई हाशिए क पात्र बहुत सबल बन पड़े हैं।

छोटी-छोटी पौराणिक वार्ताएँ प्रतीक अर्थ देती हुई कथा-प्रवाह में अपनी

एक सुदृढ़ चिंतन कथानक

संगति पाती हैं। लुंजू पटेल दोनों के अन्तःसम्बन्धों को पर कथाकार यदि वर्णन कर रहा जाता है।

वस्तुस्थिति में सामाजिक विकसित सोपान है। 'श्रुति' के लिए लय की दृष्टि से संकटाग्रस्त जीवन के चित्र का प्रावधान रचते हैं। लेखक खोज-पड़ताल में जाने के लिए हारिक है। लेखक का ऐसा है। 'फ्लैप' पर 'गली अनारकली' गया है पर वास्तव में यह पर हाथ धरता है जो स्त्रियों उपन्यास की ध्वनि है कि उनके मूल कारण हैं। कथा के से उद्भूत होती है।

एक सीमा तक असम्बद्ध कटा-छँटा अर दुस्त है।

कुछ पिछले हैंग ओव के नाटककारी व्यक्तित्व का

लक्ष्मीनारायण लाल का आभास देते हैं। उनके में जूद है। दुर्भाग्य से वे कथानक में चरित्र को भी होते हैं। सफल नाटककार अघकचरे उल्लेख के रूप में उपन्यास विधा के तकाजों की रचना कर सकते हैं।

वतन कथानक की तलाश में

आमीर से जुड़ता है, कहना

काव्य पंक्तियाँ गाते मिलेंगे

चे से इनका कोई तुक जुड़ता

पर है—'रूपाजीवा', 'मन

चरित्र ऐसे हैं जो मन पर

व्य के लिए तथा मूरज

रेश की पूरी कैफियत उप-

रेमल भी प्रभावशाली हैं।

र्षों के लिए बेमिसाल है।

गावचरण उसके संस्कारों की

पूरी पृष्ठभूमि संलग्न है।

दबाए गए हैं जो समुचित

द्वेषों के अन्तराल के रूबरू

स है। डॉ० लाल के उप-

रता है। पूरे उपन्यास को

वाह का माध्यम यात्रा को

मुनासिब समय पर उसमें

उपयुक्त पड़ावों पर आकर

होकर कथानक का सहज

एक ओर कथा की यात्रा है

। यात्रा का अंतिम लक्ष्य

न, हिरनमयी आदि जिन

हैं यद्यपि वे सभी चिंतन के

अपनी सीमित भूमिका में

हिरन के बहुत से सवाल

और निर्विकल्प है। डॉ०

बन पड़े हैं।

हुई कथा-प्रवाह में अपनी

एक मुदक चिंतन कथानक की तलाश में

६३

संगति पाती हैं। लुंजू पटेल राधाबाई को कुब्जा और कृष्ण का प्रसंग सुनाता है जो दोनों के अन्तःसम्बन्धों को अर्थ दे मुख्यधारा में विलीन हो जाता है। ऐसे स्थानों पर कथाकार यदि वर्णन का सहारा लेता तो वह औसत स्तर पर लटक कर रह जाता है।

वस्तुस्थिति में सामाजिक सरोकारों की दृष्टि से 'गली अनारकली' एक विकसित सोपान है। 'श्रुङ्गार' और 'वसन्त की प्रतीक्षा' जहाँ कविता के विषय थे (इसलिए लय की दृष्टि से खराब उपन्यास बने) वहाँ मुस्लिम महिलाओं के संकटाग्रस्त जीवन के चित्रण उपन्यास ('गली अनारकली') के लिए उपयुक्त लय का प्रावधान रचते हैं। लेखक निराश्रित महिलाओं की विपत्तियों के कारणों की खोज-पड़ताल में जाने के बाद समाधान भी प्रस्तुत करता है जो नितान्त व्यावहारिक है। लेखक का ऐसा रवैया विषय से गहरे जुड़ने का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। 'फ्लैप' पर 'गली अनारकली' को चिकनकारियों की वेबसी का उपन्यास कहा गया है पर वास्तव में यह पूरे मुस्लिम समुदाय में व्याप्त उन अमानवीय रवायतों पर हाथ धरता है जो स्त्रियों को अभिशप्त जीवन के लिए विवश करती हैं। उपन्यास की ध्वनि है कि दकियानूसीपन तथा आर्थिक पिछड़ापन ही उनकी पीड़ा के मूल कारण हैं। कथा की व्यंजना घटनाओं के समायोजन और चरित्रों के संघर्ष से उद्भूत होती है।

एक सीसा तक असम्बद्ध सामग्री से मुक्त होने के कारण यह उपन्यास काफी कटा-छँटा अर दुरुस्त है।

कुछ पिछले 'हैंग ओवर' भी विद्यमान हैं जैसे पात्रों का गीत गाना (लेखक के नाटककारी व्यक्तित्व का प्रभाव ?)

लक्ष्मीनारायण लाल के पास अपना चिन्तन है। वे मूलतः विचारक होने का आभास देते हैं। उनके पास भाषा के सर्जनात्मक उपयोग की क्षमता भी मौजूद है। दुर्भाग्य से वे कथानक की बुनावट पर विशेष ध्यान नहीं देते। मैं कथानक में चरित्र को भी शामिल करता हूँ क्योंकि वे उसी के अन्तर्गत विकसित होते हैं। सफल नाटककार का व्यक्तित्व जल्दबाजी में उपन्यास की वस्तु को अधकचरे उल्लेख के रूप में छोड़ आगे बढ़ने को मजबूर कर देता है। यदि वे उपन्यास विधा के तकाजों को पहचानकर उन्हें अहमियत दें तो बिला शक क्लासिक की रचना कर सकते हैं।

ना
ट
क
का
र



शिवसेनक

लाल रंग की पहचान

डॉ० सुभाष भाटिया

जब कोई भी लाल के रंगबोध की चर्चा करेगा या उसको समझने की चेष्टा करेगा तो नाटककार, रंग चिंतक लक्ष्मीनारायण लाल के प्रत्येक शब्द पर रुकना पड़ेगा, प्रत्येक शब्द को फिर से देखना पड़ेगा। "रंग" और "भूमि" दोनों को इन्होंने पहली बार अपने ढंग में देखा है और जो सनातन अवधारणा है, जो कि न जाने कितने पदों में अब तक छिपा हुआ था, लोक भ्रम में छिपा हुआ था, शास्त्र अज्ञान में छिपा था, अंध आचरण में छिपा था, उसे न जाने किन-किन स्रोतों से उन सारी अर्थवक्ताओं को ले आकर लाल ने अर्थ दिया है, रंग के लिए। अर्थ से भी आगे रंग का बोध। उनके ही शब्दों में बोध का अर्थ है—"जो अनुभूति से गुजर गया हो वही बोध है। जो सिर्फ बुद्धि के भीतर है वह बोध नहीं है। बोध का तो मूल "बुद्ध" है जो अनुभूत सत्य है, वही बोध है।"

लाल के रंगबोध को समझने के लिए नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल की पूरी रंगयात्रा को समझना होगा। उस रंगयात्रा का इतिहास बिन्दु भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी नहीं है। उस रंगयात्रा का जो सनातन बिन्दु है, वह है अपना सनातन। अपने सनातन से तथाकथित आधुनिक नाट्य के बीच जो शून्य है, व्यवधान है, उसे पहली बार लाल ने हमें दिखाया है। इसलिए जहाँ हमारे सनातन का "भूला बिसरा हुआ सूत्र" छूटा पड़ा था, वहीं से लाल ने उसे उठाया है और अपने समय, अपनी "अवस्था" से जाड़ा है। सृजन और चिंतन, दोनों धरातलों से। इसलिए एक लम्बी दूरी को पारकर उसको तैरकर लाल उस रंगभूमि पर जाते हैं जहाँ पर सनातन दृष्टि थी और है। उसी "थी" और "है" से उन्होंने फिर से सूत्र जोड़ा। उसमें कहीं भी नहीं आते आधुनिक नाटककार, चाहे वे जयशंकर प्रसाद, डाक्टर रामकुमार वर्मा, उपेन्द्रनाथ अशक या मोहन राकेश ही क्यों न हों। जिनके नाटक, भारतीय नाट्य नहीं, अपितु रंगमंच (थियेटर) की ही वस्तु बन कर रह गए। जिनमें न तो पूरा भारतीय रंग ही निखर कर आ पाया, और न ही वे स्वभावतः पश्चिम के "ड्रामा" की गरिमा को ही पकड़ पाये।

लक्ष्मीनारायण लाल अपनी नाट्य यात्रा के प्रारंभिक काल में पाश्चात्य परम्परा से प्रभावित होकर यथार्थवादी, प्रतीकवादी, मिथकीय नाटक जैसी आधुनिक युग की कई रीतियों का निर्वाह करते रहे, परन्तु उनके अन्तर्मन का संघर्ष तो कुछ और ही रहा। आधुनिकता की चल रही दौड़ से मन एक प्रकार की पीड़ा, अकुलाहट तथा क्षुब्धता का अनुभव करता रहा, "कितनी झूठी है ड्रामा थियेटर की ये सब चीजें, उनके लिए तो बहुत अच्छी हैं, पर हमारे लिए नहीं। हमारे लिए तो हमारी अपनी ही चीज महत्वपूर्ण है, उनकी कोई भी चीज हमारी कैसे हो सकती है?" तभी उनकी खोज थी अपनी भूमि की, मिट्टी, अपने रंग की, अपनी रंगभूमि की। आखिर उस सारे पाश्चात्य चिंतन की होली जलाकर लाल आज रंगमंच से रंगभूमि पर आ खड़े हुए। इसका तात्पर्य यह भी नहीं, उनके अबचेतन में पहले ये विचार थे ही नहीं। वे कहते हैं कि "अबचेतन में पहले यह बात काम कर रही थी, सारा संघर्ष चल रहा था, कहीं कुछ गड़बड़ है, भूला त्रिसरा, छूटा हुआ है, ऐसा अनुभव हो रहा था, पर कोई मान नहीं रहा था। इसलिए इस अंधकार में अकेले लड़ते रहे और अकेले लड़ते-लड़ते इतना ममय लग गया।" इस समय लग गया था क्योंकि उनके अनुसार "अज्ञानता के भीतर से गुजरेंगे नहीं तब तक वह भ्रम कैसे टूटेगा।" इसका उनको कम दुख भी नहीं है। वे तुलसी के शब्दों में कहते हैं :

अति लघु बात लागि दुःख पावा।

काहु त मोहि कहि प्रथम जनावा।।

लाल के नाट्य चिंतन का प्रथम चरण हमें उनके "रंगमंच और नाटक की भूमिका" ग्रन्थ में दिखायी देता है। जहाँ "नाटक" तथा "ड्रामा" "रंगमंच" तथा "थियेटर" एक दूसरे के पर्याय मात्र दिखायी देने हैं। लेकिन उनका चिंतन और दर्शन भीतर से किसी ओर दिशा की ओर चल रहा था। इन दोनों शब्दों को एक दूसरे का पर्याय कहना उनकी आँखों में तिनके की तरह चुप रहा था। और "मंच" शब्द किस प्रकार "भारतीय रंगमंच", "संस्कृत रंगमंच" या "हिन्दी रंगमंच" कहलाता रहा? जिसका एकमात्र कारण, हमारा आधुनिक होने और आधुनिक बने रहने व कहलाने का वह भ्रम और मोह है जिसमें हमें यहाँ तक नहीं सूझा कि "रंगमंच" पश्चिम के "थियेटर" का अनुवाद है। अपने शाब्दिक अर्थ में वह अपना कैसे हो सकता है? हाँ केवल "मंच" थियेटर का अनुवाद हो सकता है। पर मंच के साथ जो "रंग" जुड़ा है वह रंगते थियेटर की परिकल्पना में ही नहीं है।

लाल ने "रंग" शब्द के करना, रोशन करना, रंगना बनते हैं, उनसे अपने आपको उत्साह या सौन्दर्य का दृष्टि भरपूर उत्साह" रंग की संज्ञा ऊँचा उठा हुआ स्थान। यह साथ भूमि के जुड़ने का अर्थ प्रकट हो रहा हो या क्रिया होने वाला "नाट्य" वह तो उत्साह, मनुष्य द्वारा निर्मित लाल का विचार है—"रंग उत्साह। पूरा रंग ही रूपक होता है, प्रकट होता है—तो विपरीत "ड्रामा" बिल्कुल क और रूपक इसका पूरा सत्य है :—

रंगभूमि
देखि

"रूप वही रूपक है। लाल के शब्दों में—"हमारे है। भूमि ही समस्त प्रजनन नाटक, पूरी भूमा का आधार कहा गया है। उनकी दृष्टि धातु से बना है जिसका अर्थ पहले नहीं था।" इस शब्द हुआ "भूमि वह विशेष स्थान के बाद ही बनकर तैयार हो

कितना विशाल अर्थ स लाल के शब्दों, "भूमि" म और चिंतन हुआ, वही है दृष्टि से वह जगह है जहाँ

परन्तु १९वीं शताब्दी लाल—७

लाल रंग की पहचान

प्रारंभिक काल में पाश्चात्य
थकीय नाटक जैसी आधु-
उनके अन्तर्मन का संघर्ष
इसे मन एक प्रकार की
"कितनी झूठी हैं ड्रामा
हैं, पर हमारे लिए नहीं।
कोई भी चीज हमारी कैसे
मिट्टी, अपने रंग की,
की होली जलाकर लाल
पर्य यह भी नहीं, उनके
"अवचेतन में पहले यह
की कुछ गड़बड़ है, भूला
जेई मान नहीं रहा था।
नहते-लड़ने इतना ममय
तार "अज्ञानता के भीतर
उनको कम दुख भी नहीं

लाल ने "रंग" शब्द के बाह्य एवं आंतरिक अनेक अर्थ बताये हैं। जैसे— "रंग
करना, रोशन करना, रंगना या वर्ण अर्थात् अक्षर समूहों में किसी छन्द और रस
बनते हैं, उनसे अपने आपको अभिव्यक्त करना और उनमें विशेष अर्थ उल्लास,
उत्साह या सौन्दर्य का दृष्टिगोचर होना। प्रकृति या मनुष्य के भीतर प्रकट होता
भरपूर उत्साह" रंग की संज्ञा पाता है। मंच का अर्थ होता है जमीन की सतह से
ऊँचा उठा हुआ स्थान। यह शब्द पश्चिम के "स्टेज" का अनुवाद है। रंग के
साथ भूमि के जुड़ने का अर्थ हुआ वह स्थान जहाँ पर आनन्द, उत्साह उत्साह
प्रकट हो रहा हो या क्रियान्वित हो रहा हो। परन्तु वास्तव में उस पर प्रकट
होने वाला "नाट्य" वह तो चैतन्य से जुड़ा है। "चैतन्य का रंग उत्साह और
उत्साह, मनुष्य द्वारा निर्मित "मंच" पर तो कभी प्रकट हो ही नहीं सकता।
लाल का विचार है— "रंग से अभिप्राय है— एक सम्पूर्ण उत्साह और आन्तरिक
उत्साह। पूरा रंग ही रूपक है। पूर्ण रंग जब अपना रूप धारण कर अभिव्यक्त
होता है, प्रकट होता है— तो वही है रूपक और रूपक से आया है नाटक। इसके
विपरीत "ड्रामा" बिल्कुल दूसरी दिशा से आया है।" उन्होंने देखा कि रंग, भूमि
और रूपक इसका पूरा सत्य तुलसीदास ने एक चौपाई में प्रतिष्ठित कर रखा
है :—

रंगभूमि जब सिय पनु धारी।

देखि रूप मोहे नर नारी॥

"रूप वही रूपक है। रूपक सम्पूर्ण है। रंग पूरा है। भूमि रंग से पूरी है।"
लाल के शब्दों में— "हमारे यहाँ मंच की अवधारणा नहीं है, भूमि की अवधारणा
है। भूमि ही समस्त प्रजनन, सृजन की अधिष्ठात्री है। हमारी भूमि पूरे विराट
नाटक, पूरी भूमा का आधार है। सम्भवतः इसीलिए भूमि को हमारे यहाँ माँ
कहा गया है। उनकी दृष्टि में भूमि का एक विशाल अर्थ भी है। यह शब्द "भू"
धातु से बना है जिसका अर्थ होता है कुछ घटना या होना या "वह होना जो
पहले नहीं था।" इस शब्द में "मि" प्रत्यय जुड़ा है और इस शब्द का अर्थ
हुआ "भूमि वह विशेष स्थल है, स्थान है कि जो किसी विशेष निर्माण-प्रक्रिया
के बाद ही बनकर तैयार होता है।"

कितना विशाल अर्थ समायें हुए यह "भूमि" अपने अंक में, अपने चैतन्य में।
लाल के शब्दों, "भूमि" मायने "चित्त" होता है। भूमि से जुड़कर जो सृजन
और चिंतन हुआ, वही है हमारा नाट्य। यह भूमि का विशेष अर्थ नाट्य की
दृष्टि से वह जगह है जहाँ सबकी दृष्टि लगी है।"

परन्तु १९वीं शताब्दी और उसके आस-पास एक घटना भारत में घटी तथा
साल—७

लाल रंग की पहचान

प्रारंभिक काल में पाश्चात्य
थकीय नाटक जैसी आधु-
उनके अन्तर्मन का संघर्ष
इस मन एक प्रकार की
"कितनी झूठी है ड्रामा
है, पर हमारे लिए नहीं।
कोई भी चीज हमारी कैसे
मिट्टी, अपने रंग की,
की होली जलाकर लाल
पर्य यह भी नहीं, उनके
"अवचेतन में पहले यह
की कुछ गड़बड़ है, भूला
कोई मान नहीं रहा था।
महत्ते-लड़ने इतना ममय
आर "अज्ञानता के भीतर
उनको कम दुख भी नहीं

लाल ने "रंग" शब्द के बाह्य एवं आंतरिक अनेक अर्थ बताये हैं। जैसे— "रंग
करना, रोशन करना, रंगना या वर्ण अर्थात् अक्षर समूहों में जिन्हें छन्द और रस
बनते हैं, उनसे अपने आपको अभिव्यक्त करना और उनमें विशेष अर्थ उल्लास,
उत्साह या सौन्दर्य का दृष्टिगोचर होना। प्रकृति या मनुष्य के भीतर प्रकट होता
भरपूर उत्साह" रंग की संज्ञा प्राता है। मंच का अर्थ होता है जमीन की सतह से
ऊँचा उठा हुआ स्थान। यह शब्द पश्चिम के "स्टेज" का अनुवाद है। रंग के
साथ भूमि के जुड़ने का अर्थ हुआ वह स्थान जहाँ पर आनन्द, उल्लास उत्साह
प्रकट हो रहा हो या क्रियान्वित हो रहा हो। परन्तु वास्तव में उस पर प्रकट
होने वाला "नाट्य" वह तो चैतन्य से जुड़ा है। "चैतन्य का रंग उत्साह और
उत्साह, मनुष्य द्वारा निर्मित "मंच" पर, तो कभी प्रकट हो ही नहीं सकता।
लाल का विचार है— "रंग से अभिप्राय है—एक सम्पूर्ण उत्सास और आन्तरिक
उत्साह। पूरा रंग ही रूपक है। पूर्ण रंग जब अपना रूप धारण कर अभिव्यक्त
होता है, प्रकट होता है—तो वही है रूपक और रूपक से आया है नाटक। इसके
विपरीत "ड्रामा" बिल्कुल दूसरी दिशा से आया है।" उन्होंने देखा कि रंग, भूमि
और रूपक इसका पूरा सत्य तुलसीदास ने एक बीगारी में प्रतिष्ठित कर रखा
है :—

रंगभूमि जब सिय पगु धारी।

देखि रूप मोहे नर नारी।।

"रूप वही रूपक है। रूपक सम्पूर्ण है। रंग पूरा है। भूमि रंग से पूरी है।"
लाल के शब्दों में— "हमारे यहाँ मंच की अवधारणा नहीं है, भूमि की अवधारणा
है। भूमि ही समस्त प्रजनन, सृजन की अधिष्ठात्री है। हमारी भूमि पूरे विराट
नाटक, पूरी भूमा का आधार है। सम्भवतः इसीलिए भूमि को हमारे यहाँ माँ
कहा गया है। उनकी दृष्टि में भूमि का एक विशाल अर्थ भी है। यह शब्द "भू"
धातु से बना है जिसका अर्थ होता है कुछ घटना या होना या "वह होना जो
पहले नहीं था।" इस शब्द में "मि" प्रत्यय जुड़ा है और इस शब्द का अर्थ
हुआ "भूमि वह विशेष स्थल है, स्थान है कि जो किसी विशेष निर्माण-प्रक्रिया
के बाद ही बनकर तैयार होता है।"

कितना विशाल अर्थ समाये हुए यह "भूमि" अपने अंक में, अपने चैतन्य में।
लाल के शब्दों, "भूमि" मायने "चित्त" होता है। भूमि में जुड़कर जी सृजन
और चिंतन हुआ, वही है हमारा नाट्य। यह भूमि का विशेष अर्थ नाट्य की
दृष्टि से वह जगह है जहाँ सबकी दृष्टि लगी है।"

परन्तु १९वीं शताब्दी और उसके आस-पास एक घटना भारत में बड़ी तथा
साल—७

आधुनिकता की चकाचौंध ने न केवल हमारी "रंगभूमि" शब्द की धज्जियाँ उड़ा दीं, अपितु हमें हमारे धर्म से, संस्कारों से भी विलग कर दिया। "धर्म" शब्द सिकुड़कर "संस्कृति" में परिणित हो गया और "रंगभूमि" तथा "नाट्य" शब्द सिकुड़कर "नाटक" या "ड्रामा" में परिवर्तित होकर रह गई। उस पाश्चात्य की आधुनिकता तथा इस आधुनिक थियेटर से हमारी आँखें इतनी चौंधियाँ गईं कि जो दूसरों का है वह हमारा कैसे हो सकेगा, इसका एक क्षण तक भी विचार नहीं किया कि

"हम कौन थे क्या हो गये।

और होंगे क्या अभी ॥"

लाल सच ही कहते हैं कि "यह आधुनिक थियेटर हमारी स्मृति-परिदृश्य को छोटा करता चला गया। पहले अपने रंग, रूपक, फिर अपने नाटक पर पर्दा गिराकर हमने ड्रामा का पर्दा उठाया, फिर यथार्थवाद का, फिर पदार्थवाद का, फिर न जाने क्या-क्या जिसे स्वभावतः न हम समझ पाये न उससे दर्शकों को बाँध पाये। फलतः जहाँ से पश्चिम के यथार्थवादी रंगमंच को हमने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया, वहीं से हमारी "रंगभूमि" के दुर्भाग्यपूर्ण चरण का प्रारम्भ हुआ। भारतीय रंग परंपरा, दर्शक संस्कार, रंजन प्रवृत्ति, इन सबकी उपेक्षा कर हमने मान लिया कि नाटक मायने यथार्थ की नकल। वे कहते हैं कि "यहीं से हमारे आधुनिक नाटक का दुर्भाग्यपूर्ण चरण शुरू होता है। हमने पश्चिम के दुर्भाग्य को अनजाने ही अपना लिया।"

लाल "नाटक" नहीं "नाट्य" शब्द मानते हैं। भरत के नाट्य शब्द को समझाते हुए वे लिखते हैं कि, श्री भरत मुनि प्रणीत "नाट्य शास्त्र" में "नाट्य" शब्द का प्रयोग और व्यवहार बहुत ही व्यापक अर्थ में हुआ है, जिसकी अपनी मर्यादा और विशेष अर्थ गौरव है। यहाँ नाट्य से तात्पर्य केवल नाटक अथवा रंग नहीं, बल्कि इसके अन्तर्गत नाटक (कृति) रंग, वास्तु, अभिनय, उपस्थापन, पात्र और दर्शक समाज सब है और इन सबका शास्त्र है "नाट्यशास्त्र" जिसके प्रमाण स्वरूप वे निम्नलिखित श्लोक देते हैं :

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला ।

नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येस्मिन् यन्नदृश्यते ॥

यह नाट्य शब्द की संस्कृत की "नट" धातु से बना है। (वाक्यार्थभिनयं रसा श्रयं नाट्यं) अर्थात् पूरे वाक्य के अर्थ को अभिनय द्वारा प्रदर्शित करके रस उत्पन्न करने को नाट्य कहते हैं। अबस्थानुकृतिनाट्यम भरत की ही नाट्य परिभाषा को स्पष्ट करते वे कहते हैं, और इस नाट्य में केवल आंगिक और

वाचिक अनुकरण ही नहीं अत्याधुनिक चितन धर्म और अधिष्ठान बताते हैं। उनका मत है, इसीलिए अवस्था है। अपना नाट्य, अनुकरण (प

लाल की रंगदृष्टि में

का एक अद्भुत संतुलन है, अब इस अभाव की पूर्ति के वह कलाकार जिसमें कर्मठ जिसमें से नाट्य के चेतन्य कार उस रंगभूमि को एक हुए वे लिखते हैं कि, "नाट्य" जैसे एक शर्त है ही। इस हो सकता है जिसे पहले स है—उस अवस्था के साथ क्योंकि बिना जीवन के नाट्य है। बीज में अगर प्राण न क्या होगा उसमें से ?"

पाश्चात्य ड्रामा से है। पश्चिम के ड्रामा का मनुष्य और समाज के और तोड़ना है, वहाँ मिल में है ही नहीं, वहाँ स्वयं भाव से संतुस्त हैं। उनके शब्दों में लाल ने पाश्चात्य और १९६० के बाद नि बुनियादी अंतर वे दिखाते भी लाल उसे आधुनिक उस पर नये ढंग से सोच कहते हैं कि "उसके रूप पुरखों ने गिना दिये वही

“रंगभूमि” शब्द की ध्वजियाँ उड़ा
लगा कर दिया। “धर्म” शब्द
“रंगभूमि” तथा “नाट्य” शब्द
होकर रह गया। उस पाश्चात्य
आँखें इतनी चौंधियाँ गईं
, इसका एक क्षण रुककर भी

गये।

भी ॥”

थियेटर हमारी स्मृति-परिदृश्य को
क, फिर अपने नाटक पर पर्दा
वाद का, फिर पदार्थवाद का,
मल्ल पाये न उससे दर्शकों को
रंगमंच को हमने ज्यों का त्यों
के दुर्भाग्यपूर्ण चरण का प्रारम्भ
न प्रवृत्ति, इन सबकी उपेक्षा
नकल। वे कहते हैं कि “यहीं
होता है। हमने पश्चिम के

भरत के नाट्य शब्द को सम-
“नाट्य शास्त्र” में “नाट्य”
में हुआ है, जिसकी अपनी
तात्पर्य केवल नाटक अथवा
वास्तु, अभिनय, उपस्थापन,
शब्द है “नाट्यशास्त्र” जिसके

न सा कला।

यन्त्रदृश्यते ॥

बना है। (वाक्यार्थभिनय
नय द्वारा प्रदर्शित करके रस
दयम भरत की ही नाट्य
दय में केवल आंगिक और

वाचिक अनुकरण ही नहीं सात्विक और आहार्य अनुकरण भी होता है। उनका
अत्याधुनिक चिंतन धर्म और शास्त्र से जुड़ा है। यहाँ पर अवस्था का अर्थ वे
अधिष्ठान बताते हैं। उनका मानना है कि “हर अवस्था रूप से अवस्थित रहती
है, इसीलिए अवस्था है। अवस्था का अधिष्ठान उसका रूपकत्व है। इसीलिए
अपना नाट्य, अनुकरण (पश्चिम) का नहीं, अनुकृति का है।”

लाल की रंगदृष्टि में हमारा यह नाट्य कथा, पात्र, रस इन्हीं तीन तत्वों
का एक अद्भुत संतुलन है, जिसका आज सम्पूर्ण अभाव दृष्टिगोचर होता है।
अब इस अभाव की पूर्ति केवल रंगभूमि का सच्चा कलाकार ही कर सकता है।
वह कलाकार जिसमें कर्मठता, ज्ञान, और भक्ति की त्रिवेणी का संगम हो और
जिसमें से नाट्य के चैतन्य की धारा प्रवाहित हो। यह तभी संभव है जब नाटक-
कार उस रंगभूमि को एक यज्ञभूमि समझे। इस प्राथमिक शर्त को स्पष्ट करते
हुए वे लिखते हैं कि, “नाटक रचने में नाटककार के अहंकार का पूर्ण विसर्जन
जैसे एक शर्त है ही। इसी शर्त के साथ सहज जुड़ा हुआ है कि नाटककार वही
हो सकता है जिसे पहले स्वयं जीवन और जगत “देखना” आये। जीवन जहाँ
है—उस अवस्था के साथ जिसका एकाकार सम्भव हो जाए, वही नाटककार है।
क्योंकि बिना जीवन के नाटक कैसा? जहाँ जितना जीवन है वहाँ उतना नाटक
है। बीज में अगर प्राण नहीं है, बीज में अगर पूरा जीवन नहीं है तो प्रकट वृक्ष
क्या होगा उसमें से?”

पाश्चात्य ड्रामा से हमारा “नाट्य” और “नाटककार” यहीं अलग पड़ा
है। पश्चिम के ड्रामा का मूलाधार “संघर्ष” है, द्वन्द्व है। मनुष्य-मनुष्य के बीच,
मनुष्य और समाज के बीच, मनुष्य और प्रकृति के बीच। “वहाँ सिर्फ टूटना,
और तोड़ना है, वहाँ मिलने का प्रश्न ही नहीं। मिलने का भाव ड्रामा, थियेटर
में है ही नहीं, वहाँ स्वयं टूटकर गिरे हैं जमीन पर। वे सदा घायल रहे हैं; पाप-
भाव से संतप्त हैं। उनके बोध में केवल मूल में अपराध और मृत्यु बोध।” इन
शब्दों में लाल ने पाश्चात्य ड्रामा और थियेटर की प्रकृति पर से पर्दा उठाया है।
और १९६० के बाद निरंतर अपने चिंतन मनन से उनके और अपने रूपों का
बुनियादी अंतर वे दिखाते चले गए हैं। “रस” को नाटक की आत्मा मानते हुए
भी लाल उसे आधुनिक युग और चिंतन की ओर ले जाते हैं। इतना ही नहीं
उस पर नये ढंग से सोचने पर बाध्य करते हैं। मेरे साथ के साक्षात्कार में वे
कहते हैं कि “उसके ऊपर नये ढंग से देखना होगा, सोचना होगा। नौ रस हमारे
पुरखों ने गिना दिये वही मान लिया। रस तो आपके जीवन में हैं उन ग्रंथों में

थोड़े ही हैं। जब उन लोगों ने नौ रस निकाले, आप नौ में ही बाँटकर रह गए। क्या "अनुभूति" रस नहीं हो सकती ?

उनकी दृष्टि से हमारे यहाँ "चरित्र" की नहीं "पात्र" की अवधारणा है। ये पात्र कथा से बनते हैं। "कथा" का अर्थ है श्रद्धा, पात्र का अर्थ है विश्वास। कथा की स्पष्टता के पश्चात् ही पात्र स्पष्ट होता है। वे कहते हैं "जब मिट्टी होती है तो पात्र बनता है। यदि भूमि की मिट्टी नहीं तो पात्र कैसे ?" इसीलिए हमारे यहाँ "प्लॉट" नहीं है अपितु कथा वस्तु शब्द है। इसी अन्तर के आधार पर चरित्र और पात्र की भिन्नता लाल स्पष्ट करते हैं, "पश्चिम का चरित्र अध्यात्म को भी तर्क से समझने का प्रयास करता है, जबकि अध्यात्म बुद्धि का नहीं हृदय का विषय है, अनुभूति का विषय है। इसीलिए हमारा नाट्य हृदयग्राह्य है, जबकि पश्चिम का ड्रामा बुद्धिग्राह्य है। हमारे नाट्य का क्रिया व्यापार मनुष्य के दुःख की बुनियाद की खोज है। जिससे मनुष्य दुःखी है। उसकी दुःखी अवस्था में किस प्रकार परिवर्तन लाया जाये और अन्ततोगत्वा हमारा पात्र उस दुःख से मुक्त होकर एक आनन्दानुभूति, सुखानुभूति का अहसास करता है। इसीलिए लाल कहते हैं कि "हमारे नाटक में पात्र की अवधारणा की गई है। मतलब मनुष्य रूप में हम सब पात्र हैं "रूपक" के पीछे व्यंजना है एक पात्र या बर्तन की। इस पात्र में जब तक भाव या रस नहीं भरेगा तब तक रंग कहाँ से उत्पन्न होगा ? अर्थात् जो भाव और रस से भरा हुआ है, वही पात्र है। पश्चिम में मनुष्य की उत्पत्ति का कारण ईश्वर को माना जाता है परन्तु वहाँ सत्य के प्रति अविश्वास, प्रतीति के प्रति अप्रतीति, अदृश्य के प्रति प्रश्न है। इसी में से निकला है पश्चिम का कैरेक्टर, "चरित्र"। जिसमें है केवल अश्रद्धा, अविश्वास, द्वैत, द्विधात्मकता और आत्मविरोध। वे लिखते हैं, इस तरह उसके चित्त में "मैन" और "डिवाइन" के बीच एक सतत संघर्ष है। "ड्रामा" में इस सतत संघर्ष का ही प्रतिरूप है कैरेक्टर। "अतः वह भाव से परिपूर्ण पात्र के साथ खड़े रहने की कहाँ क्षमता रखता है ?"

नाट्य के "अंक" और "ड्रामा" के "एक्ट" का भेद भी लाल ने बड़े सुन्दर ढंग से स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि पात्र में ही "अंक" है। वह पात्र जो रस से परिपूर्ण है वह स्वयं अपने पात्र को अंक (गोद) में रखकर ले जाता है क्योंकि वह रस से भरा है। "रस" का सम्बन्ध अंक से है। दूसरे शब्दों में अंक अर्थात् गोद।

नाटक के पूरे जीवन को भारतीय जीवन की तरह यज्ञ में आत्मबलि माना है। उन दृष्टियों से अंक अर्थात् "गर्भ" से गोद तक जो यात्रा जीवन में होती है

वही यात्रा एक अंक से दूसरे भाव को उत्तरोत्तर रस की उल्टे नहीं, इसलिए नाटक को रखती है। यह है हमारा अंक

"ड्रामा" में "एक्ट" है ही चरित्र है, ट्रेजडी है। अप अहंकार ने "मैन" के रूप में म काम किया। जिसने उसे नीचे की तरफ खींचा और व आधुनिक नाटक गले में इसी न पात्र ही पा रहा है, न चरि "एक्ट" कर पा रहा है। इ या भारत का, उसमें एक्शन

अभिनय कला की विधा है कि आंगिक, वाचिक, आह इनके भी भेद, उपभेद बताये केवल एक उदाहरण मात्र ही प्रकार के अभिनय होते हैं जि संचारी भावों की दृष्टियाँ हो प्रतिष्ठापन करता है और पा निहित भाव को रस की चरम नयन भावों" आत्मा की अर्था है—जिसका अर्थ होता है माध्यम से ही नाटक देखा, मु तभी संभव है, "जब उसके च वह अंधकार से प्रकाश की ओ

मैंने एक बार लाल से आ चित्तन और सृजन का ताल मे अलग है, सृजन अलग है। चि है, सृजन हृदय करता है। म से आप सृजन नहीं कर सकते है भूमि के ऊपर, उस पर जो

में ही बाँटकर रह गए।

“पात्र” की अवधारणा

बड़ा, पात्र का अर्थ है

होता है। वे कहते हैं

मिट्टी नहीं तो पात्र

नु कथा वस्तु शब्द है।

लाल स्पष्ट करते हैं,

प्रयत्न करता है, जबकि

विषय है। इसीलिए

बुद्धिप्राप्त है। हमारे

की खोज है। जिससे

सर्वतन्त्र लाया जाये और

स्वानुभूति, स्वानुभूति

रे नाटक में पात्र की

हैं “रूपक के पीछे

पात्र या रस नहीं भरेगा

रस से भरा हुआ है,

वर को माना जाता है

प्रति, अदृश्य के प्रति

“पात्र”। जिसमें है केवल

लिखते हैं, इस तरह

संदर्भ है। “ड्रामा”

भाव से परिपूर्ण पात्र

मी लाल ने बड़े सुन्दर

है। वह पात्र जो रस

र ले जाता है क्योंकि

शब्दों में अंक अर्थात्

में आत्मबलि माना

जा जीवन में होती है

वही यात्रा एक अंक से दूसरे अंक में सम्पूर्ण होती है। अंक इसलिए भी है कि भाव को उत्तरोत्तर रस की ओर ले जाना। भाव कहीं छलके नहीं, पात्र कहीं टूटे नहीं, इसलिए नाटक को अंक में बाँध रखना, जैसे माँ शिशु को अंक में बाँध रखती है। यह है हमारा अंक।”

“ड्रामा” में “एक्ट” है, जिसका अर्थ होता है “एक्शन”। यही “एक्शन” ही चरित्र है, ट्रेजडी है। अपने गाड़ या ईश्वर से अलग हुए मनुष्य में उत्पन्न अहंकार ने “मैं” के रूप में मनुष्य के गले में लटक रहे वजनदार पत्थर के रूप में काम किया। जिसने उसे उर्ध्वगामी नहीं अपितु अधोगामी, पतनशील बनाकर नीचे की तरफ खींचा और वास्तव में लाल को इस बात का दुःख है कि “हमारा आधुनिक नाटक गले में इसी पत्थर से बँधे हुए व्यक्ति की एक ऐसी यात्रा है, जो न पात्र ही पा रहा है, न चरित्र। न वह पूरी तरह से अंक समझ रहा है, न “एक्ट” कर पा रहा है। इसलिए वर्तमान नाटक में चाहे वह पश्चिम का हो या भारत का, उसमें एक्शन की गरिमा नहीं है और न ही अंक का रस।”

अभिनय कला की विशालता हमारे यहाँ इसी बात से दृष्टिगोचर हो जाती है कि आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्विक ये चार प्रकार के अभिनय और इनके भी भेद, उपभेद बताये गये हैं। जिसकी महानता को स्पष्ट करते हुए लाल केवल एक उदाहरण मात्र ही देते हुए लिखते हैं कि “नयन और दृष्टि के छत्तीस प्रकार के अभिनय होते हैं जिसमें आठ रसों की, आठ स्थायी भावों की, बीस संचारी भावों की दृष्टियाँ होती हैं।” भारतीय अभिनेता नाटक में पात्र का प्रतिष्ठापन करता है और पात्र की भिन्न अवस्थाओं को दिखाते हुए उसके भीतर निहित भाव को रस की चरम सीमा तक ले जाता है। हमारे यहाँ “आत्माभिनयन भाषो” आत्मा का अभिनय ही भाव है जबकि आधुनिक रंगमंच में एक्टिंग है—जिसका अर्थ होता है चरित्र के अनुरूप कार्य करना। इसी अभिनेता के माध्यम से ही नाटक देखा, सुना और जाना जा सकता है। परन्तु ये तीनों क्रियाएँ तभी संभव हैं, “जब उसके चरित्र और व्यक्तित्व में यह सदा विद्यमान रहे कि वह अहंकार से प्रकाश की ओर ले जा रहा है।”

मैंने एक बार लाल से अपने शोध कार्य के प्रसंग में पूछा कि आपके रंग-चितन और सृजन का ताल कैसे बैठाया जायें? उन्होंने स्पष्ट कहा, “चितन अलग है, सृजन अलग है। चितन, सृजन नहीं हो सकता। चितन तो बुद्धि करती है, सृजन हृदय करता है। मानव बन के ही सृजन किया जा सकता है। चितन से आप सृजन नहीं कर सकते। चितन तो बादल है, चितन की जो वर्षा हो रही है धूमि के ऊपर, उस पर जो मानव खड़ा है, वही मानव सृजन करता है। चितन

और सृजन दोनों अलग चीजें हैं। सर्वथा अलग। चिंतन करते समय केवल आप सोचते हैं कि स्वस्थ बच्चा होना चाहिए, लेकिन जब आप सृजन की प्रक्रिया में जाते हैं तो बिल्कुल मानव हो जाते हैं। मानवीय होकर सहज हो जाते हैं और यही सहजता ही उसकी सबलता है। नाट्य कर्म सृजन है, चिंतन से अलग, दूसरे छोर पर।

मैंने उनसे प्रश्न किया : तो क्या आपकी ये दोनों धाराएँ बिल्कुल अलग-अलग हैं ?

लाल कहते हैं—“लाल का सृजन और चिंतन दोनों समानान्तर चलते रहे हैं और चल रहे हैं, फिर भी दोनों एक दूसरे से गड्ढमड्ड नहीं है।” उनके सृजन से चिंतन, शक्तिशाली है, और चिंतन से सृजन। कहीं भी दोनों एक-दूसरे पर हावी नहीं। लाल के दोनों रूप पूरी निखालसता के साथ हमारे सामने उभर कर आये हैं, दूध का दूध और पानी का पानी की तरह।

लाल के तीन दशकों की रंगयात्रा इसका सबूत है कि वह पाश्चात्य नाट्य-चिंतन और रंग-दर्शन के अंधकार से निकलकर अपनी मिट्टी और अपनी रंगभूमि के साथ उत्तरोत्तर जुड़ते और पनपते-विकसित होते चले गये। और अपनी परम्परा में वृहत्तर स्तर पर उगने की उनकी स्पृहा बलवतर होती गई तथा पश्चिम का व्यामोह निरंतर टूटता चला गया। अपनी भूमि अन्वेषण की इसी प्रक्रिया ने लाल को चिंतन और सृजन दोनों स्तरों पर अधिक बलवतर और विश्वासप्रद बना दिया है।

लाल के रंगबोध में मुख्यतः “रंग” और “भूमि” को देखना है। “भूमि” से ही उन्होंने “भूमिका” बनायी है और भूमिका में भी जो चारों भूमिकाएँ होती हैं वह सब इनके नाट्य में हैं। प्रथम भूमिका तो नाटककार की होती है। लेकिन नाटककार की भूमिका में दर्शक की भूमिका भी शामिल है, नाटककार की भूमिका में अभिनेता की भूमिका भी शामिल है। नाटककार की भूमिका में अंक योजना की भूमिका भी, निर्देशक की भूमिका भी है, रंगशिल्पी की भूमिका भी है। और यह सच है, कि ये सारी भूमिकाएँ हैं इनके सबल नाट्य में।

लाल के नाट्य सृजन में दर्शक पहले आता है। यही तो नाट्य लेखन है कि “दर्शक” पहले आता है। अपने यहाँ पहले दर्शक नहीं अभिभावक शब्द था, दूसरे शब्दों में लाल उसे “ग्राहक” कहते हैं जो कि लोक का शब्द है। नाट्य भाव है। भाव को जो ग्रहण करता है, वह ग्राहक है परन्तु आज नाट्य क्षेत्र का दुर्भाग्य है कि न केवल हिन्दी रंगभूमि से अपितु पूरे भारतवर्ष से भावक, ग्रहण-

लाल रंग की पहचान

कर्ता चला गया है।

ग्राहक नहीं आयेगा।

लाल के लिए तो

सृजन है। उसके दो

यह विश्वास और कुछ

में। यह दर्शक ही उन

द्वारा गढ़ रहे हैं जिस

समाज वह तैयार कर

को पाश्चात्य यथार्थवा

हैं। वह कहते हैं, “प्र

थोड़े ही मैं लिख रहा

इनके नाटकों में

ढंग से व्यवहृत हैं। त

एक-दूसरे से अलग क

हैं, ऐसा आपको सर्वत्र

यात्रा” लें। कथावस्तु

विषय का आधार सम

ही हर स्तर पर अभि

ही “गर्भ की संतान है

प्रदर्शन और प्रस्तुति क

की होती है और प्रदर्श

तपाते हैं तब वही रच

अपनी साधना से तपाते

उपासना का ही दूसरा

नाटककार लाल क

सम्पन्न है, अनुभव कर

अर्थों में मूल्यवान है।

“अंधा कुआँ” की

ही स्थायी भाव है।

छिपी हुई है कि भगोती

भगोती के पात्र में क्या

नहीं, क्या मैं कम था कि

करते समय केवल आप
सृजन की प्रक्रिया में
सहज हो जाते हैं और
चिंतन से अलग, दूसरे

धाराएँ बिल्कुल अलग-

समानान्तर चलते रहे हैं
नहीं हैं।" उनके सृजन
दोनों एक-दूसरे पर
हमारे सामने उभर

वह पाश्चात्य नाट्य-
की और अपनी रंगभूमि
गये। और अपनी
बलवतर होती गई तथा
अन्वेषण की इसी
प्रधिक बलवतर और

देखना है। "भूमि"
वारों भूमिकाएँ होती
की होती है। लेकिन
नाटककार की भूमिका
का में अंक योजना
भूमिका भी है। और

नाट्य लेखन है कि
अभावक शब्द था,
शब्द है। नाट्य
ज नाट्य क्षेत्र का
से भावक, ग्रहण-

कर्ता चला गया है। अतः अब नाटक में बाजारू चीजें डाल देने से दर्शक या
ग्राहक नहीं आयेगा।"

लाल के लिए तो सारा कुछ, सब कुछ इनका प्रबल भाव है, सारा जो इनका
सृजन है। उसके दो ही आयाम हैं—एक है श्रद्धा और दूसरा है विश्वास। और
यह विश्वास और कुछ नहीं वे स्वयं हैं जो है श्रद्धा और विश्वास कर रहे हैं दर्शक
में। यह दर्शक ही उनके लिए विश्वासमूर्ति है। जिस मूर्ति को वे अपने इस चिंतन
द्वारा गढ़ रहे हैं जिसमें अनुभूतिपरक रस को पचाने की क्षमता होगी, ऐसा ग्राहक
समाज वह तैयार कर रहे हैं। कुशल नाट्यकर्ता के रूप में लाल भी अपने ग्राहक
को पाश्चात्य यथार्थवादी ड्रामा से खींचकर अपने नाट्य के लिए तैयार कर रहे
हैं। वह कहते हैं, "ग्राहक तो तैयार करना पड़ता है। आज के उपभोक्ता के लिए
थोड़े ही मैं लिख रहा हूँ। मैं बाजार का आदमी नहीं, समाज का मनुष्य हूँ।"

इनके नाटकों में तीनों विशिष्ट अंग तत्त्व-कथा, पात्र और अनुभूति, अनुपम
रंग से व्यवहृत हैं। तीनों एक दूसरे में इस तरह गुम्फित और रचित हैं कि उन्हें
एक-दूसरे से अलग कर पाना संभव नहीं। तीनों एक ही नाट्य बीज से विकसित
हैं, ऐसा आपको सर्वत्र अनुभूत होगा। उदाहरण के लिए "बलराम तीर्थ की
यात्रा" लें। कथावस्तु है—भौतिकता के उस पार (तीर्थ) जाने की यात्रा। इस
विषय का आधार समसामयिक यथार्थता के बावजूद इसमें अपना भारतीय चित्त
ही हर स्तर पर अभिव्यक्त है। इसकी कथा, पात्र यात्रा अनुभव, तीनों एक
ही "गर्भ की संतान हैं। अतः इसकी रंग प्रस्तुति के संदर्भ में नाटककार लाल
प्रदर्शन और प्रस्तुति का भेद करते हैं। उनका मानना है—"प्रस्तुति तो भाव
की होती है और प्रदर्शन पदार्थ का होता है। जब हम अपनी कला, साधना से
तपाते हैं तब वही रचना हो जाती है, दूसरी तरफ जब हम अपने भाव को
अपनी साधना से तपाते हैं तो वही उपासना हो जाती है। उपासना क्या है ?
उपासना का ही दूसरा अंग है रचना।"

नाटककार लाल का यह स्वरूप कलात्मक स्तर पर कितना उदात्त और
सम्पन्न है, अनुभव कर आश्चर्य होता है। पात्र के बारे में लाल की अनुभूति अनेक
अर्थों में मूल्यवान है।

"अंधा कुआँ" की सूका और भगौती—चरित्र नहीं पात्र हैं। उनमें पहले से
ही स्थायी भाव है। वह भाव क्या है ? सूका के पात्र में एक जबरदस्त आग
छिपी हुई है कि भगौती मुझ पर फिर से विश्वास क्यों नहीं कर रहा ? और
भगौती के पात्र में क्या है ? भगौती के पात्र में प्रतिहिंसा है। भाव है—'क्यों
नहीं, क्या मैं कम था किसी के जो मुझे छोड़कर चली गई।' यह है भगौती का

पात्र । इसके पात्र में यह भाव पहले से ही पड़ा हुआ है । यह है लाल की रंग पात्रता । और अदम्य विश्वास अपने पात्र में, अपने दर्शक समाज में, अपनी नाट्य प्रस्तुति में ।

लाल

अप्रचलित अनेक को समेटते हुए विधि, कीब, उपाय और युक्ति 'नियम' (विधि) । 'रंग नियम' । तदनुसार 'नाट्य नियम' । नियम और विधि चाहिये । तत्त्वों के विचार प्रयुक्त किये जाने वांछित स्थित किये जाते हैं । के रूप में समझते हैं चलते एक ही भाव वक्त को हम कविता कहते नाटक । हम अपनी वक्त है जिसके इशारे पर जान लेते हैं तो हम उस निजता को जान बनता है और जिस अलगया जा सकता हमारे यहाँ नाट्य गुणात्मक विशिष्टत काव्य रूप में मान्यत अर्थ में है कि नाटक काव्य या कला रूप दृश्य हैं पर उनमें व

लाल रंग की पहचान

भा है। यह है लाल की रंग
पने दर्शक समाज में, अपनी

लाल के नाटकों का रचना विधान

डॉ० नरनारायण राय

अप्रचलित अनेक अर्थों के अलावा 'विधान' का अर्थ है 'नियम' और इस अर्थ को समेटते हुए विधि, प्रणाली, पद्धति, कार्य करने की रीति, व्यवस्था, ढंग, तर-कीब, उपाय और युक्ति आदि अर्थ भी किये जाते हैं। पर प्रचलित मुख्य अर्थ है 'नियम' (विधि)। 'रचना विधान' शब्द का इसलिये सीधा सा अर्थ हुआ 'रचना का नियम'। तदनुसार 'नाट्य रचना विधान' का अर्थ किया जायगा 'नाटक रचने का नियम'। नियम और तत्त्वों को एक समझने की इसलिये भूल नहीं की जानी चाहिये। तत्त्वों के विनियोग की विधि निश्चित होती है। नाट्य रचना के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले विभिन्न तत्त्व एक सर्वमान्य नियम के आधार पर व्यवस्थित किये जाते हैं। हम इसी नियम, विधि या व्यवस्था को नाट्य रचना विधान के रूप में समझते हैं। हर रचनात्मक विधा का विधान भिन्न होता है जिसके चलते एक ही भाव वस्तु की अभिव्यक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में ढल जाती है। किसी को हम कविता कहते हैं किसी को कथा साहित्य, किसी को निबन्ध तो किसी को नाटक। हम अपनी बात यहाँ नाटक तक ही सीमित रखेंगे। वह कौन-सा नियम है जिसके इशारे पर पूरी नाट्य रचना आकार ग्रहण करती है? यदि उसे हम जान लेते हैं तो हम नाटक के रचना विधान को जान लेते हैं, नाट्य रचना की उस निजता को जान लेते हैं जिसके चलते नाटक का अपना एक निश्चित स्वरूप बनता है और जिस विन्दु पर उसे अन्य रचना विधाओं से आसानी के साथ अलगया जा सकता है।

हमारे यहाँ नाटक को 'दृश्य काव्य' कहा जाता है। नामकरण सामान्यतः गुणात्मक विशिष्टता का प्रतिनिधित्व करता है। अर्थात् हमारे यहाँ नाटक को काव्य रूप में मान्यता प्राप्त है पर एक विशिष्ट काव्य के रूप में। विशिष्टता इस अर्थ में है कि नाटक काव्य होकर भी दृश्य होने की क्षमता रखता है। किसी अन्य काव्य या कला रूप में यह दुहरी क्षमता नहीं होती। वास्तु, मूर्ति, चित्र आदि दृश्य हैं पर उनमें काव्य नहीं। संगीत और काव्य के अन्य सभी रूप श्रव्य हैं, पर

दृश्य नहीं। कहानी और कविता आदि को दृश्यत्व प्रदान करने के लिए उनमें दृश्यत्व अलग से भरा जाता है। तभी वे दृश्य बन पाते हैं, हालाँकि दृश्य बनकर दिख जाना भर दृश्यत्व नहीं है। नाटक में दृश्यत्व कुछ विशिष्टता रखता है। दृश्यत्व नाटक की वह विशिष्टता है जिसे अगर नाटक से अलग कर दिया जाय तो इससे नाटक की विधागत पहचान समाप्त हो जाती है। नाटक का अस्तित्व तो समाप्त नहीं होता—दृश्यकाव्य के रूप में उसकी विशिष्टता, उसकी निजता, उसकी अस्मिता, उसकी पहचान समाप्त हो जाती है। दृश्यत्व विहीन नाट्य रचना और कुछ भी हो सकती है, पर शायद नाटक नहीं। सिद्ध है कि दृश्यत्व में ही नाटक की अनन्यता और उसका निजी व्यक्तित्व है।

किसी भी रचना के द्वारा रचयिता आदिकाल से ही कुछ कहने की चेष्टा करता रहा है। उसके कथ्य का संप्रेषण वास्तु कला में प्रस्तर खण्डों की एक विशेष नियम से की गयी योजना में, मूर्तिकला में उसी प्रकार भावमुद्राओं के सूक्ष्मांकन में चित्रकला में रेखा और रंगों में, संगीत एवं काव्य-कला में ध्वनियों एवं शब्दों में होता रहा है। नाटक के कथ्य का संप्रेषण होता है (या कहें कि होना चाहिये) दृश्य के द्वारा। अगर नाटक का भी कथ्य शब्दों में ही व्यक्त हो जाय तो काव्य के रूप में तो यह मान्य है, पर दृश्य काव्य के रूप में यही आशा सहज है कि नाटक का कथ्य दृश्य में व्यक्त हो और बहुत आवश्यक होने पर उसमें शब्द सहायक हों। एक नाटक में शब्दों में कहा गया कथ्य उसे कलात्मक दृष्टि से हीन बना दे सकता है क्योंकि शब्दों में कथ्य की अभिव्यक्ति तो श्रव्य काव्य की विशिष्टता है। एक नाट्य रचना की सार्थकता है कथ्य को दृश्यत्व को प्रदान करने में। इसलिये एक नाटक की रचना करते समय नाटककार नाटक में जिन विभिन्न तत्त्वों का उपयोग करता है उनके उपयोग के पीछे रचयिता की यह दृष्टि होती है कि उसकी रचना अन्ततः दृश्य बन सके। कथानक या क्रिया व्यापार ऐसे सजाये जाते हैं कि नाटक का कथ्य उन घटनाओं में मूर्त हो उठे, उसे घटनाओं और क्रिया व्यापार के माध्यम से स्पष्ट किया जा सके। यही स्थिति नाटक में आने वाले अन्य विभिन्न तत्त्वों की भी होती है। चरित्र दृश्य होते हैं—उनका कायिक, वाचिक, सात्विक, आहार्य आदि अभिनय भी दृश्य होता है। अनेक नाटकों में घटना स्थल भी दृश्यबंध के सहारे दृश्यत्व प्राप्त करता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि नाटककार अपनी संपूर्ण रचना प्रक्रिया में दृश्यत्व के प्रति न केवल सतर्क और सावधान रहता है, बल्कि उसकी पूरी रचना को दृश्यत्व (के नियमों) का अनुशासन हमेशा नियन्त्रित करता है। इसलिए कहा जा सकता है कि दृश्यत्व ही नाटक का मूल रचना विधान है, वह मूल नियम है, वह

लाल के नाटकों का

केन्द्रीय चेतना है जि

एवं अनुशासित होते

विधान की स

जा सकता है। किन्तु

नाटक की रचना क

कर एकांकी बनाता

व्यापार और गति

रंगमंच जैसे रूप ब

गद्य से जुड़कर गद्य

आदि के रूप बनाते

में आये तत्त्व अनि

नहीं। नृत्यनाट्य अ

साथ समझा जा स

बात को समझाने

१९५४ से १९

कि वे प्रारम्भ से ३

नाटक और रंगमंच

भी स्पष्ट होता है

रहे हैं। उन्होंने न

अनुभव अर्जित कि

अपरिचित रहे हों,

एक नाट्य रचना

सकता है, उसे न

लिखते समय ही नि

अध्ययन, अनुभव

कुआँ में दृश्यत्व

की तीर्थयात्रा और

नाटककार ने अप

दृश्यत्व को लेकर

खास-खास मोड़ों

है।

नाट्य रचना

केन्द्रीय चेतना है जिससे पूरी रचना और पूरी रचना प्रक्रिया परिचालित, निर्दिष्ट एवं अनुशासित होती है। 'दृश्यत्व' ही नाट्य रचना विधान है।

विधान की समझ से विभिन्न नाट्य रूपों के बीच के अन्तर को भी समझा जा सकता है। किसी मुदढ़ और विस्तृत कथानक से मिलकर दृश्यत्व एक पूर्णांगी नाटक की रचना करता है। किसी खास लेकिन किसी ऐसी छोटी घटना से मिल कर एकांकी बनाता है। कथानक को एकदम छोड़कर दृश्यत्व जब केवल क्रिया व्यापार और गति समूहों से मिलता है तो मूक नाट्य, नृत्य नाट्य, मनोशारीरिक रंगमंच जैसे रूप बनते हैं। भाषा के धरातल पर कविता से जुड़कर काव्य नाटक गद्य से जुड़कर गद्य नाटक, लोक कथा और लोक रूढ़ियों से जुड़कर लोकनाट्य आदि के रूप बनाता है। इन सभी रूपों में दृश्यत्व तो है, लेकिन एक नाट्यरूप में आये तत्त्व अनिवार्य रूप से दूसरे नाट्य रूप में भी गृहीत हों ही यह जरूरी नहीं। नृत्यनाट्य और पूर्णांगी गद्यनाट्य के अन्तर से इस अन्तर को आसानी के साथ समझा जा सकता है। दृश्यत्व नाटक का मूल तत्त्व और विधान है, इस बात को समझाने के लिये इतनी चर्चा पर्याप्त है।

१९५४ से १९८४ के बीच लाल ने लगभग तीस नाटक लिखे। संकेत यह कि वे प्रारम्भ से अब तक नाट्य लेखन में सन्नद्ध है। केवल नाट्य लेखन ही नहीं नाटक और रंगमंच पर अद्यावधि प्रकाशित उनकी चार समीक्षा कृतियों से यह भी स्पष्ट होता है कि सैद्धान्तिक स्तर पर भी वे नाट्य चिन्तन की दिशा में प्रवृत्त रहे हैं। उन्होंने नाटक के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक—दोनों पक्षों से ज्ञान एवं अनुभव अर्जित किया है। संदेह नहीं रह जाता कि नाटक के रचना विधान से वे अपरिचित रहे हों, दृश्यत्व का अर्थ उन्होंने न समझा हो और दृश्यकाव्य के रूप में एक नाट्य रचना में दृश्यत्व एवं काव्यत्व का संतुलन किस प्रकार बनाये रखा जा सकता है, उसे न महसूस किया हो। पर यह सारा कुछ उन्हें अंधाकुर्आ (१९५५) लिखते समय ही विदित रहा होगा—ऐसा संभव नहीं। क्रमशः पड़ाव दर पड़ाव, अध्ययन, अनुभव और अभ्यास से वह सब अर्जित हुआ होगा। इसलिये 'अन्धा-कुर्आ' में दृश्यत्व की जो स्थिति है ठोक वही स्थिति यक्षप्रश्न, सगुनपंछी, बलराम की तीर्थयात्रा और मिस्टर अभिमन्यु के नये रूप मन्तू में नहीं। सीढ़ी दर सीढ़ी नाटककार ने अपनी यह यात्रा पूरी की है। एक लेख की सीमा में हर नाटक के दृश्यत्व को लेकर स्वतन्त्र रूप से चर्चा कर पाना संभव नहीं, इसलिये यहाँ कुछ खास-खास मोड़ों को स्पष्ट करने वाले संदर्भ लेकर ही सामान्य चर्चा की जा रही है।

नाट्य रचना में प्रयुक्त होने वाले अधिकांश तत्त्व ऐसे ही होते हैं जो दृश्यत्व

प्राप्त कर सकते हैं। जैसे यह दृश्यबंध जिस पर नाटक की घटनायें घटती हैं, वे पात्र जिनके जीवन की घटनायें नाटककार दिखाता है, मंच पर घटित होने वाली वे घटनायें जिन्हें अपने सामने होता हुआ दर्शक देखता है, यहाँ तक कि वह प्रकाश भी दृश्य होता है जो साभिप्राय—या प्रयोजनवश कभी धीमा, कभी तेज, कभी लुप्त, कभी लाल, कभी हरा, कभी सर्वत्र, कभी केन्द्रित दिखाया जाता है। पर नाटक की रचना का मूल उद्देश्य दृश्यबंध, घटनायें, चरित्र, अभिनय, वेशभूषा प्रकाश आदि दिखाना नहीं होता है।

नाटक का मूल उद्देश्य होता है नाटककार के कथ्य सत्य को इन विभिन्न तत्वों की सहायता से इस प्रकार मूर्तमान कर देना कि मंचीय साक्ष्य से दर्शक जो देख रहा है उसे देखकर ही नाटककार के मंतव्य को समझ ले। नाटककार का कथ्य सत्य दर्शकों तक इस प्रकार संप्रेषित हो, इसी में नाटक का दृश्यत्व है। यह बड़ा सूक्ष्म अनुभव है। लेकिन मंच पर जो कुछ भी हमें दिखता है वह भी दृश्य है और उसमें दृश्यत्व भी है (तभी तो वह दिखता भी है) पर वही दृश्यत्व नहीं। नाटक के दृश्यत्व की सार्थकता इसमें नहीं कि एक दृश्यबंध खड़ा कर दिया जाय और दो-चार पात्र जुटा लिये जायँ, कुछ गप-शप करा दी जाय और कभी कुछ रंग-विरंगी रोशनी डाल दी जाय। इसमें नाटक कहीं नहीं है। नाटक तभी होता है, या कहें कि नाटक तभी पूरा होता है जब वह अपने कथ्य की मूर्तता प्रदान करने में सफल होता है, नाटक का कथ्य दृश्यत्व प्राप्त करता है। इसे ही नाटक का आंतरिक रंगमंच कहा जाता है, इसे ही 'अनिवार्य दृश्य' माना जाता है। मंच पर बाकी जो कुछ दिखता है, उसे ही लोग सामान्यतः रंगमंच कहते हैं, मानते भी हैं, पर वह रंगमंच का स्थूल शरीर है। उसकी आत्मा है सूक्ष्म रंगमंच, आंतरिक रंगमंच अर्थात् कथ्य का दृश्यत्व। असली रंगमंच यही है। इसीलिये यह कहना सत्य है कि हर नाटक अपना रंगमंच अपने साथ लेकर जन्मता है। आज के अनेक नाटककार दृश्यत्व के स्थूल अवयवों के संघटन की ओर ही अधिक ध्यान देते हैं और कथ्य को दृश्यत्व तक ले जाने की चेष्टा कम लोगों में ही दिखायी पड़ती है। स्थूल रंगमंच के दृश्यत्व का यह आग्रह बार-बार नाटककारों को रंगमंच से जुड़ने की सलाह दिये जाने का एक कुफल है, यद्यपि इसके सुफल भी हैं।

लक्ष्मीनारायण लाल के शुरू के नाटकों को देखें, अंधाकुआँ, दर्पन, रातरानी, रक्त कमल, सादा केवटस (१९६२ तक के नाटक), इन सभी नाटकों में स्थूल दृश्य अवयव जुटाने की ओर नाटककार विशेष सचेष्ट दिखायी पड़ता है। प्रायः हर नाटक का दृश्यबंध किसी कमरे और उससे जुड़े बरामदे, यानी घर के

लास के नाटकों का र

दृश्य रूप का आभास संकलत्रयी की ताकत था। यानी वह घर की चल्ते यदि एक ओर संभावनायें ममात हो की ओर लगा रहा— हो, चाहे रातरानी का का संयोग जोड़ना और सृजन—यह सब कुछ बंध' के रूप में स्वीक जन को अनुप्राणित व शासन नाटक के रचन

इस दौर के नाट

है क्योंकि इस नाटक शुरू होती है। अतः की दृष्टि से इसपर अवयवों की ओर संके की यात्रा स्थूल से सूक्ष्म दृश्य अवयव ही जुटा में भी कुछ सफलता धारणाओं को हम उ फल सबके लिये कष्ट इस बात को कहने के प्रतीक के रूप में कि संवादों द्वारा भी की

नाटक के कथ्य

अरविन्द यह मानता प्रतीकार्य द्वारा यह संसर्ग से भर जायगा विपरीत है। गमले मरने की घटनायें गलत धारणा में जी

घटनायें घटती हैं, वे
पर घटित होने वाली
यहाँ तक कि वह प्रकाश
धीमा, कभी तेज, कभी
दखाया जाता है। पर
त्र, अभिनय, वेशभूषा

सत्य को इन विभिन्न
मंचीय साक्ष्य से दर्शक
ममज्ञ ले। नाटककार
नाटक का दृश्यत्व है।
हमें दिखता है वह भी
है) पर वही दृश्यत्व
क दृश्यबोध खड़ा कर
प करा दी जाय और
कही नहीं है। नाटक
वह अपने कथ्य को
यत्व प्राप्त करता है।
अनिवार्य दृश्य' माना
ग सामान्यतः रंगमंच
। उसकी आत्मा है
असली रंगमंच यही
मंच अपने साथ लेकर
अवयवों के संघटन की
जाने की चेष्टा कम
यह आग्रह बार-बार
एक कुफल है, यद्यपि

गण्डुओं, दर्पण, रात-
हल सभी नाटकों में
दिखाया पड़ता है।
सामंदे, यानी घर के

दृश्य रूप का आभास बनाने के लिये हैं। दृश्यत्व का यह रूप स्वीकार करते ही संकलत्रयी की ताकत बढ़ गयी है। हर घटना नाटककार दिखा नहीं सकता था। यानी वह घर की सीमा से बाहर जा ही नहीं सकता था। इस अंकुश के चलते यदि एक ओर अनावश्यक दृश्य गढ़ने पड़े तो कुछ प्रभावशाली कल्पनायें-संभावनायें समाप्त हो गयीं। नाटककार का सारा ध्यान दृश्य अवयवों को सजाने की ओर लगा रहा—चाहे वह कैक्टस के गमले हों, चाहे वह दर्पण का टूटना हो, चाहे रातरानी का बगीचा और रंग-विरंगे फूल। इन सबों के साथ घटनाओं का संयोग जोड़ना और इनमें प्रतीकत्व लाने के लिये अतिरिक्त घटनाओं का सृजन—यह सब कुछ साफ इशारा करता है कि कैसे दृश्यत्व के एक आयाम 'दृश्य-बंध' के रूप में स्वीकार की गयी घर की दीवारें आये, नाटक के समस्त आयोजन को अनुशासित करता चलता है। यह अनुशासन दृश्यत्व का है। यह अनुशासन नाटक के रचना विधान का है।

इस दौर के नाटकों में लाल का 'मादा कैक्टस' नाटक महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इस नाटक से यथार्थवादी सामाजिक नाटकों की एक नयी परंपरा शुरू होती है। अतः इस दौर के नाटकों में इसे प्रतिनिधि नाटक मान कर विधान की दृष्टि से इसपर थोड़ी और चर्चा की जा सकती है। नाटक के स्थूल दृश्य अवयवों की ओर संकेत किया ही जा चुका है। देखना यह है कि नाटक के दृश्यत्व की यात्रा स्थूल से सूक्ष्म तक हो पाती है या नहीं। अर्थात् नाटककार केवल स्थूल दृश्य अवयव ही जुटाता रह गया है या कथ्य को दृश्यत्व प्रदान करने की दिशा में भी कुछ सफलता पायी है? इस नाटक का कथ्य यह स्पष्ट करता है कि अपनी धारणाओं को हम जीवन सत्य समझने की गंभीर गलती कर बैठते हैं जिसका फल सबके लिये कष्टकर होता है और कई अर्थों में जीवन के विपरीत जाता है। इस बात को कहने के लिये कुछ दृश्य प्रतीक और अर्थगर्भी शीर्षकों का प्रयोग भी प्रतीक के रूप में किया गया है। और उसकी पुष्टि आगे भाषिक स्तर पर विभिन्न संवादों द्वारा भी की गयी है।

नाटक के कथ्य-सत्य को उजागर करने वाला प्रतीक है 'मादा कैक्टस'। अरविन्द यह मानता है कि मादा कैक्टस के संसर्ग से नर कैक्टस सूख जाता है। प्रतीकार्य द्वारा यह स्पष्ट हुआ कि अरविन्द के भीतर का कलाकार स्त्रियों के संसर्ग से भर जायगा, इस बात का भय अरविन्द को है। लेकिन होता इसके विपरीत है। गमले में लगे कैक्टस के सूखने और नायिका के क्षयरोग ग्रस्त होकर मरने की घटनायें दिखाकर नाटककार अपना अर्थ संप्रेषित करना चाहता है। गलत धारणा में जीने के कारण अरविन्द न तो सृष्टि कर सका न कला के मर्म

को ध्यान सका। इस बात को स्पष्ट करने के लिये अनाथालय के बच्चों और परिन्दों के शिकार की घटना जोड़ी गयी है। अरविन्द का प्रतीक चमगादड़ भी नाटक के अर्थ को खोलने में सहायता देता है। कुल मिलाकर नाटक का कथ्य प्रतीकों पर अधिक निर्भर प्रतीत होता है। जो दृश्य घटनायें सामने आती हैं उससे यही स्पष्ट होता है कि अरविन्द मनोवैज्ञानिक दृष्टि से थोड़ा परवर्टेड (Perverted) किस्म का आदमी है और आखिर में हूर ओर से हार कर अपनी इस कमजोरी को स्वीकार भी करता है। यह कोई ऐसा कथ्य नहीं है जो जीवन का इतना गंभीर और व्यापक अनुभव साबित हो कि नाट्य वस्तु बन सके। 'मादा कैक्टस' शीर्षक से इन बातों का कोई सीधा संबंध भी नहीं। शीर्षक की सार्थकता बनाये रखने के लिये नाटककार को अलग-अलग पात्रों के संवाद अलग से गढ़ने पड़े हैं जिनसे नाट्य वस्तु की पुष्टि नहीं होती। शीर्षक को समर्थन जरूर मिलता है। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि दृश्यत्व को उभारने के लिये नाटककार ने एक दृश्यबंध की कल्पना प्रस्तुत की है, पोर्ट्रेट, एक्सरे प्लेट, अनाथालय के बच्चों का आगमन और तिरस्कृत प्रस्थान, चिड़ियों का बन्दूक से शिकार, गमलों में सजे कैक्टस के पौधे आदि जैसे दृश्य प्रतीक और अरविन्द एवं उससे जुड़े पात्रों का अभिनय व्यापार सजाया है। लेकिन इन सभी योजनाओं की सहायता से नाटक का कथ्य दृश्यत्व प्राप्त करता है ऐसा नहीं लगता। ऐसा जरूर लगता है कि यह सब मिलकर किसी एक खास अर्थ की ओर इशारा कर रहे हैं पर वह अर्थ स्पष्ट नहीं और स्पष्टता के लिये व्याख्या की अपेक्षा रखता है। निष्कर्ष यह कि नाटककार अपने इस प्रारंभिक प्रयास में दृश्यत्व को पकड़ने, समझने और रचना में विन्यस्त करने की दिशा में गंभीरता से प्रयत्नशील है और सफलता के काफी निकट तक पहुँच चुका है। पूरी सफलता इसलिये नहीं मिल पायी कि उसने अपनी सारी ताकत दृश्यत्व के स्थूल अवयवों को सजाने में ही लगा दी।

कथ्य सत्य और उससे जुड़े काव्यत्व को दृश्यत्व प्रदान करने की दिशा में लाल की कोशिश आगामी लगभग दस वर्षों तक जारी दिखती है। मादा कैक्टस (१९६६) के लगभग दस वर्षों बाद सामने आये 'सूर्यमुख' (१९६८) की जाँच पड़ताल करते हैं तो हम पाते हैं कि अपनी सारी कोशिशों के बावजूद डॉ० लाल अभी वही हैं जहाँ 'मादा कैक्टस' में थे। प्रगति हुई है तो बस इतनी कि दृश्य आयाम जुटाने की कोशिश में एक दृश्यबंध के निर्माण का परिश्रम डॉ० लाल ने छोड़ दिया है। इससे यह संकेत तो मिलता है कि दृश्यत्व के स्थूल अवयव जुटाने का डॉ० लाल का यथार्थवादी आग्रह यहाँ आकर समाप्त हो गया है। देखना यह

है कि काव्यत्व और पूरे नाटक के वस्तु-तो लगता है कि नाट्य को यह बताया जाय नष्ट हो गयी थी, क प्रभावशाली लगती है गंभीर सवाल उठाये करती है कि किस नि क्या उनका प्रेम वह नियम आदमी के लि नाटक समाजविरोधी से पड़ताल करना चा पुरुष संबंध।

नाटक दृश्य होने शब्द महत्वपूर्ण नहीं का 'अर्थ' है नाटक क सत्य रूपी अर्थ में नि होती हैं। नाटक का देकर अलग-अलग अर्थ, (नाटक का कथ्य 'अर्थ' बनता है। इस होता है या कहे दृश्य और कई अर्थ की सं यह नाटक विशुद्ध एक वर्ग का प्रतिनिधित्व एकांकी कथ्य और उस में निहित दृश्य घटना करण भी नगण्य है जि यही आधार है जिससे से कथ्य का संश्लेषण नाटक का उद्देश्य क्या

है कि काव्यत्व और कथ्य को वे किस सीमा तक यहाँ भी दृश्यत्व दे पाये हैं ? पूरे नाटक के वस्तु-विधान को हम सामने रखकर जब गहराई से सोचने लगते हैं तो लगता है कि नाटक का मूल अर्थ यह नहीं कि द्वारका की कथा के द्वारा दर्शकों को यह बताया जाय कि स्वार्थपूर्ण संघर्ष के कारण जिस प्रकार एक दिन द्वारका नष्ट हो गयी थी, यह देश भी नष्ट हो जायेगा। इसके विपरीत यह बात अधिक प्रभावशाली लगती है कि प्रद्युम्न और वेनुरती के प्रेम संबंध के माध्यम से कुछ गंभीर सवाल उठाने गये हैं। दोनों के प्रेम को त्रासद परिणति यह सवाल खड़े करती है कि किस नियम से उनका प्रेम इतना बड़ा अपराध या कलंक हो गया ? क्या उनका प्रेम वह प्रेम नहीं था जो ईश्वर सभी के हृदय को देता है ? सामाजिक नियम आदमी के लिये बने हैं या आदमी नियमों के लिये पैदा होता है ? यानी नाटक समाजविरोधी प्रेम की एक स्थिति दिखाकर कुछ शाश्वत मूल्यों की फिर से पड़ताल करना चाहता है। अतः नाटक का मूल अर्थ है समाज विरोधी स्त्री-पुरुष संबंध।

नाटक दृश्य होने के अलावा काव्य है। काव्य (सार्थक) शब्दों का समूह है। शब्द महत्वपूर्ण नहीं उसका अर्थ महत्वपूर्ण है। उसी में निहित है काव्यत्व। नाटक का 'अर्थ' है नाटक का कथ्य सत्य। इसलिये नाटक का काव्यत्व नाटक के कथ्य सत्य रूपी अर्थ में निहित है। एक शब्द की अर्थ की दृष्टि से कई व्याख्यायें संभव होती हैं। नाटक का अर्थ भी अपने अलग-अलग प्रदर्शनों में अलग-अलग अर्थ देकर अलग-अलग व्याख्यायें प्रस्तुत कर सकता है। प्रस्तुत होने पर नाटक का अर्थ, (नाटक का कथ्य सत्य, नाटक का काव्यत्व) ही संप्रेषित होता है, दृश्य 'अर्थ' बनता है। इस प्रकार नाटक का कथ्य सत्य या नाटक का काव्यत्व मूर्त होता है या कहे दृश्यत्व प्राप्त करता है। एक अर्थ देने वाला नाटक साधारण और कई अर्थ की संभावना रखने वाला नाटक उत्तम कहा जायगा। लाल का यह नाटक विशुद्ध एकार्थी नाटक है। नाटक के सभी चरित्र व्यक्ति चरित्र है और वर्ग का प्रतिनिधित्व नहीं करते इसलिये साधारणीकरण की क्षति होती है। एकार्थी कथ्य और उसके संप्रेषण का जहाँ तक सवाल है—नाटक के वस्तु विधान में निहित दृश्य घटनाओं से यह मूर्तता प्राप्त नहीं करता। दृश्य प्रतीक और उपकरण भी नगण्य है जिससे अर्थ को सहारा मिले। शेष बचती है कथा। एकमात्र यही आधार है जिससे अर्थ प्रकट होता है और सभी जानते हैं कि कथा के माध्यम से कथ्य का संप्रेषण कथा साहित्य या अन्य काव्य विधाओं का क्षेत्र हो सकता है। नाटक का उद्देश्य कथा कहना नहीं, घटनाओं को होते हुए दिखाना है। इसलिये

इस नाटक का दृश्यत्व खण्डित हुआ है। किसी प्रकार नाटक का प्रदर्शन कर लेने से नाटक का दृश्यत्व सिद्ध हुआ नहीं माना जा सकता।

अंधाकुर्आ (१९५५) से सूर्यमुख (१९६८) तक का कालखण्ड वस्तुतः लाल के नाट्य-लेखन का एक युग है। इस कालखण्ड के नाटकों में दृश्यत्व की लगभग समान स्थिति है : मादा केवटस और सूर्यमुख पर अत्यन्त संक्षिप्त चर्चा में यह स्पष्ट है। इसका आशय यह हुआ कि इस अवधि में लाल यह महसूस तो करते रहे कि नाटक में दृश्यत्व होना चाहिये पर दृश्यत्व को नाटक की मंचीयता और मंचीय दृष्टि से नाटक में दृश्य आयामों के संघटन से ही जोड़ कर देखते रहे। इसलिये इस अवधि के नाटकों में एक कथा है, एक दृश्यबंध है, कुछ दृश्य उपकरण और रंगप्रतीक हैं पर नाटक के कथ्य सत्य, नाटक के काव्यत्व, नाटक के अर्थ को पूर्ण अभिव्यक्ति में अर्थात् उनके दृश्यत्व में शिथिलता रही है। द्वापर की कथा के साथ सूर्यमुख नाटक पूरा होता है और उसके बाद आता है कलियुग और कलंकी अवतार होता है। 'कलंकी' से लेकर 'बलराम की तीर्थयात्रा' के बीच का कालखण्ड वस्तुतः लाल के नाटकों में दृश्यत्व की पकड़ साबित करता है। इस अवधि के नाटकों को देखकर यह कहा जा सकता है कि लाल ने नाटक के कथ्य सत्य को दृश्यत्व प्रदान करने में सफलता पायी है। 'कलंकी' से प्रगति शुरू होती है। कथा तत्त्व क्रमशः कमजोर होता जाता है और उसकी जगह दृश्य घटनाओं के निर्माण की ओर नाटककार अधिक सचेष्ट दीखता है। 'करफ्यू' में कथा नहीं है : यह स्त्री पुरुष के दो जोड़ों के बीच घटने वाली घटनायें प्रस्तुत करता है और उन घटनाओं का दृश्य साक्षात्कार जो अनुभव या प्रभाव दर्शकों पर डालता है वह होता है नाटक का अर्थ, नाटक का कथ्य, सत्य, नाटक का काव्यत्व। यही स्थिति 'सगुनपंछी' की भी है : यहाँ भी राजा-रानी और गंगा-पंचम, स्त्री पुरुष की दो जोड़ी है और अलग-अलग कोणों से एक अर्थ पर केन्द्रित। 'सबरंग मोह-भंग' और 'अब्दुल्ला दीवाना' अनेक बदलते दृश्यों का कोलाज है जिनका अपना कोई विशेष अर्थ नहीं पर उन विभिन्न दृश्य घटनाओं का अपना एक विशिष्ट प्रभाव या अर्थ या कहें कथ्य है। इस प्रकार लाल के नाटकों की रचना पर दृश्यत्व का अनुशासन क्रमशः गहरा होता गया है। नाटक में कथानक तो आये हैं पर कथा का महत्त्व न देकर कथा के अन्तर्गत आने वाली वे घटनायें महत्त्वपूर्ण हो उठी हैं जो मंच पर घटित होती हैं, जिन्हें दर्शक देखता है और जिनसे वह प्रभाव या अर्थ ग्रहण करता है। स्थूल दृश्य अवयव दृश्यबंध लगभग एकदम अनुपस्थित से दीखते हैं, अर्थात् लाल स्थूल रंगमंच के स्थूल दृश्य अवयव को छोड़कर सूक्ष्म रंगमंच, नाटक के आंतरिक रंगमंच को पकड़ने और प्रस्तुत करने

की दिशा में अपसर हुए उपकरणों के माध्यम से न छोड़ दिया गया है। 'सबरंग मोह-भंग' किये जाते हैं। कुछ नाटक कहा जा सकता कि लाल और साभिप्राय प्रयोग का स्थूल दृश्य अवयव ऊपर से ने दृश्यत्व के सही अर्थ को प्रदान करने की ओर अपसर सके, नाटक का कथ्य दृश्य जाय।

इस छोटे से आलेख पर अलग-अलग चर्चा का आधार बनाकर कुछ साम्य जा सकता है कि लाल के व्यक्त हुआ है। यह स्थूल भी है और विभिन्न दृश्य उपकरणों में भी। लेकिन से उतना अभिव्यक्त नहीं में कथा हो, इसमें कोई न हो तो आपत्ति होगी। चाहिये जिससे मंच पर नाटकों में कथा तत्त्व प्रधीरे-धीरे कथा तत्त्व हल्के मंचीय साक्ष्य से घटित करने में सफल हुई है नाटक और कहीं कथ्य व यह संप्रेषण खण्डित भी यहाँ तक तो संतुलन का दृष्टि से संतुलन मौजूद चलने वाली। स्थूल दृश्य नाटक का कथ्य यहाँ श

प्रदर्शन कर लेने

वस्तुतः लाल के

दृश्यत्व की लगभग

चर्चा में यह स्पष्ट

तो करते रहे कि

मेमता और मंचीय

छते रहे। इसलिये

दृश्य उपकरण और

क के अर्थ की मूर्त

की कथा के साथ

र कलकी अवतार

ीव का कासखण्ड

है। इस अवधि के

के कथ्य सत्य को

ति शुरू होती है।

दृश्य घटनाओं के

में कथा नहीं है :

गुप्त करता है और

कों पर डालता है

का काव्यत्व। यही

-पंचम, स्त्री पुरुष

त। 'सबरंग मोह-

है जिनका अपना

पना एक विशिष्ट

ओं की रचना पर

कथानक तो आये

घटनायें महत्व-

ता है और जिनसे

ख लगभग एकदम

दृश्य अवयव को

और प्रस्तुत करने

को दिशा में अप्रसर हुए हैं। 'सूर्यमुख' के पहले जिन दृश्य प्रतीकों और दृश्य उपकरणों के माध्यम से नाटक में दृश्यत्व लाने की कोशिश की गयी थी अब उन्हें छोड़ दिया गया है। 'सबरंग मोहभंग' के अनेक दृश्य अभिनटन शैली में प्रस्तुत किये जाते हैं। कुछ नाटकों में कुछ दृश्य उपकरण आये हैं, इसलिये ऐसा नहीं कहा जा सकता कि लाल ने इन्हें एकदम छोड़ ही दिया है, पर अब उनके सार्थक और साभिप्राय प्रयोग की ओर वे अधिक केन्द्रित हुए हैं। इस प्रकार नाटक में स्थूल दृश्य अवयव ऊपर से थोपकर नाटक में बलात् दृश्यत्व लाने की जगह लाल ने दृश्यत्व के सही अर्थ को पकड़ने की कोशिश की है, नाटक के सत्य को मूर्तता प्रदान करने की ओर अप्रसर हुए हैं ताकि नाटक का कथ्य सत्य दृश्यत्व प्राप्त कर सके, नाटक का कथ्य दृश्य के माध्यम से संप्रेषित हो, उसे शब्दों में न कहा जाय।

इस छोटे से आलेख की सीमा में माल के सभी नाटकों के रचना विधान पर अलग-अलग चर्चा कर पाना संभव नहीं। लेकिन अब तक की चर्चाओं को आधार बनाकर कुछ सामान्य निष्कर्ष लेने में भी कोई दिक्कत नहीं। यह कहा जा सकता है कि लाल के प्रारंभिक नाटकों में दृश्यत्व अपने स्थूल रूपों में अभिव्यक्त हुआ है। यह स्थूलता एक यथार्थ सा दिखने वाले दृश्यबंध की कल्पना में भी है और विभिन्न दृश्य (दिखने लायक) प्रतीकों के प्रयोग में भी तथा दृश्य उपकरणों में भी। लेकिन इन नाटकों में नाटक का कथ्य दृश्य घटनाओं के माध्यम से उतना अभिव्यक्त नहीं होता जितना नाटक में गृहीत कथा के कारण। नाटक में कथा हो, इसमें कोई आपत्ति नहीं पर नाटक में कथा ही कही जाय, दृश्यत्व न हो तो आपत्ति होगी। कथा का सहारा लेकर दृश्य घटनाओं का निर्माण होना चाहिये जिससे मंच पर नाटक जीवन्त हो सके। तो, हम पाते हैं कि प्रारंभिक नाटकों में कथा तत्व प्रबल है और दृश्यत्व पाने वाली घटनायें कम, लेकिन धीरे-धीरे कथा तत्व हल्का होता गया है और दृश्य घटनायें स्थान लेने लगी हैं। मंचीय साक्ष्य से घटित होने वाली ये घटनायें कहीं तो नाटक के कथ्य को संप्रेषित करने में सफल हुई हैं जैसे करफ्यू, अब्दुल्ला दीवाना, सबरंग मोहभंग वगैरह नाटक और कहीं कथ्य की दुरुहता अथवा दृश्यों के सम्यक् आयोजन के अभाव में यह संप्रेषण खण्डित भी हुआ है जैसे यक्ष प्रश्न, उत्तरयुद्ध, कलकी, आदि नाटक। यहाँ तक तो संतुलन का अभाव कहीं खटकता है लेकिन 'मगुन पंछी' में हम हर दृष्टि से संतुलन मौजूद पाते हैं। कथा भी है पर दृश्य घटनाओं की पृष्ठभूमि में चलने वाली। स्थूल दृश्य अवयवों के संघटन की जगह प्रतीक दृश्य आ गये हैं। नाटक का कथ्य यहाँ शब्दों से आगे मंचीय दृश्य रचना से संप्रेषित होता है।

काव्यत्व और दृश्यत्व का संतुलन भी है और विभिन्न तत्वों का समन्वय भी जिससे नाटकीयता में वृद्धि हुई है। यह लाल के एकदम शुरू के नाटक 'तोता मैना' का नया संस्कृत रूप है और यह साबित करता है कि एक अच्छे नाटक में दृश्यत्व का अनुशासन किस प्रकार नाटक के सभी घटक तत्वों पर चला करता है। कथा ऐसी और इतनी भर जो दृश्य हो सके, पात्र ऐसे जिनका चरित्र दिख जाय (राजा-रानी, गंगा पंचम पात्र हैं और उनका स्त्रीत्व एवं पुरुषत्व उनका चरित्र, जिसे नाटककार स्त्री पुरुष संबंध के बदलते कोणों के रूप में दिखाना चाहता है) और यह सब मिलकर नाटक के कथ्य को दृश्यत्व तक ले जाते हैं, एक नाटक को नाटक होने की सामर्थ्य प्रदान करते हैं। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि लाल ने अपने नाटकों के लिये दृश्यत्व के रूप में रचना विधान का अनुशासन स्वीकार किया है और 'अंधा कुआँ' से 'बलराम की तीर्थयात्रा' तक की उनकी यात्रा क्रमशः स्थूल दृश्यत्व से दृश्यत्व की सूक्ष्मता तक की यात्रा है। ●

एक

डा० लक्ष्मीनारायण
उनके नाम को न तो
नागायण लाल ही क्यों
पर यह कैसा "ल
अनौपचारिक हैं त
नहीं हैं।

कैसे लाल हैं ?
सर्द देशों की सुर्खी
शुरू में मैंने किसी
वे तपाक से बोले
अरे कैसे लाल "
क्या मतलब ?
यही कि कभी दा
मुझे नहीं पता वे
हवाओं में पीले पड़ गए
कभी हुए होंगे।
वैसे उनके साहित्य
है। परन्तु उनकी रच
संकल्पित रचना धर्म की
उसी धरती के "लाल"
था—"जित देखो तित
"लाली" से लक्ष्मीनारा
यह लाल अनुलेपन
यहाँ की धरती का रंग

नाटकों का रचना विधान

का समन्वय भी जिससे
नाटक 'तोता मैना' का
बच्छे नाटक में दृश्यत्व
रचला करता है। कथा
नका चरित्र दिख जाय
पुस्तक उनका चरित्र,
में दिखाना चाहता है)
जाते हैं, एक नाटक को
कहा जा सकता है कि
विधान का अनुशासन
यात्रा' तक की उनकी
यात्रा है। ●

एक रंग-यक्ष-पुरुष का रंगाभिषेक

डॉ० चन्द्रशेखर

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल, नहीं, केवल लक्ष्मीनारायण लाल। "डॉ०"—
उनके नाम को न तो रेखांकन देता है और न अवतरण चिह्न ही। पर लक्ष्मी-
नारायण लाल ही क्यों? "लाल" अधिक सार्थक हो सकता है।

पर यह कैसा "लाल" है?

अनौपचारिक है हम। मो कह सकता है, कहना चाहेंगा वे ऐसे वैसे लाल
नहीं हैं।

कैसे लाल हैं?

सर्व देशों की सुर्ख हवाओं में अपना रंग खो बैठे हैं—ऐसे लाल तो नहीं?

शुरू में मैंने किसी से यही पूछा,

वे तपाक से बोले—

अरे कैसे लाल "....कभी पीले कभी लाल"

क्या मतलब?

यही कि कभी दाएँ। कभी बाएँ।

मुझे नहीं पता वे किन गर्म हवाओं में लाल-सुर्ख हुए थे। वे किन ठंडी
हवाओं में पीले पड़ गए थे।

कभी हुए होंगे। कभी रहे होंगे।

वैसे उनके साहित्य में कहीं-कहीं कुछ-कुछ लाल है, कहीं कुछ पीला भी पड़ा
है। परन्तु उनकी रचनाशीलता के तैवर कभी लाल-पीले नहीं हुए। उनके
संकल्पित रचना धर्म की जो मुद्रा आज है, "लाली" तो उसमें भी है, पर वह
उसी धरती के "लाल" हैं खादी-पुत्र कबीर ने जिस लाली का साक्षात्कार किया
था—"जित देखो तित लाल" जिसके दर्शन से वे स्वयं लाल हो गये थे, उसी
"लाली" से लक्ष्मीनारायण लाल हुए हैं।

यह लाल अनुलेपन उसी का है। यह लाल, जो सामान्यजन का रंग है।
यहाँ की धरती का रंग है। दिशाओं का रंग है, लाल-सुर्ख नहीं—गैरक। केशरी

नाटकों का रचना विधान

का समन्वय भी जिससे
नाटक 'तोता मैना' का
अच्छे नाटक में दृश्यत्व
र चला करता है। कथा
नका चरित्र दिख जाय
पुरुषत्व उनका चरित्र,
में दिखाना चाहता है)
जाते हैं, एक नाटक को
कहा जा सकता है कि
विधान का अनुशासन
र्ययात्रा' तक की उनकी
यात्रा है। ●

एक रंग-यक्ष-पुरुष का रंगाभिषेक

डा० चन्द्रशेखर

डा० लक्ष्मीनारायण लाल, नहीं, केवल लक्ष्मीनारायण लाल। "डा०"—
उनके नाम को न तो रेखांकन देता है और न अवतरण चिह्न ही। पर लक्ष्मी-
नारायण लाल ही क्यों? "लाल" अधिक सार्थक हो सकता है।

पर यह कैसा "लाल" है?

अनौपचारिक हैं हम। सो कह सकता हूँ, कहना चाहूँगा वे ऐसे जैसे लाल
नहीं हैं।

कैसे लाल हैं?

सर्व देशों की सुर्ख हवाओं में अपना रंग खो बैठे हैं—ऐसे लाल तो नहीं?

शुरू में मैंने किसी से यही पूछा,

वे तपाक से बोले—

अरे कैसे लाल "कभी पीले कभी लाल"

क्या मतलब?

यही कि कभी दाएं। कभी बाएँ।

मुझे नहीं पता वे किन गर्म हवाओं में लाल-सुर्ख हुए थे। वे किन ठंडी
हवाओं में पीले पड़ गए थे।

कभी हुए होंगे। कभी रहे होंगे।

जैसे उनके साहित्य में कहीं-कहीं कुछ-कुछ लाल है, कहीं कुछ पीला भी पड़ा
है। परन्तु उनकी रचनाशीलता के तैवर कभी लाल-पीले नहीं हुए। उनके
संकल्पित रचना धर्म की जो मुद्रा आज है, "लाली" तो उसमें भी है, पर वह
उसी धरती के "लाल" हैं खादी-पुत्र कबीर ने जिस लाली का साक्षात्कार किया
था—"जित देखो तित लाल" जिसके दर्शन से वे स्वयं लाल हो गये थे, उसी
"लाली" से लक्ष्मीनारायण लाल हुए हैं।

यह लाल अनुलेपन उसी का है। यह लाल, जो सामान्यजन का रंग है।
यहाँ की धरती का रंग है। दिशाओं का रंग है, लाल-सुर्ख नहीं—गैरक। केशरी

गैरक, अग्नि गैरक । अरुणिम गैरक । प्राची के दिगंत से उठता हुआ गैरक । गैर ज्योति सा । भगवे चीवर सा ।

डॉ० लाल—लाल हुए हैं इसी घरातल पर । यह "लाल"—उनकी संस्कार-दीक्षा का मूल मंत्र है । यह लाल उनके सृजन-संकल्पों का रंगाभिषेक है । उनकी रचनाशीलता का सुगन्धित अभिषेक है, एक केशर रजित अक्षत अभिषेक । इसी रांगिक प्रक्रिया में लक्ष्मीनारायण "लाल" हुए हैं ।

अपनी समग्रता में एक अक्षर-अभियान है । सनातन गंधा अक्षर अभियान । उसकी केन्द्रीय पहचान क्या है ? वह अपनी संकल्पित केन्द्रीय मुद्रा में :

—रग राशियों का वैष्णवी अनुष्ठाता है । भारतीय रंग-धर्म, रंग कर्म, रगान्वेषण का एक रंग-सिद्ध, रंग-व्रती संकल्प है । इसके लेखन के कई आयाम उद्घाटित हुए हैं :

- काव्यात्मक आयाम
- कथात्मक आयाम
- रंगात्मक आयाम

किसी समानांतरता में इनका अलग-अलग प्रसार नहीं हुआ है, प्रत्युत एक संश्लिष्ट रचना धर्म की ये प्रक्रियात्मक स्थितियाँ हैं ।

इधर डॉ० लाल के रचना धर्म की "मनस्विता" ने स्वयं को एक और घरातल पर प्रस्तुत किया है—वह है—विधा निरपेक्ष चिंतन अभिव्यक्ति का । न वह काव्यात्मक है, न कथात्मक और न रंगात्मक है । परन्तु इस "निरपेक्षता" में भी इनकी सापेक्षता बनी हुई है वह अपने संस्कारों में रंगशील है, प्रसार में काव्यात्मक भी है—और कथात्मक भी । परन्तु उसकी इयता है एक चितक और एक मनीषी और एक हो रहे मनस्वी की ।

पीछे देहली आना हुआ ? उनके बारे में पता किया । जाना, कि वे अब पश्चिम बिहार में चले गए हैं । फोन किया, बोले :

फौरन चले आओ । घंटाभर यहीं हूँ ।

—पहुँचा कि पहुँचा...

पर नहीं पहुँच पाया । जहाँ रुका था वहाँ से तो चल पड़ा । वह देहली का दूसरा छोर था । यातायात में कोई आन्दोलनात्मक व्यवधान था, सो नहीं पहुँच पाया । भूल यह हुई कि पुनः फोन नहीं कर सका । सोचा कि घंटे से ऊपर हो चुका है अब वे घर से निकल चुके होंगे ।

उस रात डॉ० दशरथ ओझा के यहाँ रुका । डा० कुलदीप अग्निहोत्री मेरे साथ थे । वह हाल ही में लौटे थे—अमरीका प्रवास से । "विश्व हिन्दू-सम्मेलन"

एक रंग-यक्ष-पुरुष का र

में भाग लेने के बाद वह मान समस्या पर अमरीक सम्पन्न की थी । वहाँ से

—कल यहाँ के एक

और उनकी रंगयात्रा" के कोई रचना किसी को 'दो साल होने को है, यह तुरन्त अपने नाम 'ईशू'

जब यह पत्र मिला तो मेरी पुस्तकें कई-कई अमरीका में दो साल की स्नान के मोके तो भयस् का शिकार बनती रही

उस रात की चर्चा बही किस्सा बताया । डॉ० लाल की रचनाएँ

तुम उन पर लिखोगे—तुम चले तो जलवा दूँ । जल

मैं डर गया, कुलदीप हिन्दी का यह विद्वान है इस निष्ठावान वैष्णवी

डॉ० लाल पर लिखा गया था । देखा इसका लाल पर लिखी गई उन

निराकांक्ष तपस्वी ब्राह्मण ताम्र वर्णी मुख पर एक स्तवन करते हैं । पुनः स

सर्वारंभ पति

योमद्भक्तः

मैं सोच रहा था—कितना रचनात्मक होता भाई । लाल आये

दिगंत से उठता हुआ गैरक ।

“लाल” —उनकी संस्कार-

ओं का रंगाभिषेक है। उनकी

र रजित अक्षत अभिषेक ।

हैं।

ततन गंधा अक्षर अभियान ।

त केन्द्रीय मुद्रा में :

भारतीय रंग-धर्म, रंग कर्म,

इसके लेखन के कई आयाम

र नहीं हुआ है, प्रत्युत एक

“ने स्वयं को एक और

चित्तन अभिव्यक्ति का । न

। परन्तु इस “निरपेक्षता”

ओं में रंगशील है, प्रसार में

नी इयता है एक चितक और

किया । जाना, कि वे अब

गे चल पड़ा । वह देहली का

व्यवधान था, सो नहीं पहुँच

सोचा कि घंटे से ऊपर हो

डा० कुलदीप अग्निहोत्री मेरे

से। “विश्व हिन्दू-सम्मेलन”

में भाग लेने के बाद वह थोड़े समय के लिए वहाँ रुक गये थे । पंजाब और वर्तमान समस्या पर अमरीका-कनाडा के व्याख्यानो की एक लम्बी माला उन्होंने सम्पन्न की थी । वहाँ से उन्होंने सूचित किया था—

—कल यहाँ के एक पुस्तकालय में आपकी रचना—“लक्ष्मीनारायण लाल और उनकी रंगयात्रा” देखने को मिली । यहाँ नियम है कि दो साल तक यदि कोई रचना किसी को ‘ईशू’ नहीं होती है तो उसे रट्टी में बेच दिया जाता है । दो साल होने को है, यह रचना अभी तक किसी को “ईशू” नहीं हुई है, सो तुरन्त अपने नाम ‘ईशू’ करवा लो है।”

जब यह पत्र मिला तो न कोई दुःख हुआ और न हैरानी ही । अपने यहाँ तो मेरी पुस्तकें कई-कई साल तक यूँ ही बन्द पड़ी पाई गई हैं । गनोमत है कि अमरीका में दो साल की दंड यातना के बाद उन्हें फुटपाथों पर हवा-पान-धूप-स्नान के मौके तो मयस्सर होते हैं । अपने यहाँ तो वे घुट-घुट कर दीमक-सीलन का शिकार बनती रही है ।

उस रात की चर्चा में जब डॉक्टर लाल का जिक्र आया तो अग्निहोत्री ने वही किस्सा बताया । डॉ० ओझा ने एक नामी-निस्रत ठहाका लगाया ।

लाल की रचनाएँ । सूर्यमुख, करपयूँ वे स्खलन हैं लाल के रचनाधर्म का । तुम उन पर लिखोगे—तो वह कूड़ा होगा । ऐसे ही फुटपाथों पर बिकेगा । वण चले तो जलवा दूँ । जला दूँ”

मैं डर गया, कुलदीप काँप गया ।

हिन्दी का यह विद्वान इतना क्रुद्ध । अभी कोई शाप न दे डाले । बड़ी शक्ति है इस निष्ठावान वैष्णवी ब्राह्मण में । पूर्ण द्विजत्व प्रत्यक्ष हुआ है मानो ।

डा० लाल पर लिखी अपनी वही रचना कुछ साल पूर्व मैं डॉ० ओझा को दे गया था । देखा इसका ताम्र मुख-मंडल धधक रहा है, पर उनके शैल्फ में डॉ० लाल पर लिखी गई उपचर्चित पुस्तक सुरक्षित पड़ी है—आश्वस्त हुआ । यह निराकांक्ष तपस्वी ब्राह्मण शीघ्र ही शांत हो जाएगा और धीरे-धीरे उनके प्रचंड ताम्र वर्णी मुख पर एक तरल सौम्यता आने लगी । प्रायः सायं प्रातः वे गीता स्तवन करते हैं । पुनः उसी के धरातल पर उतर रहे थे ।

सर्वारंभ परित्यागी...शुभाशुभ परित्यागी ।

योमदुःखः समे प्रिया ।

मैं सोच रहा था—बर्चस्वी ब्राह्मणतत्त्व का क्रोध अपनी केन्द्रीय मुद्रा में कितना रचनात्मक होता है ? वे पुनः बोले—

भाई । लाल आये थे कुछ दिन पूर्व । “बलराम की तीर्थ यात्रा” दे गये ।

बोले, मैं भटक गया था। अपनी मिट्टी के संस्कार दुर्बल हो गये थे। यह रचना मेरी रचनाशीलता का रंग-कल्प है। अब क्या राय है आपकी ?

बड़ी शक्ति है इस नाटक में, सब जल जाए। शेष इसी रचना के बल पर लाल कल्पांत जीवित रहेंगे।

डा० ओझा का रंगधि अब आशीर्वचन मुद्रा में था—“बलराम की तीर्थ-यात्रा”—मेरी रचना “लक्ष्मोनारायण की रंगयात्रा” के साथ ही पड़ी हुई थी। मन में विश्वास जगा—अब मेरी रचना फुटपाथ पर अंग फैलाकर घूष स्नान करने से बच जायेगी। अब रात-भर यहीं हूँ। “बलराम की तीर्थ यात्रा” मैं पढ़ जाऊँगा। प्रातः इस पर बात करेंगे। नहीं चाहता आपकी सम्मति का और आरोपण हो मेरे पर। आपके चश्मे में मेरी नजर मंद पड़ेगी।

उस रात मैंने स्वयं को “बलराम की तीर्थ यात्रा” में शामिल कर दिया। प्रातः उठा तो अनेक स्नानों से मिला, एक शुचिताबोध था मेरे में।

डा० ओझा के कंठ से निस्सृण हो रहा था :

—हे कृष्ण गोविन्दा। हरे मुरारे।...

मैंने उन्हें प्रातः प्रणाम दिया। प्रसन्न हुए। मेरा भी प्रणाम स्वीकृत हुआ है एक मंगलाशीष से। मैं बोला :

—सचमुच ही लाल का रचनाधर्म शापमुक्त हुआ है, इस तीर्थ यात्रा में। यह रचना उनके सृजन संकल्पों का दीक्षान्त है। वे रंगसिद्ध स्नातक हुए हैं।

बलराम में कहीं न कहीं लाल भी है। यह रचना उनके लेखन का गरुडध्वज है।

नहीं विष्णुपद हूँ।

नहीं, विष्णुपद अभी दूर है। वे ऐसे ही वैष्णव बने रहे तो वरदान होगा हिन्दी नाटक के लिए। मानता हूँ कि लाल के रचनाधर्म पर राकेश की संस्खलित रचनाशीलता के छीटे पड़े हैं।

अरे। इससे हिन्दी नाटक दूषित हुआ है। रंग-प्रदूषण किया है उस अभि-शप्त यक्ष ने। उसका शाप दंड “मेघदूत” नहीं बन सका। हूँ प्रदूषित “आषाढ़ का एक दिन” बन गया है। डा० लाल ने सूर्यमुख और करफ्यू की रचना इसी प्रदूषण में की है। इन दोनों समकालीन रंगधर्मियों ने हिन्दी रंगधर्म को संस्कार-भ्रष्ट किया है...

मुझे अपनी एक रचना स्मरण हो आई—“दो रंग धर्मी हस्ताक्षर” इसकी जेकट पर लाल और राकेश का एक संश्लिष्ट चित्र है। डाक्टर ओझा के पास उसकी प्रति पड़ी थी। मैंने इस चर्चा को उसी के संदर्भ में उठाया।

—डा० ओझा
पीढ़ी का हूँ। सम्मति
पाएँगे।

—अरे चन्द्र
मति के बिन्दुओं
त्मक हो जाएँगे।
अपने ही ये उनक
की खोज की दिश
उत्तरों को उत्तर

—आई ऐसे

—आज य
वे जीवित हैं हम
हैं। जनार्पण देत
हम क्या कहीं रा
दास समकालीन
स्वीकार करें? ल
है। ‘करफ्यू’—
उन अंशों में इन

—और सू

—वह एक
पीढ़ी है, सम्पूर्ण
रंगधर्म यहाँ नि
मेरुदंड है। लाल
माध्यम अन्वेषित
सर्वाधिक संस्खल

डा० ओझा

बस, मैं तुम
की चिंता है। अ
अब हमें अ
बीहड़ कांतारों में
डा० कुलदी
नहीं पा रहा था

हो गये थे। यह रचना
की ?

इसी रचना के बल पर

“बलराम की तीर्थ-
यात्रा ही पड़ी हुई थी।
फेलाकर धूप स्नान
तीर्थ यात्रा” में पद
की सम्मति का और
की।

शामिल कर दिया।
मेरे में।

राम स्वोक्त हुआ है

इस तीर्थ यात्रा में।
स्नातक हुए हैं।

लेखन का गरुडध्वज

हे तो वरदान होगा
राकेश की संस्खलित

किया है उस अभि-
हूँ प्रदूषित “आषाढ
पू की रचना इसी
रंगधर्म को संस्कार-

हस्ताक्षर” इसकी
मटर ओझा के पास
ठायी।

—डॉ० ओझा। आप अग्रज पीढ़ी के शीर्षस्थ रंग-समीक्षक रहे हैं। मैं उत्तर
पीढ़ी का हूँ। संभवतः उत्तरोत्तर हम एक हैं ‘बिब लैम्थ’ पर “ट्यून” नहीं हो
पाएंगे।

—अरे चन्द्रशेखर। यह तो स्वाभाविक है। स्वाभाविक है हमारे में असह-
मति के बिन्दुओं का होना। हम पूर्व पीढ़ियों से सर्वांग सहमत होंगे तो गैर रचना-
त्मक हो जाएंगे। उनके और आपके अपने प्रश्न रहे हैं। उनके उत्तर भी आपके
अपने ही थे उनकी निरंतरता और उनसे प्रस्थान में हमारे प्रश्न है। उनके उत्तरों
की खोज की दिशाओं का उद्घाटन भी हमें ही करना है। आप अपने प्रश्न और
उत्तरों को उत्तर पीढ़ियों पर आरोपित करेंगे। तो आप भविष्यहंता हो जाएंगे।

—भाई ऐसा क्या किया है हमने ? क्यों पूर्व पीढ़ियों पर बरस रहे हो ?

—आज यह चर्चा केवल आपके प्रसंग में नहीं हो रही है। पूर्वजों से हम हैं,
वे जीवित हैं हमारे में। मैं उनका सश्रद्ध पिंडदान करता हूँ। तिलांजलियाँ देता
हूँ। जलापण देता हूँ। कुशपात्र को अर्घ्यपात्र में स्थित कर। विचारणीय है कि
हम क्या कहीं राकेश और लाल से ज्यादाती तो नहीं कर रहे ? राकेश का कालि-
दास समकालीन रचनाधर्म और चुनौतियों से कहीं जुड़ा है। हम उसे ही क्यों न
स्वीकार करें ? लाल का ‘व्यक्तिगत’, हमारी विसंस्कृत विद्रूपता का उर्रेहण करता
है। ‘करपयू’—कहीं न कहीं हमारे भीतर हो चुके हिमपात को पिघलाता है—
उन अंशों में इन रचनाओं की समकालीन प्रासंगिता है।

—और सूर्यमुख ?

—वह एक अपवाद है, एक और धरातल का। इसके मूल्यहंता अराजक
पीढ़ी है, सम्पूर्ण निषेध और अस्वीकार की विध्वंसक मुद्रा में। पर लाल का
रंगधर्म यहाँ निश्चित ही अशुचि हुआ है। वह एक समग्र भारतीय पात्रता के
मेरुदंड है। लाल के समकालीन साक्षात्कार और अनुभव रंगावतरण के लिए जो
माध्यम अन्वेषित करते हैं, वे उनसे प्रदूषित हो उठे हैं। लाल के रंग संकल्पों का
सर्वाधिक संस्खलन इसी धरातल पर हुआ है।

डॉ० ओझा पुनः कहकहा उठे। उनका ठहाका और मंत्रशील होता है।

बस, मैं तुम्हें इसी बिंदु पर सहमत हुआ पाना चाहता था। यह पूर्व पीढ़ी
की चिंता है। अब वह उत्तर पीढ़ी में जग गई है। मैं दायित्व मुक्त हुआ।

अब हमें अपने अग्निदंड दें। उन्हें थामकर हम गहन कंदराओं में उतरेंगे।
बीहड़ कांतारों में जाएंगे।***

डॉ० कुलदीप डॉ० लाल से पुनः सम्पर्क स्थापित कर रहे थे। फोन मिल
नहीं पा रहा था। एक खीझ में उठा और बोला—

—डॉ० लाल से भेंट करनी है, तुलसी की चाय पीकर चलते हैं।

डॉ० ओक्षा ने बात को दबोचा।

चायपान तुलसी-मिश्रण से आचमन का संस्कार देता है।

डॉ० लाल स्वयं एक विसर्जित तुलसीपत्र हैं, भारतीयता के शालिग्राम पर।

डॉ० कुलदीप हार मानने वाले नहीं थे। बार-बार डायल करते रहे। और फोन मिल गया। उधर डॉ० लाल बोल रहे थे। मैंने कुलदीप को प्रेरित किया। फोन पर ही कल न पहुँच पाने के लिए क्षमा माँग लें।

ऐसे ही किया गया। अब हम आश्वस्त होकर निकल पड़े, डी० डी० ए० फ्लैट्स।

कैसे महानगरीय प्रसार स्वयं को गंडुली मार कर इन्हें समेट लेता है रात में। ये सब दंडित हैं, ऐसे दबड़ों में दिन काटने के लिए फ्लैट्स। जो जमीन पर हैं उनके पास आकाश नहीं, जिनके पास आकाश है वे जमीन से कट चुके हैं। ये सभी जो बीच में लटक रहे हैं—जमीन से कटे हुए। आसमान से हटे हुए।

जल्दी ही हम डॉ० लाल के फ्लैट के सामने खड़े थे। वह एक फ्लैट था प्राउंड फ्लोर का। प्रसन्नता हुई। डॉ० लाल के पैरों के नीचे दो बालिशत अपनी जमीन हैं। खड़े होने के लिए चलने के लिए। वे जुड़े हैं अपनी मिट्टी से।

डॉ० कुलदीप ने रिंग दी, द्वार खुला।

एक आदमकद देव-प्रतिमा खड़ी थी चौखट के फ्रेम में। सफेद धोती, बनि-यान, लौह मूर्ति पर जैसे तरल ताम्रविका का अनुलेपन हुआ हो। ओंठों पर गमक रही मंद-स्निग्ध मुस्मान स्वागत के लिए अक्षत-वर्षा कर रही हो।

बस, ऐसे ही दो पल और खड़े रहें। यह दिव्यता हमारे लिए प्रणम्य है।

डॉ० लाल और खुलकर हँस रहे थे।

उस हास्य कुहार में हम क्षमित हो रहे थे।

कल न आ पाने का अब हमें कतई खेद नहीं।

पर मुझे तो है। सारा दिन एक आराधनात्मकता में पड़ा रहा। हम बैठक में पहुँच चुके थे।

लगभग दो-तीन सालों बाद उन्हें मिल रहा था। यह वह लाल नहीं था। वरसों पहले वाला लाल एक रंगान्वेषा, रंगधर्मी, रंगकर्मी और रंगशिल्पी था। परन्तु यह लाल। रंगानुष्ठानों के पुरोध्या की भूमिका में उतर चुका था। शालीन-सौम्य रंग आभिजात्य से अनुलिप्त माथे पर हरिचंदन का तिलक। गंगोटी का टीमा, मानो साक्षी कर रहा था—लाल का रचनाधर्म गंगा हो रहा है। एक शुचि सलिल प्रवाह बन रहा है।

तुलसी चंदन

एक लम्बी प्रक्रिया

अपने रचनाधर्म ने

पंचगव्य प्राप्त किया

भारताय संस्कृ

—गोमाता। इसकी

पुण्य प्रद है इसमें र

एक तीव्र अनुभव दे

लाल इन सह

रहे हैं। गंगोटी गंध

भारतीय संस्कृ

नीलकान्त मणि

नील ही क्यों

भगवान विष्णु

भगवान शंकर

भगवान राम

भगवान कृष्ण

क्या है यह नी

मूल्य संस्खलन

नीलिमा दे गया है

डॉ० लाल के

में। लगा, लाल क

आभास देने लगी

—'यक्ष प्रश्न',

धरातल संक्रमण क

पाया है। विषाचम

है। यही आचमन-

यन होना पासपोर्ट

एक संस्कार दीक्षा

मेरे सामने ज

आचमनी मुद्रा में

लाल वाम से

नीकर चलते हैं।

ता है।

गीयता के शालिग्राम पर।

र डायल करते रहे। और

लदीप को प्रेरित किया।

लें।

कल पढ़ें, डी० डी० ए०

इन्हें समेट लेता है रात

फ्लैट्स। जो जमीन पर

मोन से कट चुके हैं।

आसमान से हटे हुए।

थे। वह एक फ्लैट था

नीचे दो बालिशत अपनी

अपनी मिट्टी से।

में। सफेद धोती, बनि-

आ हो। ओंठों पर गमक

रही हो।

मारे लिए प्रणम्य है।

पड़ा रहा। हम बैठक

ह वह लाल नहीं था।

और रंगशिल्पी था।

र चुका था। शालीन-

तिलक। गंगोटी का

गंगा हो रहा है। एक

तुलसी चंदन युक्त आचमन देव निर्माल्य बन रहा है। उसकी रचनाशीलता एक लम्बी प्रक्रिया में पंचगव्य होने लगी है। मंत्र-सिद्ध मधुपर्क हो रही है। मेरे अपने रचनाधर्म ने उसका आचमन लिया। स्वयं को जलाभिसिचन दिया और पंचगव्य प्राप्त किया।

भारतीय संस्कृति पंचगव्यमूला रही है। यह धरती। पुण्य वसुन्धरा। माता है—गोमाता। इसकी रस-धाराएँ। गन्-सहस्र धाराएँ। क्षीर-दुग्ध धाराएँ। कितना पुण्य प्रद है इसमें रोम-रोम स्नान। लाल के साक्षात्कार का यह मौन क्षण मुझे एक तीव्र अनुभव दे गया।

लाल इन सहस्रधाराओं में स्नान कर बैठे अभी-अभी आये हैं। एक गंध दे रहे हैं। गंगोटी गंधा माटी की। कर्पूर गंधा। केशर गंधा धरती की।

भारतीय संस्कृति।

नीलकांत मणियों से समुज्ज्वला।

नील ही क्यों ?

भगवान विष्णु। मेघवर्णा कांति से प्रदीप्त।

भगवान शंकर। नीलविभा से दीप्त कंठ।

भगवान राम। नीलाम्बुज श्यामल कोमलांग।

भगवान कृष्ण। नील मरकत मणियों से विभान्वित।

क्या है यह नील ?

मूल्य संस्खलन के घरातल पर किया गया संक्रमणों का विषपात्र है—यह नीलिमा दे गया है भारतीय चिंतन को।

डॉ० लाल के सामने मौन का वह क्षण नीलम प्रभावों-सा कौंद गया मेरे में। लगा, लाल का रचना धर्म, वे नील रेखाएँ। नीलाभ रेखाएँ प्रत्यक्षता का आभास देने लगी हैं। डॉ० लाल ने अपनी उत्तरकालीन रचनाओं—'उत्तर युद्ध'—'यक्ष प्रश्न', 'नरसिंह कथा', 'बलराम की तीर्थ यात्रा' में मूल्य संस्खलन, घरातल संक्रमण का नागदंश पाया है। विषपान तो नहीं कहूँगा। विषसिचन पाया है। विषाचमन को एकनिष्ठ और प्रणत मुद्रा में दक्षिणा हथेली पर लिया है। यही आचमन-मुद्रा उन्हें भारतीय बना गई है। नहीं, इण्डियन नहीं। इण्डियन होना पासपोर्ट के घरातल की अपरिहार्यता है। भारतीय होना तो स्वयं में एक संस्कार दीक्षा है। आत्मा का उपनयन संस्कार है।

मेरे सामने जो लाल बैठा था—वह इण्डियन से भारतीय हो चुका था, उस आचमनी मुद्रा में। वाम हथेली पर फैली दक्षिणा हथेली।

लाल वाम से दक्षिण मुख हो रहे थे। यही है भारतीय चिंतन की स्वस्थ,

संतुलित और आनुपातिक मुद्रा । वाम ओर दक्षिण की संयुक्त मुद्रा । बाईं हथेली के ऊपर फैली हुई दाईं हथेली ।

अकेले हाथ का आचमन अशुचि है, और वामक । वामपंथी सर्वथा अपवित्र । चित इसीलिए विकेंद्रित हुआ है । बायाँ हाथ दक्षिण हाथ को अस्वीकार कर दे रहा है जो प्रतिक्रियावादी कह रहा है ।

इस एक क्षण की निस्तब्धता में डॉ० लाल की यह आचमनी मुद्रा मुझे मन ही मन उनके प्रति करबद्ध मुद्रा में प्रणत कर गई ।

भारतीय संस्कृति ।

श्यामल-शास्यांकुरों की संस्कृति है । हरित दूर्वादलों की संस्कृति है । वह केवल श्री गंधा ही नहीं है । मात्र कर्पूर केशरगंधा ही नहीं है । भारतीय संस्कृति मंदारगंधा भी है । "कनक" वर्णा है । वह तुलसी दल है, विल्वपत्र है । आम्रपर्णा और धतूरा पत्र भी है । नहीं है उसकी नीलकंठी अमृतदायिनी मौलिक मुद्रा । सन्नाटे का वह एक क्षण लाल के समग्र रंग लेखन को इस एक बिंब से रूपान्वित कर गया । वह आकपर्णी वह मंदरपुष्पी भी है । वह विल्वपत्री—तुलसीदल भी है । वह नीलकंठी अमृतदायिनी प्रक्रिया में आने के लिए एक तीव्र संकल्पित मुद्रा में सक्रिय हो उठा है । उस एक क्षण में यही सक्रियता मुझे श्रद्धानत बना रही थी । मोन सन्नाटे का वह एक क्षण । कितना अभिभूत कर गया था मुझे । असंख्य वाचाल साक्षात्कारों के बीहड़ वनों में ऐसे क्षण कहीं मिलेंगे । वे भृगुछाँनों से क्षिप्र क्षण ।

मोन टूटा । चाहता था वह कल्पांत बना रहे । यह था एक निमिष । शब्द ब्रह्म की समाधि से उठे रंग योगी के साक्षात्कार का एक मोन निःशब्द क्षण, संवाद निरपेक्षण क्षण । संवादहीनता में जन्म ले रहा शुद्ध संवाद ।

मोन टूटा ।

अब किसी संवाद रचना की कोई जरूरत है क्या ?

लाल ठहाक उठे ।

एक यक्ष अट्टहास कर रहा था । यक्ष । सन्नद्ध प्रहरी । भारतीयता के शुचि जल कुण्ड का स्वामी । जो पानी पीने का अधिकार तो देता है परन्तु परीक्षित करता है हमारी प्यास को । परीक्षण करता है हमारे अधिकार का । यह अधिकार धरोहर रूप में नहीं मिलता है । अर्जित करना पड़ता है इसे ।

अधिकार मिलता है ।

अपनी समकालीनता को प्रश्नित करने से ।

अपनी समकालीनता से प्रश्नित होने से ।

एक रंग-यक्ष-पु

अपनी सम

ऐसा नहीं

प्यास मिटानी

देने ही होगे ।

यह अनुत्त

अनुत्तरता

लाल बोले

यह एक

तुम्हारे पास पा

हैं पाणिप

इसी समय

बरद मुद्रा

शुद्ध धी से

दी । डॉ० कुल

में थे । मैं कौन

में थी ।

मैंने श्रीमत्

"यह रहा

"हमारी

"पूरी कड़

जग दूध ।"

तब होगा

बेकाबू हो रहा

हम हलवे

एक तश्तरी कि

ऐसे किसी अन्य

"भाभी ज

"बाह रे

तलब कर रहे

श्रीमती ल

खिल आई । अ

लाल बोले

मुद्रा। बाई हथेली

सर्वथा अपवित्र।

अस्वीकार कर दे

मनी मुद्रा मुझे मन

संस्कृति है। वह

भारतीय संस्कृति

मन है। आत्मपर्णा

ती मौलिक मुद्रा।

बिंब से रूपान्वित

ती—तुलसीदल भी

सकल्पित मुद्रा

दानत बना रही

था मुझे। असंख्य

मृगछाँवों से क्षिप्र

निमिष। शब्द

शब्द क्षण, संवाद

तीयता के शुचि

परन्तु परीक्षित

। यह अधिकार

अपनी समकालीनता से जुड़कर उत्तर देने से।

ऐसा नहीं करेंगे तो हम खो बैठेंगे पानी पीने में अपने मूलभूत अधिकार को।
प्यास मिटानी है। अंजुलि भर पानी पीना है तो जवाबदेही के धरातल पर उत्तर
देने ही होंगे।

यह अनुत्तरता ही मृत्यु है।

अनुत्तरता में किया गया जलपान ही मृत्यु है।

लाल बोले :

यह एक क्षण। तुम स्वयं परीक्षक और परीक्षित हो रहे थे। अधिकार है
तुम्हारे पास पानी पीने का। पानी पीएँगे।

हाँ पाणिग्रहण करेंगे।...

इसी समय उनकी पाणिग्रही आ गई।

बरद मुद्रा में ट्रे थामे।

शुद्ध घी से सुवासित हलवे की एक-एक प्लेट उन्हीं मुझे और कुलदीप को
दी। डॉ० कुलदीप तो दोनों ही प्लेटे एक साथ हथियाने और शुद्ध ब्राह्मणीतत्परता
में थे। मैं कौन-सा कम ब्राह्मण ठहरा। यह तत्परता उनसे भी कहीं अधिक मेरे
में थी।

मैंने श्रीमती लाल को एक अनौपचारिक अभिवादन दिया।

“यह रहा न सही जलपान। उसके जी भर पान का हमें अधिकार है।”

“हमारी तलब जाहिर है। एक-एक प्लेट से काम नहीं चलेगा?”

“पूरी कड़ाही मेज पर धर दीजिएगा।” कुलदीप खुल रहा था, “और एक
जग दूध।”

तब होगा सही माइनों में जलपान। कुलदीप ऐसे पाणिपान के लिए बेनाब-
बेकाबू हो रहा था। और जलपान आरंभ हो गया। अरे यह क्या।

हम हलवे मंडि पर हाथ आजमाने ही वाले थे कि श्रीमती लाल ने लाल को
एक तश्तरी विशेष पकवान की थमा दी। कुलदीप डाइनिंग टेबल पर होने वाले
ऐसे किसी अन्याय को भला क्यों बरदाश्त करने लगा।

“भाभी जी, यह पंक्तिभेद नहीं चलेगा।”

“बाहू रे रसिया देवर। पहली ही भेंट में भाभी से खास तश्तरी-पकवान
तलब कर रहे हो?” डॉ० लाल ने टिप्पणी की।

श्रीमती लाल के चेहरे पर सद्गृहस्थिणी की एक तरल रजत कांस्य विभा
खिल आई। अपने इस ददियल देवर के संवाद से।

लाल बोले :

“भाई, मेरी पंक्ति में न आओ। चाटे का सौदा रहेगा।”

देखा लाल की उस विशेष तश्तरी में अंकुरित चने थे।

हैं, तो यह राज है आपकी जबामर्दी का।

कैसा आतिथ्य था ?

मेजवान खुद चना-चबेना कर रहा है और मेहमान हलवे-लुकम पर लुकमे हल्क में गर्क कर रहे हैं, धन्य है मेरे रतिदेव।

मैं खाते बरत सोचता नहीं और सोचते समय खाता नहीं। दोनों अलग-अलग और विरोधी धरातल हैं। आस्वादन के इस समय एक साथ दोनों ही आस्वादन-प्रतिक्रियाएँ मेरे में त्वरित होने लगी थीं।

यह व्यक्ति चने से जुड़ा है। गंदम-गेहूँ इस देश का यथार्थ बोध है। चना इस देश का शक्तिकोष। प्राणकोष है। चने से जुड़ने का अर्थ है इस देश की सांस्कृतिक ऊर्जा से जुड़ना। प्रणतभाव से संकल्पित मुद्रा में उससे प्रतिबद्ध होना। मैंने संवाद रचना एक और धरातल पर करने की सोची :

“लाल भाई। कमज़रफक, कमजात—कमीन चना। मुँह से चबाओ तो दाँतों की खैर नहीं। कहीं नाकों चबना-चबाना पड़ जाये तो अल्ला। अल्ला। खैरसल्ला।”

कुलदीप का मुहावरा ज्ञान आगे आया।

“शायद आप इसकी नसल-खसल से वाकिफ नहीं। भीतर से एकदम थोथा। आप कहीं उसकी धनी आवाज़ से लहलुहान तां नहीं हो गए ?”

“फिर अकेला चना। वह भला क्या भाड़ फोड़ेगा।”

संवाद रचना का यह धरातल हमें प्रफुल्ल कर गया था। हास्य के श्वेत शुभ्र खरगोश फुदकने लगे थे। ऐसी उत्पल हास्य मुद्राओं में लाल यकायक गम्भीर हो गए। पुनः उनमें उनका यक्ष प्रकट होने लगा।

“मेरा चना चनाजोर गर्म की हाँक पर हाथों-हाथ बिकने वाला पुड़िया का चना है।

लोहे-फौलाद का चना है।

नहीं दधीचि की हड्डियों से बना है।”

हम सकते में आ गए।

सच ही तो लाल ने अपने अस्थि-विगलन से अपने रचनाधर्म को वज्रायुध बनाया है। उसे हाथ में लेकर वह भारतीय जन-मानस का प्रहरी बना है। मेरा यक्ष प्रश्नित कर रहा है सबको। समकालीन रचनाधर्मियों को। जवाब दो। अपने समय को जवाब दो।

वज्र चने

क्योंकि:

समकालीन

चना। नहीं,

मेल नहीं बैठ

है। हमें अपने

इस संदर्भ को

लाल के

है। लाल उ

“ही।

कुलदीप आये

हाँ-हाँ, देता

भाई च

मैं थोड़ा

बैठा। वे अ

है। मैं अस

रितीवर का

आने के लि

नहीं :

मेरे ब

बोला

मैंने बोला

थे :

दोसे

प्रतिमा को

मत करो

गया। एक

लौट आओ

फोन

हुआ।

लाल

—भ

वज्र चने सा, प्रखर । प्रभावी प्रहारक ।

क्योंकि...सवाल भी चना जवाब भी चना ।

समकालीनता । आग्नेय समकालीनता का अनुरोध । सवाल गंदक । जवाब चना । नहीं, ऐसी स्थिति नहीं । ऐसा बहुत हो चुका है । तभी इस देश में ताल-मेल नहीं बैठ पाया है । गंदक और चने में । चना वज्रशील हो तो एक ही काफी है । हमें अपने रचनाधर्म को कहीं न कहीं इसी संदर्भ में व्याख्यायित करना होगा । इस संदर्भ को उपवीत रूप में धारण करना होगा । इतने में फोन दनदना उठा ।

लाल के भोले-भाले अजय लाल ने उठाया । सुना । बोला—“पापा, आपका है । लाल उठे ‘रिसीवर’ लिया :

“हाँ । प्रणाम पंडित जी । ‘हाँ, नहीं आ सका । कोई खेद नहीं । चन्द्रशेखर, कुलदीप आये हैं । अरे नहीं जी । बड़ी गंभीर और सार्थक चर्चा चल रही है । हाँ-हाँ, देता हूँ ।”

भाई चन्द्रशेखर लो । तुम बात करो । पं० यज्ञदत्त जी हैं ।

मैं थोड़ा झिझका । यज्ञदत्त जी संपूज्य हैं मेरे । मैं उनका आत्माचक्र बन बैठा । वे असंवाद में आ गए । उनकी गहराइयों में उनके प्रति आदर है । श्रद्धा है । मैं असंवाद को भूलकर तुरन्त संवादशील हो उठा । मत्था टेकना किया । रिसीवर कान से लगाए रखा । शब्द नहीं मिल रहे थे । असंवाद से संवाद में आने के लिए वे हलो हलो कर रहे थे । वे बार-बार झल्ला रहे थे—बोलते क्यों नहीं :

मेरे बोल फूटे :

बोला था । बहुत पहले । आपने सुना अनसुना कर दिया । हुआ वही । जो मैंने बोला था । वह मैंने ही बोला था । मेरे में उग आए कुछ दूरदर्शी शब्द बोले थे :

बोले थे...मत तोड़ो । मत तोड़ो जन मानस में स्थापित अपनी सोमनाथ प्रतिमा को मत तोड़ो । यह प्रतिमा मेरे भीतर भी है । गजनी बनकर मूर्तिभंजन मत करो अपना । आपने सुना...पर रुके नहीं : और यह दुखांत उपस्थित हो गया । एक प्रामाणिक अभिलेख से आप क्षेपक बन गए । लौट आओ । पथ बंधु लौट आओ । देखो रंभाती गऊएँ, वेणु-स्वर पर लौट रही हैं ।

फोन पर संवाद लेने की संभावना नहीं थी । उसी शाम उनसे मिलना निश्चित हुआ ।

लाल बोले :

—भाई चन्द्रशेखर, मैंने दीक्षित किया है पंडित जी को और दीक्षित हुआ

हैं उनसे। मैं यज्ञदत्त जी को अपनी रचनाशीलता के केन्द्र में रखकर लिखना चाहता हूँ।

—साल भाई, कृष्ण ने गीता में जिस अश्वत्थ की विभूतिक परिकल्पना की है, वह यज्ञदत्त जी में कुछ अंशों में प्रत्यक्ष हुई है। वे अपने क्षेत्र में जनमानस के अश्वत्थ हैं।

मैंने जाने की अनुमति मांगी।

अब और अब अधिक समय बैठना आपकी रचनाशीलता में हस्तक्षेप करने जैसा होगा।

डॉ० ओझा से जो अग्निदंड लेकर मैं लाल को मिलने आया था, वह बराबर जल रहा था। उसका एक प्रकाश बिंब मेरे भीतर उदित हो चुका था। मैं लाल के बाहर भीतर को जान गया था। उनके आर-पार देख गया था। एक स्पष्ट-पारदर्शिता थी। एक रंगशील, रंगयाज्ञिक की-सी पारदर्शिता। जो उसे कहीं भी अप्रस्तुत नहीं रहने देगी।

आपकी कुछ सेवा नहीं हो सकी। प्रश्न करने का अधिकार आपके रंगधर्म से मिला है। हमें वह एक मंत्रित आयुध सहज ही मिला है। यही आयुध पकड़ा है मैंने। तुम भी धारण करो। कभी विच्छेद में नहीं आओगे अपनी समकालीनता से। बिना उत्तर दिए पानी पीने की प्यास, रचना धर्म को आत्मघाती बना देगी।

लाल से हम विदा ले रहे थे। पर कहीं? वे एक यक्ष जन्मा चुके थे हमारे भीतर। प्रश्नशील यक्ष। उत्तराकांक्षी यक्ष। हमारे जल कुंडों का प्रहरी यक्ष। पर उसमें अधिक महत्त्वपूर्ण लग रहा था, बल्कि लग रहा है पानी का होना। पानी मर गया। पानी सूख गया। तो जलकुंड रिक्त हो जाएंगे। सरोवर जलाशय सूख जाएंगे। तब यक्ष किसका प्रहरी बनेगा? जल की रक्षा। हमारी प्यास बाद के विचार बिंदु है, मूल है पानी, उसका होना, बने रहना। सोचता हूँ प्यास होगी तभी तो पानी की खोज होगी। तीव्र प्यास हाथों में शक्ति भरेगी। वे चट्टानों का वक्ष विदारित कर अँजुली पान कर लेंगे। पर...पर? उसके लिए पुनः पीने का अधिकार अर्जित करना होगा। सब एक साथ है:

पानी,

पानी की प्यास

पानी पीने का अधिकार।

आचार्य ओझा ने हमें एक अग्निदंड दिया था। रंगयक्ष पुरुष ने पानी पीने के अधिकार की अर्जन प्रक्रिया दी है। अब हम प्यासे नहीं रहेंगे। प्यास है तो अग्निदंड लिए जलकुंड खोज निकालेंगे। जल है तो उसे पीने का अधिकार भी अर्जित कर लेंगे।

प्रथम एकांकी स
कुआँ' से लेकर नवी
यात्रा में नाटककार
विभिन्न सम्पन्न तथ
चिन्तन-मनन की अ
उनकी नाट्य कला स
के बाद विभक्त प्रय
तीय रंगभूमि की दृ
मनन दृष्टि का परि
की सनातनता का र

पिछले वर्ष प्रका
उनका एक ऐतिहासि
रत होते हुए मेरी स
नया संयोग है? अ
मोह में यहाँ तक न
भी हम यह कैसे क
जो विदेशी अनुवाद
पर "मंच" "विए
"रंग" जुड़ा है, वह
रंग "ड्रामा" में संभ
ड्रामा जमीन पर, य
कभी "रंग" नहीं
कोई सरोकार नहीं
भूमि है। भूमि ही र

पुरुष का रंगाभिषेक

में रखकर लिखना

तिक परिकल्पना की
क्षेत्र में जनमानस के

ता में हस्तक्षेप करने

या था, वह बराबर

चुका था। मैं लाल

या था। एक स्पष्ट-

। जो उसे कहीं भी

आपके रंगधर्म से

ही आयुध पकड़ा है

समकालीनता से।

गती बना देगी।

जन्मा चुके थे हमारे

में का प्रहरी यक्ष।

है पानी का होना।

गे। सरोवर जला-

रक्षा। हमारी प्यास

। सोचता हूँ प्यास

शक्ति भरेगी। वे

पर? उसके लिए

है:

पुरुष ने पानी पीने

हेगे। प्यास है तो

ने का अधिकार भी

जिससे भूमि रंगभूमि हो गयी

प्रेमाश्री

प्रथम एकांकी संग्रह "ताजमहल के आसू" और प्रथम पूर्णाकार नाटक "अंधा कुआँ" से लेकर नवीनतम प्रकाशित नाटक "कथा विसर्जन" तक की लम्बी नाट्य-यात्रा में नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल के सृजन और रंगचिन्तन के स्तर पर विभिन्न सम्पन्न तथा रोमांचकारी आयाम हैं। अनुकरण नहीं अनुकृति अध्ययन, चिन्तन-मनन की अवस्थाओं (अवस्थानुकृति नाट्यम्) से गुजर चुकने के बाद आज उनकी नाट्य कला सम्पूर्ण विकास पथ पर निरन्तर अग्रसर है। अनवरत साधना के बाद विभिन्न प्रयोगों से प्रेरणा प्राप्त कर आज नाटककार लाल सनातन भारतीय रंगभूमि की दृष्टि जिस गहनता से दे रहे हैं वह उनके शुद्ध अध्ययन, चिन्तन, मनन दृष्टि का परिचायक है। यह दृष्टि "मंच" के रंग की न होकर "भूमि" की सनातनता का रंग है।

पिछले वर्ष प्रकाशित उनका लेख मंच (थियेटर) से रंगभूमि अनेक अर्थों में उनका एक ऐतिहासिक वक्तव्य है। पिछले इतने समय तक नाट्य-क्षेत्र में कर्म-रत होते हुए मेरी समझ में यह नहीं बैठता था कि "रंग के साथ मंच" का भला क्या संयोग है? आधुनिक होने और आधुनिक बने रहने, कहलाने के भ्रम और मोह में यहाँ तक नहीं सूझा कि रंगमंच पश्चिम के थियेटर का अनुवाद है, फिर भी हम यह कैसे कहते हैं— भारतीय रंगमंच, हिन्दी रंगमंच, अपना रंगमंच। जो विदेशी अनुवाद है अपने शाब्दिक अर्थ में ही वह अपना कैसे हो सकता है। पर "मंच" "थियेटर" का अनुवाद हो सकता है। पर "मंच" के साथ जो "रंग" जुड़ा है, वह "रंग" तो "थियेटर" की परिकल्पना में ही नहीं है। वह रंग "ड्रामा" में संभव ही नहीं है। "रंग" ड्रामा के क्षेत्र के बाहर की चीज है। ड्रामा जमीन पर, यथार्थ पर, तर्क पर, ट्रेजेडी पर ही आधारित है। जमीन पर कभी "रंग" नहीं किया जाता। रंग तो भूमि का तत्त्व है। मंच का रंग से कोई सरोकार नहीं हो सकता। रंग का सरोकार केवल भूमि से ही है। रंग ही भूमि है। भूमि ही रंग है। यह कहाँ पता था।

अति लघु बात लागि दुख पावा ।

काहूँ न मोहि केहि प्रथम जनावा ॥

पर यह बुनियादी बात हमें कोई क्यों बताता ? जिस आधुनिक राज व्यवस्था में हम थे, और इसी के उत्तराधिकार में जो आज हम हैं, इसका लक्ष्य ही यही है कि हमें अपना कुछ भी याद न रह जाए । अपनी कोई स्मृति न रहे । इतना ही नहीं स्मृतियों का दमन भी किया गया । पारसी थियेटर से लेकर आज तक का तथाकथित आधुनिक भारतीय थियेटर हमारी अपनी ही भूमि रंगभूमि की स्मृतियों को जिन्दा दफनाने का ही क्रमिक विधिवत प्रयास है । उसी प्रयास का कर्म फल हमारे सामने है । ऐसा कर्मफल जहाँ "मंच" यानी थियेटर ने अपनी सारी सम्भावार्थें ही चुका ली हैं ।^१

इसी संदर्भ में यह द्रष्टव्य है कि अंग्रेजों द्वारा राजनीति में जो समन्वय नीति अपनाई गई उसका भारतीय संस्कृति पर विपरीत प्रभाव पड़ा । राजनीतिक स्तर पर भारतीयों की कमर तोड़ चुकने के बाद अंग्रेजों ने रंगमंच और रंगभूमि तथा नाटक और ड्रामा को जोड़कर दो संस्कृतियों का समन्वय चाहा था, जो वास्तव में असंभव था । इस समन्वय के पीछे अंग्रेजों का भारी प्रयोजन था जिसके भयंकर परिणाम भारतवर्ष ने भोगे हैं । अंग्रेजों की समन्वय नीति पर तथा उसके परिणामों पर नाटककार लाल ने गहरा व्यंग किया है । वे ये मानते हैं कि "पारसी थियेटर से लेकर तथाकथित आधुनिक भारतीय थियेटर हमारी अपनी कला भूमि रंगभूमि की स्मृतियों को जिन्दा दफनाने का क्रमिक विधिवत प्रयास समन्वय नीति का ही प्रतिफलन है ।"

यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब हमारे यहाँ "मंच" की अवधारणा ही नहीं तो हम अपनी संस्कृति के आत्मबोध के प्रकाश में "मंच" तले के अंधेरे से आच्छादित "भूमि" के शाश्वत आधार को क्यों नहीं जान पाए ? "रंगमंच" में केवल मंच ही तो थियेटर का अनुवाद हो सकता है । (वह भी केवल शाब्दिक अर्थ में विदेशी थियेटर का अनुवाद है) न जाने कैसे और क्यों "रंग" को हमने "मंच" के साथ जोड़े रखा, क्योंकि "मंच" के साथ जो "रंग" जुड़ा है वह "रंग" तो "थियेटर" की परिकल्पना में ही नहीं है और वह "रंग" "ड्रामा" में भी संबन्ध नहीं है । फिर क्यों नहीं हम अब तक भूमि के सनातन रंगों को परिकल्पना में ला सके । इस प्रसंग में नाटककार लाल की यह मान्यता कि अंग्रेजी

१. छाया नट—"उनके मंच से अपनी रंगभूमि पर", अंक ३६ : जनवरी—
मार्च ८६ (उत्तर प्रदेश संगीत अकादमी, लखनऊ)

राज व्यवस्था का पूर्णतः सत्य है । यह अपना कुछ याद न उन्हीं का प्रभाव हो "ड्रामा" और "थियेटर" नहीं और दमित स्मृतियों का पारदर्शी तथ्यों का हमारे अवचेतन की स्मृति "थियेटर" के सो सवा सो में ही रंगबोध की जोड़ देने के संकेत दे नृत्य अथवा अभिनय "भूमि" में रंग उभर लिये पश्चिम के "ड्रामा" अथवा "अवर्तीय" प्रतीय नाट्य में प्रकाश प्रतीक है । यह लाल

रंग के दूसरे अथवा "उल्लास" अथवा "उल्लास" के रंग का मेल हो ज लेना । एक विशिष्ट के रंग से मिलकर एक परस्पर अनुकूलता से पर अभिनेता के प्रवेश नुकृतिर्नाट्यम" के अनुकृति और नाट्य है उस दशा से जिसमें हैं । अनुकृति का अर्थ के समानान्तर एक कृ पुरी अवस्था की है जो संस्कृतियों के बुनियादी लाल की नाट्य लाल—६

ससे भूमि रंगभूमि हो गयी

I I
II

स आधुनिक राज व्यवस्था
इसका लक्ष्य ही यही है कि
ति न रहे। इतना ही नहीं
लेकर आज तक का तथा-
भूमि रंगभूमि की स्मृतियों
उसी प्रयास का कर्म पल
थियेटर ने अपनी सारी

नीति में जो समन्वय नीति
पड़ा। राजनीतिक स्तर
रंगमंच और रंगभूमि तथा
य चाह था जो वास्तव
गरी प्रयोजन था जिसके
व्यव नीति पर तथा उसके
ये मानते हैं कि "पारसी
हमारी अपनी कला भूमि
व्यव प्रयास समन्वय नीति

"मंच" की अवधारणा है
में "मंच" तले के अंधेरे
जान पाए? "रंगमंच
(वह भी केवल शाब्दिक
र क्यों "रंग" को हमने
तो "रंग" जुड़ा है वह
र वह "रंग" "ड्रामा"
के मनातन रंगों को
यह मान्यता कि अंग्रेजी

अंक ३६ : जनवरी—

जिससे भूमि रंगभूमि हो गयी

१२६

राज व्यवस्था का मुख्य लक्ष्य हमारे समस्त स्मृति अवशेषों को मिटा देना था, पूर्णतः सत्य है। यह सत्य है कि अंग्रेजों द्वारा भरसक प्रयत्न किया गया कि हमें अपना कुछ याद न रहे और हमारे प्रत्येक रचना कर्म में उन्हीं की प्रेरणा हो, उन्हीं का प्रभाव हो। इसी के परिणाम स्वरूप हम अपनी "भूमि" से कटकर "ड्रामा" और "थियेटर" की जमीन पर चले गए। वस्तुतः स्मृतियाँ कभी दबती नहीं और दमित स्मृतियाँ तो कालान्तर में पूर्ण प्रखरता के साथ प्रत्यक्ष होकर पारदर्शी तथ्यों का अवलोकन कराती हैं। इसीलिए "रंगमंच" में जो "रंग" हमारे अवचेतन की चेतना के कारण जुड़ा रह गया था वह "ड्रामा" और "थियेटर" के सौ सवा सौ वर्षों के समय में भी हमें कभी नहीं भूला। स्मृति अवशेषों में ही रंगबोध की अनिवार्य आवश्यकता रंग को अपने अनिवार्य तत्त्व भूमि से जोड़ देने के संकेत दे रही है। "रंग" का एक शाब्दिक अर्थ है वह स्थान जहाँ नृत्य अथवा अभिनय होता है तथा दूसरा अर्थ क्रीड़ा अथवा आनन्द उत्सव है। "भूमि" में रंग उभरने से तात्पर्य किसी अभिनेता के प्रवेश का संकेत है जिसके लिये पश्चिम के "ड्रामा" में "एण्ट्री" शब्द है और हमारे नाट्य में "अवतरित" अथवा "अवर्तीय" शब्द है। विशिष्ट "भूमि" पर अभिनेता का अवतरण भारतीय नाट्य में प्रकाश के साथ प्रवेश है जो अंधेरे में घुप सत्य के अवतरण का प्रतीक है। यह लाल की रंगदृष्टि का प्रथम आयाम है।

रंग के दूसरे आयाम के अन्तर्गत लाल की दृष्टि है — "आनन्द-उत्सव" अथवा "उल्लास" और उत्साह से तात्पर्य एक सहकर्मी के रंग से दूसरे सहकर्मी के रंग का मेल हो जाना अथवा एक के रंग के द्वारा दूसरे को अपने रंग में रंग लेना। एक विशिष्ट भूमि पर अभिनेता समाज का रंग (अभिनय) वृहतर समाज के रंग से मिलकर एक नवीन रंग को उद्भासित करता है। एक दूसरे के प्रति परस्पर अनुकूलता से ही वास्तविक रंग की निष्पत्ति होती है। विशिष्ट "भूमि" पर अभिनेता के प्रवेश के स्तर पर उसके व्यक्तित्व और कृतित्व को "अवस्थानुकृतिर्नाट्यम" के उदाहरण द्वारा विशेष प्रकाश में देखा जाने से है। अवस्था, अनुकृति और नाट्य का योग "अवस्थानुकृतिर्नाट्यम" में है। अवस्था से तात्पर्य है उस दशा से जिसमें काल, दशा, क्रम अन्तः और बाह्य पुरी स्थितियाँ सम्मिलित हैं। अनुकृति का अर्थ नकल न होकर समान आचरण से है, अर्थात् सत्य या तथ्य के समानान्तर एक कृति। भारतीय नाट्य में अनुकृति, भाव विशेष की न होकर पूरी अवस्था की है जो अनुकृति को "इमिटेशन" से अलग करता हुआ दो भिन्न संस्कृतियों के बुनियादी अंतर को दर्शाता है।

लाल की नाट्य दृष्टि के तीसरे आयाम में—रंग स्तर पर "भूमि" शब्द का लाल—

विशेष महत्त्व है। भूमि शब्द "भू" धातु से बना है जिसका अर्थ है, "उदय होना" नाट्य के संदर्भ में रंग स्तर पर इसका तात्पर्य है "बह होना जो पहले नहीं था। किसी विशेष प्रक्रिया मात्र को भी "भू" कहते हैं। विशेष प्रक्रिया के फलस्वरूप विशिष्ट निमित्ती को धारण करने की क्षमता से परिपूर्ण जो स्थल है वह भूमि है। "भू" में "मि" प्रत्यय लगने के बाद "भूमि" वह विशेष स्थल है जो किसी विशेष निर्माण प्रक्रिया के बाद बनकर तैयार होता है। हमारी नाट्य परंपरा में कोई नाटक भूमि रहित नहीं है। भूमि का तभी उसकी भूमिका थी। कालिदास रचित "अभिज्ञान शाकुन्तल" में स्थल के भूमि-निर्माण की प्रक्रिया ही नांदी पूजा है। हमारी संस्कृति में भूमि पूरे विराट का आधार है और समस्त प्रजनन, सृजन की अधिष्ठात्री है। इसीलिये हमारे यहाँ मंच की अवधारणा न होकर भूमि की अवधारणा है और भूमि को हमने माँ माना है और पूजा का विधान किया है। कोई उत्सव, पर्व अथवा धार्मिक अनुष्ठान के दौरान ऐसा उद्घोष अवश्य किया जाता है कि "भूमि मेरी माता है, मैं भूमि पुत्र हूँ।" इस प्रकार हमारी सांस्कृतिक चेतना का मूल तत्व भूमि ही है। यही समाज की विधायिका शक्ति है।'

लाल की रंगदृष्टि के अनुसार कला के स्तर पर रंगभूमि शब्द का ही प्रयोग हमारी संस्कृति में हुआ है। नाट्य की दृष्टि से भूमि का एक विशेष अर्थ वह स्थान है जहाँ सबकी दृष्टि लगी हुई है और जिस भूमि पर हमारी आँखें केन्द्रित हों, विशिष्ट समय में वही हमारी रंगभूमि है और वही हमारा नाट्य। किसी पात्र विशेष की भूमिका में अभिनेता के प्रवेश अथवा अवतरण को देखने के लिये जहाँ हमारी आँखें केन्द्रित हैं उस स्थान, स्थल का देश-काल पूरे दर्शक समाज के लिए विशिष्ट अर्थवान हो जाता है। इस अर्थवत्ता में एक और महत्वपूर्ण तथ्य हमारे सामने उभरकर आता है और वह यह कि जिस स्थल पर इतनी अधिक दृष्टि केन्द्रित हो मानसिक धरातल पर श्रद्धा का समावेश हो जाता है और स्वभावतः वहाँ पर प्रस्तुत किया जा रहा सम्पूर्ण अभिनेय व्यवहार-क्रम विशिष्ट हो जाता है और हम अवचेतन के अंधेरे में छिपे प्रकाश में असामान्य ज्ञान की उपलब्धि करते हैं। भूमा अनुभूति का प्रत्यक्ष बोध ही तो रस-निष्पत्ति है जो सम्पूर्ण उत्साह और उत्साह का पर्याय है।

लाल का विश्वास है कि उत्साहदायिनी व उत्साहवर्धक उसी "भूमि" के रंग को आज हमें ग्रहण करना है। हमें जानना है आधुनिकतावादी पश्चिम के रंग ढंग को जिसने पहले तो भारत भूमि पर साम्राज्यवाद का झंडा फहराया और फिर "ड्रामा" और "थियेटर" को हम पर लादकर हमारे आत्मबोध के परि-

प्रेक्ष्य को लगातार छोटा कर उसी प्रक्रिया में पहले रंगभूमि गये। अपनी संस्कृति से भूमि जाता है। आज हमारी स्थिति ही हमारे "स्व" को पहचानने हमारी "भूमि" के रंग के लिए प्रक्रिया को हमें रोकना होगा। भारतीय लोक से आलोकित रंगभूमि के समुचित ज्ञानालोक में कदापि नहीं देख सकते। क्रम के अंधेरे में छिपे अव्यक्त, देखना है।

अपने स्वरूप को जाने बिना उलझकर हम नैसर्गिक पर्यावरण हैं। हमारे इसी नैसर्गिक पर्यावरण गहरी राजनीतिक चाल से "बात तो यह है कि स्वयं हम बाद भी हमारी सरकारी दृष्टि नाट्य से कभी रहन-सहन पहनावरी के गणतन्त्र दिवस की शार्क इम्पोरियम तक लोक को एक में इसी लोक को पैबन्द की तर उद्घोष के नारे भी लगाये गए अलग कर उसमें नायक अभिनेता स्वतः अपरिचित भीस्ता का परिचय वृत्ति है जो अंग्रेजों की समन्वय कला संरक्षण के अनुदान अथवा राजनीति ढाँचे के बन्धन में अनुसंधानिक संरक्षण के पोषण में सुगंधि और भोग में अनुभव की

अर्थ है, "उदय होना जो पहले विशेष प्रक्रिया के पूर्ण जो स्थल है विशेष स्थल है । हमारी नाट्य उसकी भूमिका र्माण की प्रक्रिया है और समस्त की अवधारणा न है और पूजा का दौरान ऐसा उद्-पुत्र है।" इस यही समाज की

वन्द का ही प्रयोग शेष अर्थ वह स्थान और्ध्व केन्द्रित हों, है। किसी पात्र खने के लिये जहाँ के समाज के लिए पूर्ण तथ्य हमारे ननी अधिक दृष्टि है और स्वभावतः विविष्ट हो जाता ज्ञान की उपलब्धि जो सम्पूर्ण उल्लास

उसी "भूमि" के तावादी पश्चिम के संडा फहराया और आत्मबोध के परि-

प्रेक्ष्य को लगातार छोटा करके आज रंगभूमि को भी अप्रासंगिक कर दिया है । उसी प्रक्रिया में पहले रंगभूमि से कट गये और फिर हम अपने आप से ही कट गये । अपनी संस्कृति से भूमिविहीन होते ही मनुष्य स्वधर्म से ही उच्छिन्न हो जाता है । आज हमारी स्थिति भूमिहीन की है । और आज रंगभूमि को अपनाता ही हमारे "स्व" को पहचानना है । हमें केवल उन्हीं तत्त्वों को स्वीकारना है जो हमारी "भूमि" के रंग के लिये हैं । उस भूमि की स्मृति के दफनाये जाने की प्रक्रिया को हमें रोकना होगा । अन्यथा भारतीय भूमि के शाश्वत रंगों में रंगे भारतीय लोक से आलोकित भारतवर्ष से हम कदापि नहीं परिचित हो पाएँगे । रंगभूमि के समुचित ज्ञानालोक के अभाव में हम प्रत्यक्ष ज्ञान को उसकी संपूर्णता में कदापि नहीं देख सकते । लोक राष्ट्र का अर्थ ही अभिज्ञान प्राप्ति है । काल-क्रम के अंधेरे में छिपे अव्यक्त, अदृश्य को भी जान लेना ही स्वयं को सम्पूर्णता में देखना है ।

अपने स्वरूप को जाने बिना पश्चिम के ड्रामा व थियेटर के माध्यमों में उलझकर हम नैसर्गिक पर्यावरण से भयंकर अलगाव की स्थिति में पहुँच सकते हैं । हमारे इसी नैसर्गिक पर्यावरण के लोक को भारत की अंग्रेजी सरकार ने गहरी राजनीतिक चाल से "लोक" मान कर घटिया दर्जा दिया । आश्चर्य की बात तो यह है कि स्वयं हम अपने स्व को भूल गए । तभी तो "स्वतन्त्रता के बाद भी हमारी सरकारी दृष्टि ने लोक को कभी संगीत से, कभी नृत्य से, कभी नाट्य से कभी रहन-सहन पहनावे वगैरा से मिलाकर उसे एक ओर छब्बीस जन-बरी के गणतन्त्र दिवस की झाँकी से जोड़ दिया, दूसरी ओर अकादमियों से लेकर इम्पोरियम तक लोक को एक "माल" के रूप में देखा गया ।" १ नाट्य प्रदर्शनों में इसी लोक को पैबन्द की तरह टाँककर "लोकनाट्य की परम्परागत खोज के उद्बोध के नारे भी लगाये गए हैं । लोक को स्वभावतः नैसर्गिक पर्यावरण से अलग कर उसमें नायक अभिनेता के लादे गए कर्म के प्रत्यारोपण की दृश्य प्रपंचता स्वतः अपरिचित भीरुता का परिचायक है । यह लोक की प्रतिभा की ऐसी संहारक वृत्ति है जो अंग्रेजों की समन्वय नीति के समान हानिकारक है । क्योंकि "लोक" कला संरक्षण के अनुदान अथवा अभाव में सार्में नहीं लेती और न ही कलाकार राजनीति ढाँचे के बन्धन में अनुबन्धित है । भारतीय लोक कला राजकीय अथवा संवैधानिक संरक्षण के पोषण में पलने की आदी नहीं है । वह तो स्वतः फल में सुगंधि और भोग में अनुभव की भाँति प्राकृतिक वातावरण में फूट पड़ती है ।

१. छायाचित्र—अंक-३८ "लोकः यास्यां विना न पश्यन्ति—लाल

लोक के इस पौधे के लिये अपनी भूमि की गहराइयों की पतों की खुराक बहुत पीण्टिक है और उसे देशी अथवा विदेशी फर्टिलाइजर की कतई आवश्यकता नहीं है ।

लाल की नाट्य चेतनानुसार नाट्य सृष्टि के बीज अपनी चित्त भूमि में ही संभव है । अदृश्य जब दृश्यगत होता है, सूक्ष्म जब रूप ग्रहण कर लेता है तो अंधेरे में या और जो अब "लौकने" लगा हो उसको जानना ही स्वयं को सम्पूर्णता में देखना है । उसी लोक को हमें श्रद्धा और विश्वास के रंग में रंग कर देखना है । इसके पूर्व श्रद्धा और विश्वास अर्थात् आस्था के साथ पूज्य भावसहित हम अपने "रंग" की "भूमि" और अपनी भूमि के रंग को जान सकते हैं । पहचान सकते हैं । "भूमि" के रंग को जाने बिना "स्व" को पहचान संभव नहीं । और मनोमय भूमि के अभूतपूर्व रंगों से हम कभी परिचित नहीं हो सकते । हमारी सनातन नाट्य निर्माण प्रक्रिया की भूमिका विशिष्ट भूमिकाओं की भूमि के रंग दर्शाने में पूर्णरूपेण समर्थ है । एक ओर हम जहाँ आनन्द रस से परिपूर्ण मंगलमय नाटक की भूमि का निर्माण करते हैं तो दूसरी ओर दर्शक की मनोमय भूमि का निर्माण होता है । "रंगभूमि" के "रंगों" की छटा दर्शक को नाट्य कलाकारों के अभिनय के माध्यम से (अवस्था विशेष की अनुकृति, जिसका सतकर्म) अनुभव से परे आनन्दपूरित उस अभूतपूर्व स्थिति में ले जाने में पूर्ण सक्षम है जहाँ वह अविद्यमान के अस्तित्व का निर्भीक स्वामी स्वयं हो जाता है । हम वर्तमान में रहते और वर्तमान को जीते हुए भी सनातनता के भाव में प्रविष्ट हो जाते हैं क्योंकि हमारे यहाँ अखण्ड काल और अखण्ड सृष्टि बोध है । जीवन की जहाँ संवेदनापूर्ण अनुभूति का अस्तित्व नहीं है, लेकिन "रंगभूमि" की "भूमि" पर अभिनय के माध्यम से वहाँ कलाकार का अनुभूत अभिनय दर्शक में अनुभूति के नवीन द्वार खोलता है । यह बात भारतीय दर्शक के सम्बन्ध में बुनियादी तौर पर सही बैठती है, क्योंकि हमारे दर्शक का मन प्राण "रंग" का है । यह मनोमय चित्त की उस "भूमि" का रंग है, जहाँ अवचेतन चेतन हो जाता है, क्योंकि जीवन, तथ्यों की ऊपरी सतह मात्र न होकर एक विराट दृश्य है जहाँ सुकुमार के सुकुमार बिन्दु भी उसमें अन्तर्निहित है ।

यह है लक्ष्मीनारायण लाल की रंगभूमि चेतना का सार तत्त्व । भारतीय नाट्य कला के प्रति जिस तरह निष्ठावान हैं, वह देश और समाज के प्रति उनकी महत् देन है । उनके सम्पर्क में आकर आधुनिक हिन्दी नाटक की कठोर भूमि रंगभूमि हो गयी, यह नाटककार, रंगचिंतक लाल की प्रतिभा की उर्वरता का अनुपम फल है ।

अपने शोध प्रबंध "युगबोध" पर कार्य कर वैशिष्ट्य तथा खण्ड-आस्था ने मुझे विशेष गंभीरतापूर्वक विचार इन्हीं क्षणों ने मेरा ध्यान के पूर्व रंग की सही जकार लाल से ही उनके मेरा परम सोभाय्य है लाल द्वारा व्यक्त विचार रंग से सम्बन्धित लाल व्यंजित देश काल की सकारण का निर्देश करती है और के लिए शोध के विभिन्न पूर्व रंग से सम्बन्धित प्रयास है ।

कुमार अवस्था के बार सन १९४६ में इल आश्चर्य और साथ ही तो खेलने की चीज है, नाम पर, वह भी वर्ष में सर पर जब कुछ खेला ऐसे एकांकी, जिसमें बोल लाल का कुमार हद

भूमि रंगभूमि हो गयी

पत्तों की खुराक बहुत
कतई आवश्यकता नहीं

चित्त भूमि में ही संभव
र लेता है तो अंधेरे में
स्वयं को सम्पूर्णता में
में रंग कर देखना है।

य भावसहित हम अपने
कते हैं। पहचान सकते

संभव नहीं। और मनो-

सकते। हमारी सनातन

भूमि के रंग दशनि में

असिपूर्ण मंगलमय नाटक

मनोमय भूमि का निर्माण

अथ कलाकारों के अभि-

सतकर्म) अनुभव से परे

है जहाँ वह अविद्यमान

वर्तमान में रहते और

तो जाते हैं क्योंकि हमारे

जहाँ संवेदनापूर्ण अनु-

पर अभिनय के माध्यम

के तबीन द्वार खोलता

तौर पर सही बैठती है,

मनोमय चित्त की उस

योंकि जीवन, तथ्यों की

र के सुकुमार बिन्दु भी

सार तत्त्व। भारतीय

श और समाज के प्रति

हिन्दी नाटक की कठोर

की प्रतिभा की उर्वरता

“ऑसू” से “भूमि” तक

डॉ० माया गुप्त

अपने शोध प्रबंध “डॉक्टर लक्ष्मीनारायण लाल के नाटकों में—अन्तःस्थूत युगबोध” पर कार्य करते हुए नाटकों के समीक्षात्मक अध्ययन के दौरान कथ्य के वैशिष्ट्य तथा खण्ड-खण्ड होते जीवन मूल्यों के प्रति लेखक की तटस्थ जीवन आस्था ने मुझे विशेष रूप से प्रभावित किया। यही नहीं कतिपय तथ्यों पर गंभीरतापूर्वक विचार करने पर भी मैंने स्वयं को विवश पाया। विवशता के इन्हीं क्षणों ने मेरा ध्यान नाटकों के तथ्य के परिरूप की ओर खींचा। नाटकों के पूर्व रंग की सही जानकारी का संतोषजनक अन्य साधन न पाकर मैंने नाटक-कार लाल से ही उनके नाटकों के परिरूप को जानने का निश्चय किया। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मैं अपने इस प्रयास में पूर्णतः सफल हुई और स्वयं लाल द्वारा व्यक्त विचारों को समझ पाने में समर्थ भी रही। नाटकों के पूर्व रंग से सम्बन्धित लाल के विचारों की यह जानकारी उनके नाटकों में अभिव्यंजित देश काल की सनातनता को पत्तों को फिर से उघाड़ कर पुनः अवलोकन का निर्देश करती है और उनके नाट्य साहित्य के अध्ययन में संलग्न शोधकर्तियों के लिए शोध के विभिन्न अछूते, अज्ञाने आयाम भी खोलती है। नाटकों के उसी पूर्व रंग से सम्बन्धित लाल के विचारों को शब्दबद्ध करने का मेरा यह विनम्र प्रयास है।

कुमार अवस्था के लाल, अपने लोक कला अंचल से भाव भरे जब पहली बार सन १९४६ में इलाहाबाद शहर आए, तब उन्हें जिस वस्तु से सबसे अधिक आश्चर्य और साथ ही जिज्ञासा हुई, वह नाटक ही था। आश्चर्य यह कि नाटक तो खेलने की चीज है, उसे सिर्फ पढ़ाया क्यों जाता है? दूसरे, जब नाटक के नाम पर, वह भी वर्ष में केवल एक बार, वह भी दीक्षान्त समारोह के ही अवसर पर जब कुछ खेला जाता है, तब एकांकी नाटक ही क्यों? तीसरे वह भी ऐसे एकांकी, जिसमें बोलने के अलावा न करने को, न कुछ खेलने को।

लाल का कुमार हृदय और बुद्धि, नाट्य दृश्य की सच्चाई की खोज कर रहा

था। जिसका अतापता उसे स्वयं भी न था। पर प्रश्न था कि खोले जाने वाले नाटकों में केवल बात कही जा रही थी, उसमें कोई दृश्य नहीं होता था जो आँख को आनंदित कर दे, जो शब्दातीत हो जाए। सच है, जब शब्द रूप धारण करके हृदय को सामने लाकर उपस्थित कर दे तभी तो रूपक का स्वरूप हमारे सामने आ पाता है। अर्थात् ‘जब दृश्य रूप धारण कर ले तभी तो रूपक होता है!’ उसी रूपक की तलाश लाल के अन्तश्चेतन को थी। दूसरी बात जो लाल को खटकती, वह थी अपनेपन का अभाव, अर्थात् जो कुछ भी कहा जा रहा था वह भी अपना नहीं था, न शिल्प अपना था न भाव अपना न अपना जीवन।

मुझे आभास होता है कि लाल ने अपने प्रथम एकांकी ‘ताजमहल के आँसू’ के माध्यम के इन सब चीजों पर आँसू ही बहाया है। इस ‘आँसू’ में लाल की भावी नाट्य रचना का ऐतिहासिक व्यक्ति वर्तमान और वर्तमान का व्यक्ति है— प्रिया से बिछड़ा हुआ व्यक्ति है, पथ से बिछड़ा हुआ मानव है। अतीत से दूट गया है आज वर्तमान। यही “मार्डन इंडिया” है। हम यह भी कह सकते हैं कि “मार्डन इंडिया” विरह की दुनिया है, जिसमें विरह की छटपटाहट है। ऐसा लाल मानते हैं। इसी के साथ उत्तरोत्तर दूसरी ओर नाट्य लेखन, नाट्य प्रस्तुति को लेकर ‘रंग कर्म, रूप विद्या संगीत और आलोक से सम्बन्धित न जाने कितनी तरह के सवाल लाल के मन में उठ रहे थे। अब तक जितना भी नाट्य साहित्य पढ़ा था उन नाटकों में कहीं भी भारतीय नाटक और भारतीय रंग लाल को दृष्टिगत न हुआ। एक ओर भारतेंदु ने संस्कृत नाट्य के उदाहरण मात्र लाकर रखे तो दूसरी ओर ‘प्रसाद’ ने ड्रामा और नाटक थियेटर और रंगमंच का समन्वय करना चाहा। हो सकता है ये भारतीय राजनीति में अपनाई जा रही अंग्रेजों की समन्वय नीति का प्रभाव हो। काशी के रहने वाले “प्रसाद” के मन में जो उपनिषदों और बौद्ध दर्शन के ज्ञाता थे, दो सर्वथा विभिन्न संस्कृतियों के समन्वय की भ्रांति को, लाल दुर्भाग्य पूर्ण घटना मानते हैं। क्योंकि पाश्चात्य और भारतीय इन दो संस्कृतियों का समन्वय असंभव था।

दूसरी ओर पाठ्यक्रम में निर्धारित उदयशंकर भट्ट और लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों ने भी जिन पर ऊपर ही समस्या नाटक लिखा रहता था, लाल के हृदय को कम क्षोभ से नहीं भरा। क्योंकि “प्रोबलम प्ले” अथवा “थीसिस प्ले” तो पश्चिम की परंपरा रही है। हमारे यहाँ समस्या नाटक की कोई परंपरा नहीं है। हर स्तर पर शहरी रंगमंच का बनावटीपन उन्हें बेहद खला। और नाटक के लिए सहज प्राकृतिक वातावरण, रंग अपना, काव्य तत्व की आवश्यकता को लेकर कितने ही प्रश्नों ने जहाँ एक ओर लाल को अपनी रंगभूमि—तत्वों

से जोड़ा, वहीं दूसरी ओर के नाट्य से भी जोड़ दिया का परिणाम था, इलाहाबाद के युवा रंगकर्मी कितने ही रंग प्रकार और गत नाट्य संस्थाओं से भिन्नकरण के अलावा विभिन्न न थे। इस अर्थ में लाल नाट्य

नाट्य में समन्वयवादी के स्वरूप की पहचान ने लाल यह कार्य साधारण कार्य बिना ध्यान रहे, अपनी रचना सम्पूर्ण नाटक “अंधा कुआँ” कठिन है कि ग्राम जीवन के समय (१९५३-५४) वैसा ऐसोसिएशन” (थी ए) गाँव का चरित्र या तो नीला का विषय होता था।

ऐसी विषयमत्तापूर्ण परिभाषा “अंधा कुआँ” जैसे रंग प्रतीक है, महाकाव्य के जो गुण नाटक दृश्य भी है और समन्वय की धारणा का रचने के प्रतीक में स्त्री को भारतीय लोक का परिचायक कि ‘ड्रामा’ में ऋणा होता है। जबकि हमारे कथ्य का विषय भी उन्होंने प्रकृति, एक मुर तो दूसरी लाल के भीतर कार्यरत थे लाल भारतीय दर्शक को कहीं उसका बोध कराया जा

“आँसू” से “भूमि” तक

प्रश्न था कि खोले जाने वाले कोई दृश्य नहीं होता था जो आँख तक है, जब शब्द रूप धारण करके रूपक का स्वरूप हमारे सामने तभी तो रूपक होता है। उसी दूसरी बात जो लाल को खटकी, कहा जा रहा था वह भी अपना अपना जीवन।

एकांकी 'ताजमहल के आँसू' के इस 'आँसू' में लाल की भावी वर्तमान का व्यक्ति है- प्रिया मानव है। अतीत से दूट गया है यह भी कह सकते हैं कि "मार्डन की छटपटाहट है। ऐसा लाल और नाट्य लेखन, नाट्य प्रस्तुति आलोक से सम्बन्धित न जाने थे। अब तक जितना भी नाट्य भारतीय नाटक और भारतीय रंग संस्कृत नाट्य के उदाहरण मात्र नाटक थियेटर और रंगमंच कीय राजनीति में अपनाई जा रही के रहने वाले "प्रसाद" के मन को सर्वथा विभिन्न संस्कृतियों के मानते हैं। क्योंकि पाश्चात्य संभव था।

उर भट्ट और लक्ष्मीनारायण मिश्र नाटक लिखा रहता था, लाल के 'ब्लम प्ले' अथवा "थीसिस प्ले" समस्या नाटक की कोई परम्परा नहीं थी। और अपना, काव्य तत्व की आवश्यकता लाल को अपनी रंगभूमि—तत्वों

“आँसू” से “भूमि” तक

१३५

से जोड़ा, वही दूसरी ओर अभिनय, निर्देशन और लेखन के स्तरों पर उस समय के नाट्य से भी जोड़ दिया। और लाल की रंग भूमि वर्तमान से जुड़ गई। इसी का परिणाम था, इलाहाबाद में "नाट्य केन्द्र" की स्थापना, जहाँ लाल ने इलाहाबाद के युवा रंगकर्मियों को प्रशिक्षित, संस्कारित कर उनके माध्यम से कितने ही रंग प्रकार और नाटक से सम्बन्धित प्रयोग किये। यह संस्था परम्परागत नाट्य संस्थाओं से भिन्न था, क्योंकि यहाँ रंगकर्मी और नाटककार प्रस्तुतिकरण के अलावा विभिन्न नाट्यकला संबंधी विषयों पर चर्चा-परिचर्चा भी करते थे। इस अर्थ में लाल नाट्य केन्द्र संस्था के केन्द्र बिन्दु और प्रेरणा स्रोत थे।

नाट्य में समन्वयवादी भावना को रद्द कर देने के बाद अपने हिन्दी नाट्य के स्वरूप की पहचान ने लाल को अपने ढंग से काम करने की प्रेरणा प्रदान की। यह कार्य साधारण कार्य बिल्कुल नहीं था।

ध्यान रहे, अपनी रचनात्मक हिम्मत, लाल इससे पहले ही अपने प्रथम सम्पूर्ण नाटक "अंधा कुआँ" में दिखा चुके थे। आज यह कल्पना भी करना कठिन है कि ग्राम जीवन की कथा वस्तु, पात्र और लोकतत्व के आधार पर उस समय (१९५३-५४) वैसा सम्पूर्ण नाटक लिखा जाता और 'इलाहाबाद आर्टिस्ट एसोसिएशन' (थी ए) द्वारा उस स्तर पर प्रस्तुत होता। क्योंकि उस समय गाँव का चरित्र या तो नौकर की भूमिका में आता था या ग्राम जीवन प्रहसन का विषय होता था।

ऐसी विषमतापूर्ण परिस्थितियों में लाल ने हिन्दी नाट्य क्षेत्र में पहली बार "अंधा कुआँ" जैसे रंग प्रतीक की कल्पना की। नाटक की असली शक्ति काव्य है, महाकाव्य के जो गुण हैं वही नाटक के भी हैं, ऐसी लाल की मान्यता है। नाटक दृश्य भी है और श्रव्य भी है। इसी प्रतिमान पर ड्रामा और नाटक के समन्वय की धारणा को रचना स्तर पर लाल ने गलत सिद्ध किया। "अंधा कुआँ" के प्रतीक में स्त्री को भारते में जिस करुणा का सन्निवेश लाल ने किया, वह भारतीय लोक का परिचायक है। दूसरी ओर यह प्रतिपादन भी उन्होंने किया कि 'ड्रामा' में करुणा होती ही नहीं। वहाँ मात्र एक हीरो होता है, एक 'विलेन' होता है। जबकि हमारे यहाँ 'विलेन' की कोई कल्पना ही नहीं है। नाटक के कथ्य का विषय भी उन्होंने स्त्री-पुरुष की शक्ति को बनाया। एक पुरुष, एक प्रकृति, एक सुर तो दूसरी ताल, ये सारे बोध प्रथम पूर्णाकार कृति के सृजन में लाल के भीतर कार्यरत थे। करुणा के यथार्थ में ही वर्तमान है, उसी का बोध लाल भारतीय दर्शक को कराना चाहते थे। यथार्थ को दिखाना तो संभव नहीं, हाँ उसका बोध कराया जाना ही संभव है। यथार्थ के इसी बोध की भावना ने

लेखक के साथ-साथ लाल को अभिनेता और निर्देशक और नाट्य चिंतक बनाना शुरू किया।

उसी काल चरण में “मादा कैक्टस” का सृजन लाल के नाट्य जीवन में नए मोड़ और नए प्रयोग का द्योतक है। पहली बार लाल ने समकालीन नाटक और रंगमंच में व्याप्त कथोपकथन शैली को नकारा। पहली बार नाटक में एक पात्र ने प्रेक्षकों को सम्बोधित किया और पहली बार प्रतीक, नाटक के कथ्य में कैक्टस के माध्यम से उतरा। अब गाँव और शहर दोनों का बोध साथ-साथ चल रहा था। रंग तत्व एकत्रित करने का ढंग भी अनूठा था। पृष्ठ भूमि में बज रहा नगाड़ा, गाँव में दर्शक इकट्ठा किए जाने के बोध से प्रेरित है, लेकिन शहरी परिवेश में यह नगाड़ा विभिन्न बोध का प्रतीक है। सबसे पहला बोध तो स्त्री के बिकने का है, जिसके लिए नगाड़ा बजाया जा रहा है। दूसरा बोध मादा कैक्टस के प्रतीक का है। नर और मादा की कल्पना का बोध उपहासपूर्ण जीवन की ओर संकेत करता है। चिड़िया मादा हो सकती है, लेकिन स्त्री मादा कैसे हो सकती है? इंसान नर-मादा नहीं हो सकता। स्त्री तो सम्पूर्ण है, उसमें नर भी है, नारी भी। जितना वह सृजन कर रही है, उतनी स्त्री है और जितना कर्म कर रही है उतना वह नर है। भारतीय चेतना में स्त्री पुरुष दोनों हैं, इसीलिए हमारे यहाँ अर्धनारीश्वर की कल्पना की गई है। कथ्य की गहनता में एक बोध यह भी है।

लाल ने भारत के अन्य प्रान्तों के रंगमंचों से गहरा परिचय प्राप्त करने के प्रयास को जारी रखा। उम समय खासकर मराठी और बंगला रंगमंच काफी हद तक अपने पारंपरिक नाट्य को अपने आप में आत्मसात किए हुए थे। बंगला रंगमंच के रंगकर्मियों से घनिष्ठ परिचय तथा मराठी नाटकों के प्रभाव ने लाल को एक नई दिशा की ओर उन्मुख किया। पश्चिमी रंगमंच ने भी लाल को आकृष्ट किया। लेकिन एक बात स्पष्ट थी कि लाल को पश्चिम का नाटक केवल पश्चिम की वस्तु लगी। उसमें उन्हें कुछ भी ऐसा विशेष नहीं मिला, जो अपने लिए महत्वपूर्ण सिद्ध हो। हाँ, पश्चिम के नाटक और थियेटर में अनुशासन और कला संयम थे—तत्त्व इन्हें बहुमूल्य लगे।

नाट्य केन्द्र के दिनों के “सुन्दर रस” नाटक में लाल के नाटककार ने नौ रसों के अतिरिक्त दसवें रस “सुन्दर रस” का परिचय दिया। लाल मानते हैं, हमारे यहाँ हर रस सुन्दर है तभी तो वीभत्स भी रस है। नाटक में अभिव्यक्त भाव वस्तुतः कच्चा माल है जिसका प्रदर्शन पश्चिम के ड्रामा में यथार्थवाद के नाम पर ज्यों का त्यों कर दिया जाता है। लेकिन हमारे यहाँ अभिनय द्वारा इस

कच्चे माल को प
को रस में बदल
लाल ने नाटक
वह अपने स्वल्प
की या शरीर की

नाट्य केन्द्र
पश्चिमी सभ्यता
पति आधुनिक है
लाल की “रात
कल्पना में उन्हों
है जो न केवल
सुगंधित भी क
लगातार युद्ध है
जा सकती। वि
भारतीय चरित्र

“दर्पन”
का निषेध करते
से उत्पन्न गलत
परम्पराओं से
जीवन जिया ज
धारा में इबक
की गतिशीलता
लाल के न
इन नाटकों में
के अर्थों के कुछ
सहायता मिलते

दिल्ली का
हुई। इस दो
पूराने सभी ना
इस काल

कच्चे माल को पकाकर रस में परिवर्तित कर दिया जाता है। एक ओर हम भाव को रस में बदलते हैं तो दूसरी ओर हम आशा और सुंदरता का बोध देते हैं। लाल ने नाटक को ही "सुंदर रस" माना है। नाटक सुंदर इसलिए है क्योंकि वह अपने स्वरूप में प्रस्तुत है। नाटक के कथ्य में भी सुंदरता से तात्पर्य चेहरे की या शरीर की सुंदरता न होकर आचरण की सुंदरता से है।

नाट्य केन्द्र के दिनों का दूसरा नाटक "रातरानी" में नाटककार लाल ने पश्चिमी सभ्यता के विरुद्ध युद्ध शुरू किया। पश्चिमी सभ्यता में ढला कुंतल का पति आधुनिक है, जो कुंतल में छिपी भारतीय नारी के दर्द को समझ नहीं पाता लाल की "रातरानी" डाल्स हाउस की हीरोइन नहीं है। नारी के चरित्र की कल्पना में उन्होंने देवी शक्ति की कल्पना की है और फिर रातरानी तो एक सुगंध है जो न केवल प्रकृति के वातावरण से जुड़ी है, बल्कि वह पूरे वातावरण को सुगंधित भी कर रही है। एक धरातल पर लाल का पुरा नाट्य सर्जन पश्चिम से लगातार युद्ध है। पश्चिम की सभ्यता, भारत की सभ्यता-संस्कृत पर लादी नहीं जा सकती। विभिन्न सभ्यताओं के विभिन्न स्वरूपों पर प्रकाश डालकर लाल ने भारतीय चरित्र बोध के सत्य को प्रतिष्ठित किया है।

"दर्पन" नाटक संसार को असत्य मानकर मानवीय भावनाओं एवं स्वप्नों का निषेध करने वाले धर्मों एवं दर्शनों के समक्ष एक प्रश्नचिह्न है। अन्धविश्वास से उत्पन्न गलत कर्मकांड का "दर्पन" में चेहरा दिखाया गया है। हमारे यहाँ परम्पराओं से चले आ रहे गलत कर्मकांड किसी अर्थ में अन्धकार का रूप है। जीवन जिया जाता है जगत में रहकर। नदी की तरह प्रवाहित होने वाली जीवन धारा में डूबकर ही रोम-रोम से जीवन को तरलता, जीवन के प्रवाह, जीवन की गतिशीलता का अनुभव किया जा सकता है।

लाल के नारीत्व बोध के नाटक सामाजिक बोध से भी साथ-साथ जुड़े हैं। इन नाटकों में लाल ने परम्परा और समसामयिकता से एक साथ जुड़कर जीवन के अर्थों के कुछ ऐसे अवगुंठन खोले हैं जिनसे जीवन के सहज भाव को समझने में सहायता मिलती है।

दिल्ली काल १९६५ में लाल द्वारा "संवाद" नामक नाट्य संस्था स्थापित हुई। इस दौरान लाल ने अत्यधिक महत्वपूर्ण नाटक लिखे और साथ-साथ नए पुराने सभी नाटक पूरे देश में विभिन्न नाट्य संस्थाओं के माध्यम से खेले जाने लगे। इस काल की महत्वपूर्ण नाट्य कृतियाँ हैं, "कलंकी", "मिस्टर अभिमन्यु",

“करफ्यू”, “अब्दुल्ला दीवाना”, “सूर्यमुख”, “एकसत्य हरिश्चन्द्र”, और “व्यक्तिगत”। ये सारे नाटक बुनियादी तौर पर “संबंध बोध”, विषय की कृतिर्या हैं। संबंध, व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से, समाज से, व्यवस्था से, अतीत से, स्वयं से।

उदाहरण के लिए “व्यक्तिगत” में दाम्पत्य-जीवन के संबंधों की कथावस्तु है, जहाँ स्वार्थ के कोटर में बद्ध होकर हम “मैं” हो जाते हैं, सामाजिक से असामाजिक हो जाते हैं। “व्यक्तिगत का अर्थ है स्वविवेक से लिया गया निर्णय” लेकिन आज समस्याओं के बाहरी समाधान ढूँढ़कर आनन्द प्राप्ति की प्रवृत्ति ही प्रबल है, फलतः व्यक्तिगत जैसा यहाँ कुछ नहीं है। मानव, खंडित व्यक्तित्व जी रहा है और खंडित व्यक्तित्व जीने के कारण ही वह न खुद स्वतन्त्र हो पा रहा है, न औरों को स्वतन्त्र होने दे रहा है।

“करफ्यू” में बज रहे सायरन में विभिन्न प्रकार के करफ्यू का बोध है। पहला बोध तो आजादी की कथावस्तु का बोध है। अर्थात् भारतवर्ष द्वारा प्राप्त आजादी करफ्यू उठाये जाने वाले सायरन की ही भाँति है। वह केवल विदेशी राज्य के हट जाने का सायरन ही बजा था, करफ्यू के दौरान अनुबन्धित परिवेश के टूट जाने का करफ्यू नहीं टूटा। परिवेश का करफ्यू तो तोड़ा जाना बाकी है अभी। दूसरा विस्तृत बोध यह है कि वृहत्तर कालोनी होने का करफ्यू तो हम पर अभी भी लगा हुआ है। भारतवर्ष एक उपनिवेश मात्र बनकर रह गया है। वर्तमान भारतवर्ष अपनी आजादी के बावजूद उसी इंग्लैण्ड का सांस्कृतिक उपनिवेश बनकर आज किसी तरह साँसें ले रहा है। साँसें इसलिए कि सन १८३५ से लेकर आज तक जिस गुलामी और शोषण में भारतवर्ष रहा है उसमें अब नकल तक करने की शक्ति शेष नहीं रह गई। पश्चिमी प्रभाव के करफ्यू को हटाए जाने की आवश्यकता पर नाटककार लाल ने गहनतम अर्थ में बल दिया है। करफ्यू का एक ओर भी पहलू है—आदमी जब ‘कलोनियल’ होता है तो उसका दिमाग और आचरण भी ‘कलोनियल’ हो जाता है। वह हर चीज को छिपकर करना चाहता है। हर किसी की परिस्थिति से वह नाजायज लाभ उठाना चाहता है और उसका दुरुपयोग करना चाहता है।

“अब्दुला दीवाना” में लाल ने भारतीय चित्त की बेजोड़ कल्पना को है। “बेगानी शादी में अब्दुला दीवाना” एक प्रसिद्ध कहावत है। असली चीज यहाँ पर यह है कि यह अब्दुला दीवाना और कोई नहीं, भारत का चित्त है। हर किसी की शादी को अपनी शादी मान लेता है। यही नहीं, कहीं भी माना बजाना हो, शादी ब्याह में अनजाने ही वहाँ जा बैठता है और हर दूल्हे में, हर दूल्हन में

अपने आप का अर्थात् जीवन मरते नहीं हैं, है लाल ने “

लाल ने

हमारी शक्ति

विस्फोटक त

समसामयिक

मैंने बार-बार

ताकि वह अ

जीवन में उन

“नरसिंह क

लाल ने इति

“पुराण कथ

अपने समय

ने भोग की

व्यक्ति

अपनी भूमि

नाटककार त

ढूँढ़ा और प

पौराणिक व

आधुनिक से

के साथ सा

की परम्परा

यदि इस ध

जिस धरती

धरती से ब

है। सतयु

इस सत्य व

में उतरने

समानांतर

का अभूत

“आँसू” से “भूमि” तक

अपने आप का आरोपण कर बैठता है। और उसी अब्दुला की हत्या हो गई है, अर्थात् जीवन मूल्यों की हानि हो गई है। परन्तु वास्तव में जीवन मूल्य कभी मरते नहीं हैं, वे तो सनातन हैं। आत्मबोध की इसी चेतना को रंग दृश्य दिया है लाल ने “अब्दुला-दीवाना” में।

लाल ने इस तथ्य को प्रतिपादित किया है कि भारत का प्राचीन इतिहास हमारी शक्ति और दुर्बलता दोनों का दर्पण है। व्यक्ति के व्यक्तित्व में निहित विस्फोटक तत्वों का निरूपण करते हुए उन्होंने भारत के प्राचीन इतिहास को समसामयिक चरित्रों द्वारा दिखाने का सुन्दर प्रयास किया है। वह कहते हैं— मैंने बार-बार प्राचीन इतिहास का दर्पण अपने देशवासियों के सम्मुख रखा है ताकि वह अपने देश के अतीत को देखकर व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन में उन दुर्बलताओं को दूर करें जिन्होंने हमें पराधीनता के पाश में बाँधा। “नरसिंह कथा”, “एक सत्य हरिश्चन्द्र”, “कलंकी”, “यश प्रश्न”, आदि में लाल ने इतिहास और पुराण की नवीन व्याख्या की है। स्वयं लाल के अनुसार “पुराण कथा, पौराणिक पात्र, पुराण की घटनायें, हम लगातार भोग रहे हैं, अपने समय में, अपने अर्थों में। यहाँ पुराण तत्त्व जीवन तत्त्व हो गया है। लाल ने भोग की निरंतरता पर गंभीर रूप से दृष्टिपात किया है।

व्यक्ति के चरित्र के यथार्थ की साम्यता में परिवेश की विषमता ने फिर से अपनी भूमिका की अदायगी के औचित्य का प्रश्न हमसे किया है। मिथक में नाटककार लाल ने तत्कालीन परिस्थितियों के प्रभाव से उत्पन्न प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ा और पाठक तथा दर्शक को भी यह सोचने पर बाध्य किया है कि यह कैसी पौराणिक कथा है। ये कैसे पौराणिक पात्र हैं जिनमें जीवन कितने गहन और आधुनिक से आधुनिक संघर्षों, प्रश्नों के सार्थक संकेत हैं। इसीलिए एक युगीन सत्य के साथ सामाजिक समकालीन परिवेश का, दूसरा युगीन सत्य जुड़कर “हरिश्चन्द्र” की परम्परागत भूमि को बदल देता है। निरन्तर सपरिवार बिकने का पुरस्करण यदि इस धरती से प्रस्थान है तो वह समकालीन हरिश्चन्द्र को स्वीकार्य नहीं है। जिस धरती पर उसने एक अन्तहीन परीक्षा दी है उससे विच्छेद क्यों? स्वर्ग धरती से बड़ा आकर्षण नहीं। जीवन और मरण का सत्य इसी धरती पर सत्य है। सतयुग में सत्य सार्वभौम रहा होगा, परन्तु आज वह खंडित हो चुका है। इस सत्य का अपूर्व सत्यदर्शन समकालीन हरिश्चन्द्र को “हरिश्चन्द्र” की भूमिका में उतरने के बाद होता है। एक पौराणिक प्रसंग की मूल संवेदना को नाटकों में समानांतर रूप से नियोजित कर मिथक के माध्यम से लाल समसामयिक बोध का अभूतपूर्व निरूपण करने में पूर्ण रूप से सक्षम हैं।

इसके अतिरिक्त लाल ने प्रतीकों के माध्यम से समकालीन जीवन-विसंगतियों को भी भरपूर उभारने का सफल प्रयास किया है। भारतीय जन मानस के पश्चिम के प्रति मोह को तोड़कर नाटककार लाल ने उसे अपने प्राचीन से, परंपरा से, जमीन से जोड़ना चाहा है। पश्चिम के प्रति हमारा मोह हमें अपनी परम्परा से नहीं छुड़ने दे रहा है। हम यह सोचने पर बाध्य होते हैं कि हमारे जीवन में यह विसंगति क्यों उपजी? शायद इसलिए कि भारतीय चरित्र रखकर भी हम विदेशी भूमिका निबाहना चाहते हैं। चरित्र और भूमिका में सामंजस्य न हो पाने के कारण जीवन का पूर्ण नाटक ही जैसे अर्थहीन हो उठा है। आज की युवा पीढ़ी अर्थहीन जीवन संदर्भ से मुक्ति पाने के लिए छटपटा रही है लेकिन मुक्ति का ज्ञान उसमें नहीं है। अपनी ही संस्कृति को जीर्ण, पुरातन कहकर त्याग फेंकने वाले भारतीयों के पश्चिम के प्रति हो आये मोह को भंग करने का प्रयास करते हुए लाल ने जीवन की विसंगति में संगति के सुर छेड़ने का सफल प्रयास किया है।

“राम की लड़ाई”, “बलराम की तीर्थ यात्रा” और नवीनतम प्रकाशित नाटक “कथा विसर्जन”, लाल की आत्मप्राप्त रंगभूमि की विशिष्ट कृतियाँ हैं। लाल के शब्दों में—“हमारे यहाँ शिव नटराज है और कृष्ण नटवर”। ये दोनों इसलिए नटराज और नटवर हैं क्योंकि वे स्वयं अपने “स्वभाव” में हैं और हम सब को भाव से “स्वभाव” में ले आने के लिए सार्थक संकेत दे रहे हैं। इनकी “लीला” का अर्थ लीलना। लीलने की अत्यधिक शक्ति अग्नि में है। अग्नि की असंख्य लपटें ही जिह्वाएँ हैं जिनसे वह सब लीलती है। लीलने का अर्थ है—लीला (अभिनय) और लीला का अर्थ है—सब कुछ दिखाई दे जाना, प्रत्यक्ष से परोक्ष तक। यही है रंगभूमि की भूमिका।”

लाल मानते हैं कि राम अतीत में नहीं था, राम वर्तमान में है। जहाँ-जहाँ कर्म है वहीं पर राम विद्यमान है। इसीलिए राम पौराणिक पात्र होने के साथ कुछ और भी है। नाटक दर्शक से जुड़ा हुआ है और हमारा दर्शक राम से जुड़ा हुआ है। राम की लड़ाई रावण से हुई लेकिन राम वास्तव में लड़ा कहाँ? वह तो लीला करता है। इसी अर्थ में यह नाटक लीला नाटक है जिसकी रचना गाँव में लीला करने वालों के लिए हुई है। ब्रिटिश राज के दौरान हमारा समूचा सामाजिक ढाँचा चूर-चूर हो गया। समाज का व्यक्ति से और दर्शक का अभिनेता से संबंध तोड़ दिया गया। हमारे असली नाटक लिखने वाले लोग भी मैदान छोड़कर भाग गये। ऐसे ही भावों की गहराई के परिवेश में लाल ने इस

नाटक का सृजन राम से ही भटक

“राम की ल

से लड़ाई है। इ

रामलीला होती

सम्पूर्ण मंदिर के

पहले सत्रहवीं-अठ

पूज्या न रही। ल

है सत्य की प्रतीति

विश्वास रखते हैं

नाटक तो आज

हमारे नाटक को

मुख्यतया दिखाए

लें और जो पीछे

नाटकों में प्रत्यक्ष

इसी प्रकार

है। रामलीला से

राम तो व्यक्ति के

सकता है।

दूसरी ओर

से हम तीर्थ से ही

है कि तीर्थ पर ज

जाता है। जिस

से लेकर आज त

चेतना में हो रहा

हैं और दूसरी ओ

भाग रहा है। अ

में वह स्वयं ही

निक भौतिकता स

करता है। उध

था। हलधारी हो

णिक और वर्तमा

विसंगतियों
मानस के
से, परंपरा
नी परम्परा
जीवन में
कर भी हम
न हो पाने
युवा पीढ़ी
मुक्ति का
त्याग फेंकने
करते हुए
किया है।

प्रकाशित
कृतियाँ हैं।
ये दोनों
हैं और हम
हैं। इनकी
अग्नि की
है—लीला
से परोक्ष
जहाँ-जहाँ
ने के साथ
म से जुड़ा
कहाँ? वह
रचना गाँव
गारा समूचा
का अभि-
लोग भी
लाल ने इस

नाटक का सृजन किया है। वर्तमान की असली समस्या यही है कि मनुष्य अपने राम से ही भटक गया है।

“राम की लड़ाई” वास्तव में रामविहीन वर्तमान मनुष्य की अपने परिवेश से लड़ाई है। इस लड़ाई की पृष्ठभूमि भारतवर्ष के उस गाँव की है जहाँ कभी रामलीला होती थी, आनंद मंगल होता था। तब गाँव का एक स्वायत्त था। सम्पूर्ण मंदिर के इस ढाँचे को आज भ्रष्ट राजनीति ने तोड़ा है। राजनीति में पहले सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेजों ने तोड़ा और फिर भूमि मॉत रही, पूज्या न रही। लाल के लीला नाटकों में प्रत्यक्ष से परोक्ष तक पहुँचने का मतलब है सत्य की प्रतीति। वे समस्या की जड़ तक जाकर उसे समूल उखाड़ने में विश्वास रखते हैं। प्रत्यक्ष से परोक्ष के देखे जाने के संबंध में वे कहते हैं—“हम नाटक तो आज में लिख रहे हैं, लेकिन संदर्भ पूरे इतिहास का ले रहे हैं। इसे हमारे नाटक को मर्यादा कहिए अथवा शक्ति कहिए। मूल बात तो नाटक में मुख्यतया दिखाए जाने की है। जो प्रत्यक्ष को जानना चाहें वे हँसना चाहें, हँस लें और जो पीछे जाकर देखना चाहें वे पीछे जाकर देख लें।” तो ये हैं—उनके नाटकों में प्रत्यक्ष लीला द्वारा परोक्ष लीला का अवलोकन।

इसी प्रकार राम से नाटककार लाल का तात्पर्य दशरथ पुत्र राम से नहीं है। रामलीला से भी नाटककार का तात्पर्य व्यक्ति की अपनी लीला से है और राम तो व्यक्ति के भीतर है। व्यक्ति केवल अपनी ही लीला से आनंद प्राप्त कर सकता है।

दूसरी ओर “राम की लड़ाई” से विभिन्न विषय “बलराम की तीर्थयात्रा” से हम तीर्थ से ही भटक गये हैं। अपने बल के आधार पर बलराम कह तो रहा है कि तीर्थ पर जा रहा है। लेकिन वह तीर्थ पर कहीं जाता है वह तो भटक जाता है। जिस प्रकार राम सनातन हैं उसी प्रकार महाभारत की कथा भी तब से लेकर आज तक हो रही है। तब से लेकर आज तक महाभारत युद्ध हमारी चेतना में हो रहा है। युद्ध हो रहा है—महाभारत काल के बलराम भी भाग रहे हैं और दूसरी ओर आज का वर्तमान मनुष्य भी दायित्वच्युत हो अपनी यात्रा से भाग रहा है। आधुनिक व्यक्ति को अपनी ताकत का बहुत भ्रम है। अपनी दृष्टि में वह स्वयं ही कर्ता और स्वयं ही भोक्ता है। ये “आई” कहने वाले उस आधुनिक भौतिकता सम्पन्न व्यक्ति की तीर्थयात्रा है जो समस्या से भागकर “ऐस्केप” करता है। उधर बलराम को अपने “स्टेटस” का कृष्ण से बड़ा होने का भ्रम था। हलधारी होने के कारण उन्हें अपने बल पर घमंड था। इस प्रकार पौराणिक और वर्तमान चरित्र दोनों समानांतर चल रहे हैं।

बलराम करणम को अपने साथ नहीं रहने देना चाहता। (करणम शब्द संस्कृत का है और इसका अर्थ आत्मा है) करणम बलराम की आत्मा है। ठीक इसी प्रकार परम स्वार्थी होकर आधुनिक वर्तमान का व्यक्ति भी अपने “सेल्फ” से दूर भाग रहा है। लेकिन बहाना वह यह बना रहा है कि वह तीर्थ यात्रा पर जा रहा है। वास्तविक तीर्थयात्रा तो अपने भीतर ही है। उसके लिए हमें कहीं जाने की जरूरत नहीं है। ऐसी यात्रा तो कृष्ण कर रहे हैं, एक ही जगह पर बैठे हुए वह युद्ध में ही तीर्थयात्रा कर रहे हैं। युद्ध कौन कर सकता है? वही जिसमें राम हैं, कृष्ण हैं, जो कृष्ण विहीन हैं, रामविहीन हैं, वह आस्था के स्तर पर, भाव के स्तर पर, कदापि युद्ध नहीं कर सकता। बलराम भी तीर्थ-यात्रा के बहाने बल को शक्ति से दूर ही ले जा रहे हैं और वह भाग भी नहीं पा रहे हैं। उनमें न बल है, न राम है। केवल “अहं” के बल का बोझ वे ढो रहे हैं। बलराम आज के आदमी का प्रतीक है इसीलिए अधूरा है। आधा-अधूरा इसलिए कि जब वह कृष्ण को छोड़कर जाएगा जो पूरा नहीं हो सकता। वह आधा-अधूरा होने पर भी करणम को मार पाने में असमर्थ है और अन्ततः वह यह सोचने पर विवश हो जाता है कि मैं क्या कर रहा हूँ? क्यों कर रहा हूँ? ठीक इसी प्रकार आधुनिक मनुष्य को भी झूठे अहं के बल के नशे से दूर होकर स्वबल को पहचान कर अपने आप से प्रश्न करना ही होगा। भाव से स्वभाव में आकर अपने कर्म को जानना होगा। स्वकर्म के आनंद को स्वीकारना होगा।

वास्तव में शक्ति घमंड बल में नहीं होती। शक्ति तो कोमल में होती है। तभी तो हलायुध धारी बलराम बांसुरी धारण करने वाले कृष्ण के पदचिह्नों पर नतमस्तक हो जाते हैं। यहाँ यह तथ्य भी दृष्टव्य है कि परोक्ष से प्रत्यक्ष के भाव प्रदर्शन में नाटककार लाल ने अन्तर्राष्ट्रीय धरा तक को अपने प्रत्यक्ष का बिंदु बनाया है। जहाँ यह स्पष्ट है—अस्मिता बोध में भारत की शक्ति निहित है। एटम बम धारण करने वाली विश्व की प्रमुख शक्तियों को पीछे छोड़कर चले जाने वाली शक्ति का अपरिचित बल भारत के पास है।

“कथा विसर्जन” में नाटककार लाल ने अपनी रंगभूमि पर यह दिखाया है कि कथा तो केवल उसी महापुरुष की हो सकती है जिसने युद्ध किया हो, जो अंधकार में प्रकाश लाया हो और वह केवल प्रभु ही हो सकते हैं। नाटक में ठाकुर विष्णु के प्रतीक हैं जिनमें शिव तत्त्व भी है और राम तत्त्व भी है। विष्णु का अर्थ है जो स्थायी रूप से हो। “दादी माँ” इसी शक्ति की प्रतीक है। जिसमें शिव, कल्याण और संहार तीनों शक्तियों का समावेश है। नाटक के बारे में विचार प्रकट करते हुए नाटककार लाल कहते हैं, “मंच से भूमि पर आने की

जो मानसिक
की तीर्थ यात्रा
पहुँची। एक
सर्जन “कथा

मंच से भूमि पर
की भूमि पर
(आधुनिक हि
पार्वती के प्रती
मूल्यों को बहुत
विजय पा लेने
देश तक की भी
और पश्चिमी
भोक्ता इन दोन
कठोर बना देत
चाहती है, उन्
से, ठाकुर से
संस्कार प्रबल
जलाया जाना

जीवन मूल
की प्रतीक बन
है। यही कथा
द्वारा अंग्रेजी स
सकती है। कथा
और वह हमारी
विसर्जन” नाटक
और पूजा पाठ
तीसरे रंग का स
कथा मात्र कही
नाटक खेला गया

मंच से अप
की नाट्य यात्रा
प्रकाश का चोत्

से "भूमि" तक

(करणम शब्द आत्मा है। ठीक की अपने "सैलफ" ह तीर्थ यात्रा पर के लिए हमें कहीं ही जगह पर बैठ सकता है? वही वह आस्था के बलराम भी तीर्थ-भाग भी नहीं पा का बोझ वे ढो रहे है। आधा-अधूरा हो सकता। वह और अन्ततः वह क्यों कर रहा है? नञ्जे से दूर होकर भाव से स्वभाव में कारना होगा।

मल में होती है। का के पदचिह्नों पर क्ष से प्रत्यक्ष के अपने प्रत्यक्ष का की शक्ति निहित पीछे छोड़कर चले

पर यह दिखाया है युद्ध क्रिया हो, जो ते हैं। नाटक में त्व भी है। विष्णु प्रतीक है। जिसमें नाटक के वारे में भूमि पर आने की

"आँसू" से "भूमि" तक

१४३

जो मानसिक चेतना थी और उसके पीछे जो ईश्वर की प्रेरणा थी, वह "बलराम की तीर्थ यात्रा" से प्रारंभ होकर "राम की लड़ाई" तथा "लंका कांड" तक पहुँची। एक विशेष प्रकार की कथा की सृष्टि जो मेरे विचार में रही उसी का सर्जन "कथा विसर्जन" में हुआ है।

मंच से भूमि पर उतरते हुए नाटककार लाल अपनी सनातन नाट्य परम्परा की भूमि पर खड़े होकर "अपनेपन" का सर्जन कर रहे हैं। जिसमें पहली बार, (आधुनिक हिन्दी नाट्य में) सम्मिलित हो रहे हैं नट और नटी जो शिव और पार्वती के प्रतीक हैं। पश्चिमी सभ्यता को तेजी से अपनाते वाला भारतीय जीवन मूल्यों को बहुत पीछे छोड़ आया है और आधुनिकता की दौड़ में शामिल होकर विजय पा लेने को आतुर है। भले ही उसके लिए उसे व्यक्ति की, समाज की, देश तक की भी कुर्बानी क्यों न देनी पड़े। दादी माँ की पुत्रवधू भी आधुनिकता और पश्चिमी सभ्यता की भयंकर आँधी में बह रही है। उसका चित्त कर्ता और भोक्ता इन दोनों प्रश्नों को लेकर विचलित है। चित्त का आवेश व्यवहार को कठोर बना देता है। अपने दो बच्चों को वह पश्चिम के रंग में रंगा देखना चाहती है, उच्च शिक्षा के लिए उन्हें विदेश भेजना चाहती है। उन्हें उनके "स्व" से, ठाकुर से अलग कर देना चाहती है। यद्यपि दोनों बच्चों में दादी माँ के संस्कार प्रबल हैं फिर भी सम्पूर्ण तनावपूर्ण परिवेश में ठाकुर के लिए चिराग जलाया जाना आँधी में दिया जलाए जाने के समान है।

जीवन मूल्यों की रक्षा करती हुई दादी माँ की मृत्यु अंततः एक जागृत चेतना की प्रतीक बन जाती है। पुत्र और पौत्र दोनों को अस्मिता प्राप्ति का बोध होता है। यही कथा के विशेष प्रकार के सर्जन का "रंग" है। इस सर्जन में लाल द्वारा अंग्रेजी स्टोरी का विरोध दृष्टिगत है। "कहानी केवल पश्चिम की हो सकती है। कहानी अंग्रेजी "स्टोरी" का पर्याय है—कहानी (प्लाट) है थियेटर। और वह हमारी नहीं हो सकती। हमारी है कथा।" कथा है—रंगभूमि "कथा विसर्जन" नाटक में एक रंग तो पृष्ठभूमि में हो रहा है, जहाँ बाकायदा आरती और पूजा पाठ हो रहा है। दूसरा रंग वर्तमान चरित्रों का हो रहा है और तीसरे रंग का संकेत सम्पूर्ण भारतवर्ष के चित्त की ओर है। इसके माध्यम से कथा मात्र कही गई है। न दादी मरती है न देश। जीवन मूल्यों के बोध का नाटक खेला गया है।

मंच से अपनी यात्रा प्रारंभ कर भूमि तक पहुँचने की यात्रा नाटककार लाल की नाट्य यात्रा का वह सुखद मोड़ है जो भविष्य की यात्रा के शुभारम्भ के प्रकाश का द्योतक है। अपने सम्पूर्ण नाट्य कर्म में लाल ने जीवन के विविध पक्षों

का चित्रण युगबोध के वैविध्यपूर्ण स्वरों में ऊष्मा के साथ किया है। उनका प्रत्येक चरित्र नहीं, पात्र जीवन की कलापूर्ण अभिव्यक्ति करता है। एक विशिष्ट जीवन पद्धति को जीता है। उनकी नाट्य कला प्रारम्भ से लेकर अब तक एक ओर सम्मोहनपूर्ण भारतीय संगीत की स्वर लहरियाँ बिखेर रहा है, दूसरी ओर नाट्य-कार लाल सम्पूर्ण वितन-मनन की भावाभिव्यक्ति को सम्पूर्णता में अपने साथ लेकर चल रहा है उनकी नाट्य कला के सारे तत्व संगीत में बज रहे उन सभी वाद्य यंत्रों की धुन के समान हैं, जहाँ पहले छेड़ा गया मुर पृष्ठभूमि में जाते-जाते मंद किन्तु मधुर स्वर लहरियाँ छोड़ता है। प्रत्यक्ष रंगभूमि में छेड़े गए ध्रुवा संगीत अन्तःस्थल के कोने में पहले धीरे-धीरे बजते हैं और फिर गहरे कोनों में, फिर रंगपीठ से लेकर पूरी “रंगभूमि” में गूँजने लगते हैं।

‘बलराम व

भूमिका-विन्यास न
या वास को ग्राह्य बना
धारणा व्यक्त करते हुए
तु भूमिका।” अर्थात्,
सत्त्व, वाक् और गति क
करना ही भूमिका है। उ
पर अवतरित होकर अप
द्वारा नाट्यार्थ को व्याख्य
हैं। नाट्याभिनय में भूमि
के पात्रों के शील-सौन्दर्य
होता है। भूमिका-विन्यास
समझ पाता है कि नाट्य
उसकी सामाजिक सत्ता व
सांस्कृतिक भूमि कैसी है
ही करता है; अभिनेता उ
बना देता है।

नाटक एक सामाजि
चेतन की अन्तर्भूमियों) के
रूप प्रकट होता है। अप
भावभूमि से संश्लिष्ट हो
जातीय जीवन के स्पन्दनों
भी चमत्कारकारी क्यों
सकता। सौन्दर्य पहले से
रूप को गढ़ने में नहीं। उ
लाल—१०

“सु” से “भूमि” तक

क्या है। उनका प्रत्येक
। एक विशिष्ट जीवन
र अब तक एक ओर
है, दूसरी ओर नाट्य-
स्मृति में अपने साथ
में बज रहे उन सभी
गुणभूमि में जाते-जाते
मि में छेड़े गए ध्रुवा
फिर गहरे कोनों में,

‘बलराम की तीर्थयात्रा’ में भूमिका-विन्यास

डॉ० मांघाता ओसा

भूमिका-विन्यास नाट्यकला का एक रोचक और वासक (संवेदना की गंध या वास को ग्राह्य बनाने वाला) प्रसंग है। नाट्य के प्रसंग में भूमिका की अवधारणा व्यक्त करते हुए भरतमुनि ने लिखा है कि “अन्य रूपैर्यदन्यस्य प्रवेशः स तु भूमिका।” अर्थात्, अभिनेता द्वारा नाट्य-निबद्ध पात्र की रूपाकृति, शील, सत्त्व, वाक् और गति को रंगपीठगत अभिनय में नाट्य भ्रांति के स्तर से साकार करना ही भूमिका है। अभिनय की भूमिका में नानाविध प्रकृति के पात्र रंगपीठ पर अवतरित होकर अपने आचरण वेप-भूषा, सत्त्व, शील, चेष्टा, वाक् एवं गति द्वारा नाट्यार्थ को व्याख्यायित करते हुए दर्शक को नाट्यरस की अनुभूति कराते हैं। नाट्याभिनय में भूमिका-विन्यास ही वह साधन है जिसके माध्यम से नाटक के पात्रों के शील-सौन्दर्य का ग्रहण होता है एवं नाट्यानुभूति का संप्रोषण सुलभ होता है। भूमिका-विन्यास को लक्ष्य करके ही दर्शक या प्रमाता यह भली प्रकार समझ पाता है कि नाट्यनिबद्ध पात्र का स्वरूप क्या है? वह देखने में कैसा है? उसकी सामाजिक सत्ता क्या है? उसका शील, सत्त्व, स्वभाव और आचरण की सांस्कृतिक भूमि कैसी है? भूमिका के रूपबन्ध का सृजन तो तत्त्वतः नाट्यकार ही करता है; अभिनेता उसे नाट्यभ्रांति के स्तर से दर्शक के लिए प्रत्यक्ष ग्राह्य बना देता है।

नाटक एक सामाजिक कला है, अतः दर्शक की मानसिकता (चेतन-अवचेतन की अन्तर्भूमियों) के साथ सीधे जुड़ने पर ही भूमिका-विन्यास का अर्थवान् रूप प्रकट होता है। अपनी मिट्टी की रंग-चेतना तथा पात्रोचित संस्कार एवं भावभूमि से संश्लिष्ट होने पर ही भूमिका-विन्यास प्रभविष्णु प्रतीत होता है। जातीय जीवन के स्पन्दनों और रंग-संस्कारों से सर्वथा विरहित भूमिका कितनी भी चमत्कारकारी क्यों न बन जाए, उसका कोई सौन्दर्यात्मक मूल्य नहीं हो सकता। सौन्दर्य पहले से वर्तमान रूप को निखारने में प्रकट है, किसी अजनबी रूप को गढ़ने में नहीं। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का यह कथन सारगर्भित है कि लाल—१०

“...तथाकथित आधुनिक भारतीय थियेटर हमारी अपनी कलाभूमि, रंगभूमि की स्मृतियों को जिन्दा दफनाने का ही क्रमिक विधिवत प्रयास है।”^१

दर्शक में जातीय सन्दर्भ (लोकवृत्त) से सीधे जुड़ने के कारण भूमिका-विन्यास का सर्जनात्मक सौन्दर्य उसके अपने सांस्कृतिक परिवेश, नैतिक भावापन्नता, आचरण संहिता और रास-रंग की प्रणालियों में अन्तर्हित होता है। भूमि से भूमिका का विकास करना रंगशैली की एक अनिवार्य शर्त है। देश-काल की नयी तार्किकता के परिप्रेक्ष्य में परम्पराशील रंग-तत्त्वों के अन्वेषण एवं सर्जनात्मक विनियोग से जातीय भूमि की रंग-छटा अभिव्यक्त होती है; अपनी मिट्टी से निर्मित पात्र की अभीष्ट रचना सुलभ बनती है एवं उसकी अपनी भूमिका सामने आती है। जैसा कि 'अंधा कुआँ' और 'सगुन पंछी' की भूमिका-परिकल्पना में व्यंजित है, आरम्भ में डॉ० लाल के अवचेतन में अपनी भूमिका नाट्य रचने की ललक थी। किन्तु, पिछले तीन दशकों में भारतीय थियेटर का एक दौर ऐसा चला जिसमें अपनी संशोधित जमीन की मिट्टी से उपजने वाली पात्रगत भूमिका को सर्वथा त्यागकर, पाश्चात्य थियेटर या मंच पर दिखलाई जाने वाली चरित्रपरक भूमिकाएँ लक्षित हुईं। इन भूमिकाओं में चरित्रता प्रकट हुई पात्रता नहीं। उनका प्रकट रूप चमत्कार व्यंजक तो होता है, रस व्यंजक नहीं। कुछ काल के लिए डॉ० लाल भी पाश्चात्य मंच के चरित्र के मुहावरे में ढली भूमिकाओं का निर्माण करने में प्रवृत्त हुए; किन्तु उनकी नाट्य-यात्रा के मर्म को देखने से यह पता लगता है कि तत्त्वतः 'रंगभूमि का काव्य' व्यक्त करने वाला भूमिका-विन्यास उन्हें अधिक आकृष्ट करता है। मंच वाली भूमिकाओं का निर्माण उन्होंने समयानुक्रम अपनी पहचान बनाने की विवशता के कारण ही किया। किन्तु 'बलराम की तीर्थयात्रा' में वे पुनः सजग रूप से भारतीय जमीन की शोधी हुई मिट्टी के पात्र को भूमिका-निबद्ध कर "रंग भूमि का नाट्यरस व्यंजक काव्य" रचने में प्रवृत्त हैं।

आलोच्य नाटक की भूमिका-विन्यास सुलभ सौन्दर्य-चेतना को विवृत करने से पूर्व यह उल्लेख कर देना समीचीन है कि नाटक के इतिवृत्त में गुंथे हुए पात्रों तक ही भूमिका के नानाविध रूप की सीमा नहीं होती। रंगपीठ पर ऐसी भूमिकाएँ भी आती हैं जो नाट्यगत पात्रों की सीधी भूमिका के रूप तो नहीं होतीं, किन्तु उनकी भावभूमि के वास या अन्तर्गन्ध को व्यापक बनाने में सहायक होती हैं। गायक, वादक, सूत्रधार, नान्दी आदि, नाट्यार्थ के विकास एवं

१. 'छायानट' अंक ३६ : जनवरी मार्च, १९८६ में प्रकाशित डॉ० लाल के लेख 'उनके मंच से अपनी रंगभूमि पर' से उद्धृत।

नाट्यानुभूति को निवि
है। ये भारतीय रंग-ने
में ये भी अभिन्न रूप से
नाट्यधर्मी, लोकधर्मी मु
अनुसंधान से नाट्यगत
जा सकता है। इस प्रव
मूलक या प्रयोगात्मक

'बलराम की तीर्थ
आलोक में सम्पादित है
सर्वथा अधुण्य रखते
भारतीय रंगधर्मी साँचे
के साथ ध्रवागीतिपरक
है। इस रंगावतरण में
से संस्कारित जीवन व
अत्यन्त संक्षिप्त है और
गई है। अर्द्धनारीश्वर
करणम् तीर्थ भूमियों में
व्यासपीठ पर आसीन
भी तीर्थयात्री बलराम
में पूरी तरह उनका अ
पर सम्पादित) भूमिका
रोचक और अर्थवान् है
अवचेतन की दो द्विधा-
विभक्त बलराम को अ
यह व्याख्यात्मक कथन
पाण्डव को बहुत मना
लड़ा। पर जो है, सो
नाराज होकर तीर्थ या
(स्टेज) के दो भागों में
है। बलराम आत्म-संघ
रूप से ग्रसे हुए हैं अ
समाया हुआ है। फलत

नाट्यानुभूति को निविड़तर बनाने में अपने-अपने ढंग से प्रयुक्त किया जाता है। ये भारतीय रंग-चेतना के अभिन्न अंग हैं। रंगपीठ की भूमिकाओं की संरचना में ये भी अभिन्न रूप से अन्वित रहते हैं। पुनः भूमिका-भावन में नाटककार की नाट्यधर्मी, लोकधर्मी मुहावरों के विनियोग के प्रति लक्षित अनुदृष्टि के सम्यक् अनुसंधान से नाट्यगत भूमिका-विन्यास की कलात्मक रचना के मर्म तक पहुँचा जा सकता है। इस प्रकार भूमिका-विन्यास का विचार नाटक की प्रस्तुतीकरण-मूलक या प्रयोगात्मक विज्ञान का मर्म स्फुट करने का निकष है।

'बलराम की तीर्थयात्रा' का भूमिका-विन्यास मूलतः भारतीय रंग-चेतना के आलोक में सम्पादित है। आधुनिक वैज्ञानिक चिन्तन की तार्किक अन्तर्सूत्रता को सर्वथा अधुण्य रखते हुए, प्रस्तुत नाटक के भूमिकात्मक रूपबन्ध को समग्रतः भारतीय रंगधर्मी सौँचे में ढाला गया है। नेपथ्य संगीत की भावोत्कर्षक गुंजार के साथ ध्रवागीतिपरक शैली में मंगलाचरण गाते हुए पात्रों का यहाँ रंगावतरण है। इस रंगावतरण में अपनी मिट्टी (जातीय जीवन) की शोधित भूमि (आस्था से संस्कारित जीवन की चेतनता) की वास मुलभ है। पूर्वरंग की यह भूमिका अत्यन्त संक्षिप्त है और नाट्य की मूल भूमिका के साथ क्षिप्रता से अनुस्यूत कर दी गई है। अर्द्धनारीश्वर शंकर की वन्दना के परिपार्श्व में बलराम, रेवती और करणम् तीर्थ भूमियों में घूमते हुए नैमिषारण्य पहुँचते हैं, जहाँ सूतपुत्र रोमहर्षक व्यासपीठ पर आसीन कथावाचक की भूमिका में दिखता है। नैमिषारण्य में आकर भी तीर्थयात्री बलराम अभी गर्वोन्नत ही हैं। उनके सस्व, वाक्, चेष्टा और गति में पूरी तरह उनका अहंकार झलकता है। यह प्रसंग, द्वि भौमिक (दो भूमियों पर सम्पादित) भूमिका-विन्यास के क्रम से रंगपीठ पर उपस्थापित है, जो बहुत रोचक और अर्थवान् है। इन दो भूमियों के भूमिका-विन्यास द्वारा बलराम के ही अबचेतन की दो द्विधा-विभक्त दशाएँ अंजित हैं। भूमिकाओं में व्यंजित द्विधा-विभक्त बलराम की अन्तश्चेतना की दिशा का निर्देश करने के लिए करणम का यह व्याख्यात्मक कथन उद्धरणीय है : "पहले क्यों ? फिर कहाँ ? अरे ! कौरव-पाण्डव को बहुत मनाया-धमकाया, गुस्सा किया कि महाभारत की लड़ाई नहीं लड़ो। पर जो है, सो है। कौन किसे मानता है। कौरव-पाण्डव दोनों से नाराज होकर तीर्थ यात्रा के बहाने जा रहे हैं।" इस कथन के संघात से रंगपीठ (स्टेज) के दो भागों में संयोजित दोनों भूमिकाओं की अर्थवत्ता प्रकाशित होती है। बलराम आत्म-संघर्ष की स्थिति में हैं। एक ओर उनका अहंकार उन्हें प्रबल रूप से ग्रसे हुए है और दूसरी ओर, गहरे अबचेतन में, कृष्ण का आकर्षण भी समाया हुआ है। फलतः उनका धर्मबुद्धि संशयात्मक है। महाभारत का धर्म युद्ध

छिड़ जाने पर पक्ष लेने के विषय में संशयग्रस्त होकर तीर्थयात्रा के बहाने धर्म क्षेत्र-कुलक्षेत्र से दूर चले जाते हैं। संभवतः दूर होकर वे महाभारत के युद्ध से जुड़े संशय से मुक्ति पाना चाहते हैं। उनके अद्वैतन का कथावाचक चेतन में आने पर उन्हें कचोटता है। उसे मिटाकर संशय से मुक्ति पाने के आत्म-संघर्ष की ही वासक भूमिका व्यासपीठ से कथा कहने वाले सूत पुत्र रोमहर्षण की है। रोमहर्षण की हत्या करके वे मानो 'परम से भी परे कृष्ण' की शरण को भुलाकर 'मैं' की शरण में रहकर संशयमुक्त होना चाहते हैं। परन्तु इस हत्या से जुड़ी प्रायश्चित्त की भावना उनके मन में घर कर लेती है। वे संशयमुक्त हो नहीं पाते बल्कि उनका संशय और गहरा हो जाता है।

कथा-प्रकरण की भूमिका यहाँ नाट्य-बीज रूप से भावित है। कथावाचक की भूमिका के प्रति क्रिया-प्रतिक्रिया व्यक्त करने के रूप में ही नाट्य की अन्य सभी विविध रूप-रंग और गतिवाली भूमिकाएँ उपजती हैं। रोमहर्षण को मारकर बलराम के मन में जो ऊहापोह होता है, उसे अंजित करती हुई एक भूमिका एक पुरुष, दो पुरुष... पाँचवाँ पुरुष की है। ये नामविहीन निर्वैयक्तिक पात्र हैं। इनके शील, सत्त्व, वाक् और गति में समानता है। ये पुरुष बलराम को जैसे सावधान करते हैं कि 'हम' या समष्टिगत भावभूमि की संवेदनात्मकता से वंचित होकर व्यष्टिगत भावभूमि की संवेदना में बहना मांगलिक नहीं हो सकता है। अहंकार के अनुप्रवेश से जिआ गया भोग-वासना का स्वार्थान्ध जीवन तीर्थयात्रा मुलभ उन्नत भावभूमि, अभीष्ट भावभूमि, रस की निर्वैयक्तिक भावभूमि नहीं है। इन प्रकार आरम्भ की तीन भूमिकाओं में [(i) ध्रुवागतिपरक मंगलाचरण की पूर्वरंगप्रधान भूमिका, (ii) व्यासपीठासीन कथावाचक की भूमिका और (iii) नामविहीन पाँच पात्रों की भूमिका,] महाचिति के लीलामय आनंद की या महा-रस की संवेदनात्मक अनुभूति की ही क्रमिक व्यंजना परिलक्षित है। कृष्ण से दूर होकर बलराम का अंतःकरण अपने को कर्ता-भोक्ता माननेवाली अहंकारात्मिका चित्तवृत्ति संवेदनात्मक भूमि में आकर उन्हें उद्वेलित करती है। उनके इस संवेदनात्मक उद्वेलन को कथावाचक की भूमिका और पहला, दूसरा... पाँचवाँ पुरुष की प्रश्नात्मक भूमिका के परिप्रेक्ष्य में जिस आत्मसंघर्षात्मक स्तर से स्फुट किया गया है, वह नाटककार की बड़ी सजग नाट्य प्रतिभा का परिचायक है। बलराम की गति और मति का यह भूमिकात्मक विन्यास नाट्यकला की दृष्टि से निश्चय ही बहुत कलात्मक है। इस संघर्ष में वे 'अहं' की जिस गर्व-दीप्त मानसिक भूमि पर आते हैं, वह उनकी वाणी को यह रूप देता है : "सूतपुत्र व्यासपीठ पर?" "जानता नहीं मैं कौन हूँ?" "मुझे ज्ञान देगा..." "परम्परा मैं बनाऊँगा" "मैं

स्वयं अपनी शरण में हूँ। करते वाली भूमिकाओं से अहमन्यता चेतन के ऊपरी में कृष्ण समाए रहते हैं। सार्थकता के प्रति संशयग्रस्त में उनकी क्रिया-प्रतिक्रिया ज्ञात होती है।

रेवत के मणिमहल में से विन्यसित है। यहाँ वे से वासित विहार की मुद्रा कभी सुरापान से शान्त क गत होते हैं; कभी उन्मत्त ह की मोहक भूमिका में इन् उन्मत्त हो उठते हैं और ' नाचने लगते हैं।

बलराम के संशयग्रस्त करणम्, पंचम, गोपी, रेवत भूमिकाओं के माध्यम से भी पाने में संलग्न बलराम की इसका प्रत्यक्षीकरण करणम् के अन्तःकरण का जीवन्त मृग-जैसी कुलांचे भरता हुआ चिढ़ाता है, कभी विनोदात्मक उनकी अन्तः प्रकृति का व्यं कभी डीठ होकर बलराम के मर्माहत करता है। बलराम स्वयं छिपकर कुतूहल पैदा क पतला दिखता है, पर स्वभाव नहीं है, उसके आगे-पीछे ल करणम् की प्रस्तावित भूमिक दर्शक यह देखता है कि परम से संसार-भोगपरायण रहता

स्वयं अपनी शरण में हूँ।" आदि। परम तत्त्व (कृष्ण) के प्रति आस्था व्यक्त करने वाली भूमिकाओं से उनकी प्रकट टकराहट, एवं गर्वोक्तियों में बलराम की अहमन्यता चेतन के ऊपरी स्तर पर व्याप्त तो लक्षित है, किन्तु उनके अवचेतन में कृष्ण समाए रहते हैं। इसीलिए अहं को भोगते हुए भी वे रह-रहकर उसकी सार्थकता के प्रति संशयग्रस्त हो जाते हैं। इसीलिए रंगभूमि की प्रस्तावित भूमिका में उनकी क्रिया-प्रतिक्रियाएँ हर स्तर पर संशयग्रस्त अन्तःकरण का प्रतिफलन ज्ञात होती हैं।

रैवत के मणिमहल में बलराम की प्रस्तावित भूमिका नये सौन्दर्यात्मक तत्त्वों से विन्यसित है। यहाँ वे विहार की मुद्रा में दिखते हैं। 'अहं' की भोग-वासना से वासित विहार की मुद्रा में आने पर वे परम सुख की आन्तरिक पिपासा को कभी सुरापान से शान्त करना चाहते हैं; कभी प्रमदा नृत्य देखकर बुझाते दृष्टि-गत होते हैं; कभी उन्मत्त होकर स्वयं नाचते-गाते हैं। सामूहिक संगीत और नृत्य की मोहक भूमिका में इन्दूर, मोहिनी, कुंजल, कपि और आजीव को देखकर वे उन्मत्त हो उठते हैं और "वाह ! वाह ! भिम भिम मैं मैं..." का गीत गाते नाचने लगते हैं।

बलराम के संशयग्रस्त मन की बहुत-सी अन्यान्य संवेदनात्मक भूमियों को करणम्, पंचम, गोपी, रेवती, मोहिनी, आनापान, साण्डव आदि की प्रस्तावित भूमिकाओं के माध्यम से भी प्रकाशित किया गया है। अहं के स्तर से परम सुख पाने में संलग्न बलराम की स्थिति तत्त्वतः कितनी दयनीय और उपहासास्पद है, इसका प्रत्यक्षीकरण करणम् की भूमिका में सुलभ है। करणम् की भूमिका बलराम के अन्तःकरण का जीवन्त नाट्य भाष्य है। रंगपीठ की प्रस्तावित भूमिका में मृग-जैसी कुर्लाचे भरता हुआ करणम् कभी बलराम के आगे आकर उन्हें कभी चिढ़ाता है, कभी विनोदात्मक भंगिमा के साथ मनोप्रथियों को हठात् झुठलाने की उनकी अन्तः प्रकृति का व्यंग्योपहास करता दिखता है, कभी सहमे रूप-से तो कभी ढीठ होकर बलराम के प्रति मुखातिब होता है और अपनी बातों से उसे मर्माहत करता है। बलराम उसकी हत्या करते हैं, तो भी वह जी उठता है। स्वयं छिपकर कुतूहल पैदा करता है। उसका शरीर तो बहुत छोटा और दुबला-पतला दिखता है, पर स्वभाव हठधर्मी है। बलराम द्वारा भगाए जाने पर भागता नहीं है, उसके आगे-पीछे लगा रहता है। स्वभावतः वह नटखट है। इस प्रकार करणम् की प्रस्तावित भूमिका बलराम के अन्तःकरण का सुन्दर नाट्य-विम्ब है। दर्शक यह देखता है कि परम सुख के लिए बलराम का मन जब तक अहं के स्तर से संसार-भोगपरायण रहता है, करणम् उसे बराबर चिढ़ाता रहता है, व्यंग्यो-

पहास की वाणी बोलता है। वह यह बोध कराता रहता है कि सांसारिक भोगों के प्रति रागवाली अन्तःकरण की संवेदनात्मक भूमि परम सुख की मूल गंध नहीं है।

बलराम जब तक 'मैं' परायण भोग की संवेदनात्मक भूमि पर रहते हैं, न तो वे तीर्थयात्रा का मर्म समझ पाते हैं, न ही कथा का। तीर्थयात्रा और कथा का नाम-रूप ही वह ग्रहण कर पाते हैं। उसके अन्दर के 'है' रूप परम सत्य या व्याप्त ईश्वरत्व तक उनकी दृष्टि नहीं जाती। परम सुख की इस मूल गंध की धुरी से हटे होने के कारण वे आकुल-व्याकुल ही हैं, दयनीय ही दिखते हैं। करणम् की भूमिका व्यंग्य के स्तर से और पंचम की भूमिका सहानुभूति के स्तर से उनकी इस दयनीयता को अंजित करती है। भूमिका में पंचम सौम्य स्वभाव का पात्र दिखता है। वह बलराम के प्रति सहानुभूति रखता है। पंचम की प्रस्तावित भूमिका में परम मोहन की आस्थामयी भूमि की ओर बलराम के बढ़ने और शांत चित्त, शोधित चित्त होकर परम सुख का स्पन्द अनुभव कराने वाली शुभेच्छा प्रकाशित है। पुनः क्योंकि करणम् की भूमिका बलराम के चित्त भूमि की संवेदनात्मक गंध की वासक रूप से प्रस्तावित है, अतः जैसे ही वह चित्त की संशोधित भूमि में आते हैं, उनके प्रति करणम् का व्यवहार बदल जाता है। उसकी मुद्रा सुशांत दिखती है; वाणी गंभीर मर्म व्यंजक रूप धारण करती है। शुभेच्छा या सत्वोद्रेक से द्रवित हो वह बलराम को आत्म-उन्नयन के लिये उद्बोधित करता है: "मौन हो जाओ। पात्र खाली करके भरने की प्रक्रिया शुरू करो। जीवन को आनुष्ठानिक मृत्यु के रूप में साधो। दूसरों के आस्वाद के लिए जलो। मरो। रस निचोड़ो। मारो।" जैसे ही 'हम' (समष्टि) में 'मैं' को (व्यष्टि को) डुबोकर संयमित जीवन साधन की संवेदनात्मक भूमि पर आते हैं, उनके शील, सत्व, स्वभाव, मति, चेष्टा और गति में औदार्य और आस्था से उपजी विनयशीलता झलकती है। उनका अहंकार धुल जाता है। कृष्ण की शक्ति में वह अपनी शक्ति मानने लगता है। अब वे भोग से भागते हुए और त्याग में रमते हुए आत्म-साक्षात्कार का परम सुख अनुभव करते दृष्टिगत होते हैं। निर्वेद भाव की इस शांतरस जन्य अनुभूति में वे अपने इस प्रश्न का उत्तर पा लेते हैं कि जीवन का परम मोहन रूप क्या है? लीला भाव को अनासक्त जीवन व्यवहार का रस ही अन्ततः उन्हें सुख रूप लगने लगता है।

नाटक में प्रस्तावित एक अन्य भूमिका गोपी की है। इस भूमिका का विन्यास भी पर्याप्त रोचक और रसात्मक है, उसकी भूमिका बलराम के लिए परम मोहन कृष्ण के 'गंध मूल' की वासक बनी दृष्टिगत होती है। रंगभूमि की भूमिका में

वह गायों को चरानेवाला वह कृष्ण के प्रति अन्यास आस्था के कारण उसके स्वभाव, वाक्, चेष्टा अ पड़ा हुआ नहीं दिखता। है, या जब भी उसके संवेदनात्मक भूमि में अ लगता है, अपने अन्दर वासित हो जाता है।

'गंध मूल' (परम म मणि-महल के विहार में क्योंकि वह उनका अपना काल में जब-जब गंध मूल का उच्चाट-भरा रूप दि से दर्शक के दृष्टिपथ में का साक्षात्कार होता है। हुई यात्रा की राह में पड़ काओं के अभिनय से अंकि भूमिकाओं की वाक्, गति होता है, नाट्यरस की अ सुलभ होता है। 'बलराम संवेदनात्मक भूमि अनासकार समष्टिगत बोध में आते बलराम की आस्था समष्टिगत मर्म को जान करते रंगपीठ पर शान्त स

"प्रनतपाल ! शरण दर्पण के अपना मुँह भी न निघान। तुम इतने पास थे काले क्यों हो, मेरे अज्ञान श्याम। यह तुम्हीं हो सांध्य प्रत्यंचा। हिरण्यगर्भ..."

वह गायों को चरानेवाला सरल स्वभाव का एक ग्रामीण गोपकुमार दिखता है। वह कृष्ण के प्रति अनन्य अनुराग रखता है और वंशी बजाता रहता है। इसी आस्था के कारण उसके जीवन में एक चैन की वंशी बजती है। उसके सत्व, शील स्वभाव, वाक्, चेष्टा और गति में कहीं द्विधा नहीं है, वह कभी भी उलझन में पड़ा हुआ नहीं दिखता। उसमें न आडम्बर है, न छल छद्म। वह जब वंशी बजाता है, या जब भी उसके वंशी-रव को बलराम को स्मृति होती है, वे विराग की संवेदनात्मक भूमि में अनायास ही आ जाते हैं। उन्हें कृष्ण का मानस ग्रहण होने लगता है, अपने अन्दर के परम मोहक 'गंध मूल' से उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व वासित हो जाता है।

'गंध मूल' (परम मोहन का आकर्षण) बलराम के अपने ही भीतर है, परंतु मणि-महल के विहार में उसे भूले-से दिखते हैं, पर सम्पूर्णतः भूल पाते नहीं हैं, क्योंकि वह उनका अपना तत्व है, अपनी चैतन्य शक्ति है। मणि-महल के विहार काल में जब-जब गंध मूल की संवेदनात्मक भूमि में आते हैं, बलराम की मुद्रा का उच्चाट-भरा रूप दिखता है। गोपी को बुलाकर वंशी-वादन सुनने को आतुर से दर्शक के दृष्टिपथ में आते हैं, गोपी के साक्षात्कार में उन्हें अपनी ही गंधमूल का साक्षात्कार होता है। उनकी तीर्थयात्रा जारी रहती है और बिन्दु-बिन्दु बढ़ती हुई यात्रा की राह में पड़नेवाली संवेदनात्मक भूमियों के सानुरूप प्रस्तावित भूमिकाओं के अभिनय से अजित-रजित दर्शक को विविध रूप से मनोरम दिखती है; भूमिकाओं की वाक्, गति, चेष्टाएँ, सत्व और रूप से दर्शक का विनोदन भी होता है, नाट्यरस की अनुभूति भी होती है और उन्नयन, व्यंजक भाव-बोध भी सुलभ होता है। 'बलराम की तीर्थयात्रा' का अन्तिम बोध, नाट्य की पर्यवसायी संवेदनात्मक भूमि अनासक्त जीवन व्यापार की वह भूमि है जहाँ व्यष्टिगत अहंकार समष्टिगत बोध में विलीन हो जाता है। चौथे अङ्क के अन्त तक आते-आते बलराम की आस्था दृढ़ भावभूमि की दिखाई देती है। वे हिरण्यगर्भ के समष्टिगत मर्म को जान लेते हैं और उसके प्रति समर्पित होकर उद्गार प्रकट करते रंगपीठ पर शान्त सत्त्व रूप दिखते हैं :

“प्रनतपाल ! शरण बिहारी ! तुम्हारे दिए हुए का यह अभिमान ? जो बिना दर्पण के अपना मुँह भी नहीं देख सकता, उसे इतना अहंकार। क्षमा करो कृष्ण-निधान। तुम इतने पास थे कि देख नहीं पाया। अपने प्रकाश से भी बाहर इतने काले क्यों हो, मेरे अज्ञान का यह पाप शरीर गोधूलि की मेरुई उदासी तुम्हीं हो प्रियाम। यह तुम्हीं हो सांघ्यानी आख्यान, संघ्याध्ययन बेला इन्द्रधनुष की तनी हुई प्रत्यंचा। हिरण्यगर्भ....” बलराम की निर्वेदप्रधान भावभूमि की यात्रा नयी

में भूमिका-विन्यास

कि सांसारिक भोगों
म सुख की मूल गंध

मि पर रहते हैं, न तो

तीर्थयात्रा और कथा का

परम सत्य या व्याप्त

मूल गंध की धुरी से

देखते हैं। करणम् की

भूति के स्तर से उनकी

गोम्य स्वभाव का पात्र

पंचम की प्रस्तावित

राम के बढ़ने और शांत

कराने वाली शुभेच्छा

चित्त भूमि की संवेद-

वह चित्त की संशोधित

जाता है। उसकी मुद्रा

करती है। शुभेच्छा या

लिये उद्बोधित करता

क्रिया शुरू करो। जीवन

द के लिए जलो। मरो।

को (व्यष्टि को) डुबो-

ते हैं, उनके शील, सत्व,

से उपजी विनयशीलता

शक्ति में वह अपनी शक्ति

ग में रमते हुए आत्म-

हैं। निर्वेद भाव की इस

पा लेते हैं कि जीवन का

वन व्यवहार का रस ही

इस भूमिका का विन्यास

राम के लिए परम मोहन

। रंगभूमि की भूमिका में

सौन्दर्यात्मक चेतना के साथ आगे बढ़ती है। पाँचवें अङ्क की भिन्न-भिन्न प्रस्तावित भूमिकाओं के माध्यम से इसी सौन्दर्य चेतना को अभिनय के नाट्यपरक मुहावरे में रूपबद्ध किया गया है। इसी नयी सौन्दर्य चेतना के परिपार्श्व में रंगपीठ पर गोपी दिखता है, जो हाथ में मोरपंख लिये हुए है और जिसे वह बलराम को थमाता है। पंचम बँहगी लिए आता है, जिसके कंधे से बँहगी उतारकर नीचे रख देते हैं।

पाँचवें अंक के दो दृश्यों में क्रमशः दिखनेवाली भूमिकाएँ 'अहं' के जल जाने से उद्भूत गुणात्मक परिवर्तन के सानुरूप नियोजित हैं। उनका प्रस्तावित रूप नाट्यरस से भरपूर अभिनय में विकसित होता है। पहले दृश्य में मोहिनी-इन्दूर की भूमिका उक्त गुणात्मक परिवर्तन का रोचक प्रस्ताव है। दूसरे दृश्य के यात्रा दृश्य में बलराम, रेवती, गोपी और पंचम की भूमिका प्रस्तावित है। करणम् अब कहीं नहीं दिखता। उसकी अनुपस्थिति से साफ जाहिर है कि यह यात्रा द्वन्द्वविनिर्मुक्त अहंकार विनिर्मुक्त शान्तरस से सिंचित जीवन-व्यापार की यात्रा है। 'आत्मानं अखिलात्मानम्...' के वृन्दगान के साथ दृश्य खुलता है और इसी गान के साथ समाप्त होता है। बीच में विगलित अहंकार बलराम भूमिका, अनन्य अनुराग रूप रेवती की भूमिका, कृष्णमय गोपी की भूमिका, आस्था से स्पन्दित 'आत्मानं अखिलात्मानम्' "तं नमामि हरिं परम्" "वन्दे विचित्रार्थपदम्" गाते हुए 'लोग' की भूमिका दर्शक के दृष्टिपथ में आती है। ये भूमिकाएँ अपने वाक् और गति से 'गंध मूल' की ही अभिव्यक्ति करती है। संगीत के उपयुक्त पुट से दृश्यगत रसाद्रता निविड़ हो उठती है। भरत वाक्य परक गान के साथ नाट्य समाप्त होता है।

आलोच्य नाटक में प्रस्तावित भूमिका-विन्यास के विश्लेषण से डॉ० लाल की नयी विकसित नाट्य चेतना के कई नये कलात्मक विन्दु उभरकर सामने आते हैं। यहाँ नाट्य-विधान में रंगमंचीय अभिनय के मुहावरों को छोड़कर रंगपीठगत भारतीय अभिनय के मुहावरों को प्रयोग में लाने की प्रवृत्ति लक्षित है। पूर्वरंग की रंग-भूमिका से प्रारम्भ कर भरतवाक्य की शैली में पर्यवासान; यात्रा की नाट्यधर्मी गति नाट्यरस व्यंजक भूमिका-विन्यास का ऐसा प्रस्तावित रूप जो नृत्य और गीतियों से पुष्ट होकर पात्रों की गति, सत्व, शील, स्वभाव, चेष्टा, वाक् एवं प्रवृत्ति को प्रस्फुटित करता है; भूमिका के अनुभावन एवं वाक्, गति, सत्वादि की प्रस्तावना में पाश्चात्य पद्धति के चरित्र से दृष्टि हटाकर भारतीय भूमि की पात्र पद्धति के प्रति दृष्टि-निबद्धता, भूमिकाओं के वाक् संयोजन में वाचिक अभिनय की भंगिमा के साथ प्राकृतिक सौन्दर्य का संवेदनात्मक समन्वय; आस्था की मानसिकता;

पाश्चात्य पद्धति के व्यक्ति-वैयक्तिक लोक-सामान्य भूमि का नाट्य सौन्दर्यात्मक विन्दु सामने आते की कला से सश्रद्ध करते हैं। मुलभ हैं, जो नाटककार के रस व्यंजित करते हैं; यथा "जो इतना अहंकार?" अथवा "यह प्रस्तावित भूमिका-विन्यास रंग अनुकरणीय प्रस्ताव है।

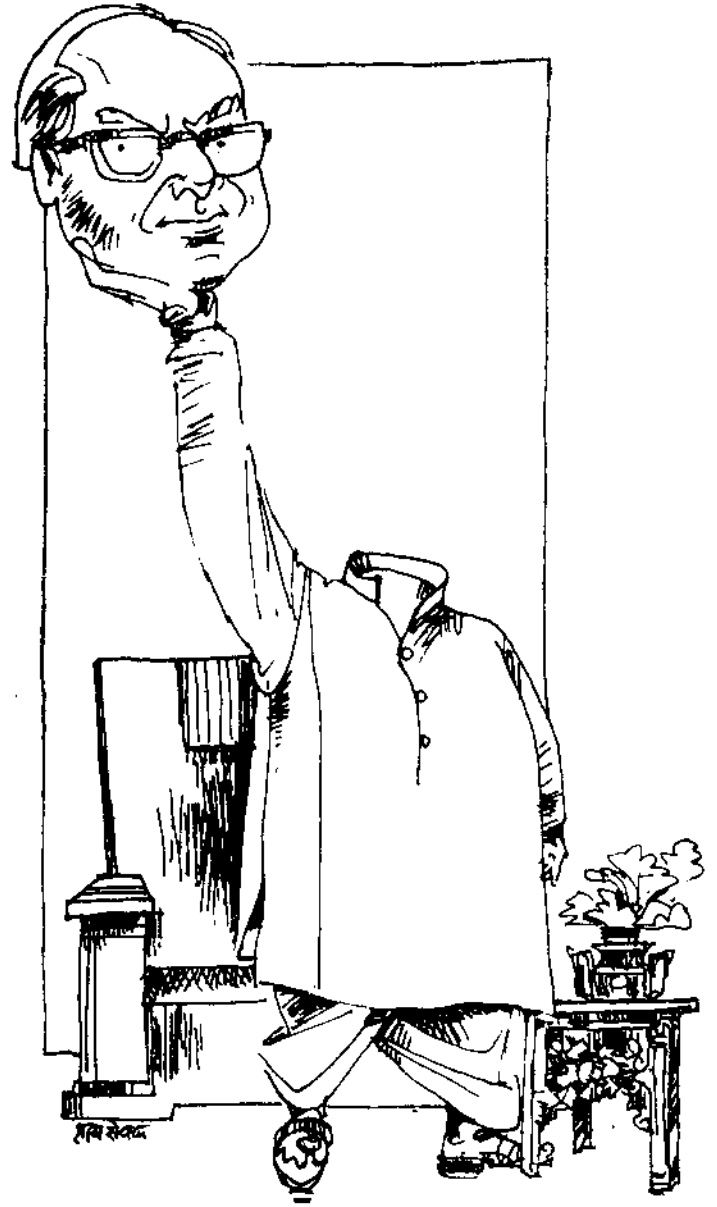
अङ्क की भिन्न-भिन्न प्रस्तावित अभिनय के नाट्यपरक मुहावरे के परिपार्श्व में रंगपीठ पर और जिसे वह बलराम को से बँहगी उतारकर नीचे रख

भूमिकाएँ 'अहं' के जल जाने त है। उनका प्रस्तावित रूप पहले दृश्य में मोहिनी-इन्दूर गाय है। दूसरे दृश्य के यात्रा प्रस्तावित है। करणम् अहं है कि यह यात्रा द्वन्द्वविनि-गपार की यात्रा है। 'आत्मानं' है और इसी गान के साथ भूमिका, अनन्य अनुराग आस्था से स्पन्दित 'आत्मानं' 'आर्थपदम्' गाते हुए 'लोग' नकाएँ अपने वाक् और गति के उपयुक्त पुट से दृश्यगत के साथ नाट्य समाप्त होता

के विश्लेषण से डॉ० लाल विन्दु उभरकर सामने आते बरों को छोड़कर रंगपीठगत प्रवृत्ति लक्षित है। पूर्वरंग में पर्यवासान; यात्रा की ऐसा प्रस्तावित रूप जो नृत्य शील, स्वभाव, चेष्टा, वाक् चिन्तन एवं वाक्, गति, सत्त्वादि कर भारतीय भूमि की पात्र जन में वाचिक अभिनय की दृश्य; आस्था की मानसिकता;

पाश्चात्य पद्धति के व्यक्ति-वैचित्र्य की भूमि का त्यागकर भारतीय रस पद्धति के लोक-सामान्य भूमि का नाट्य चिन्तन, आदि कतिपय ऐसे कलात्मक अथवा सौन्दर्यात्मक विन्दु सामने आते हैं, जो नाटक की रचनाधर्मिता को अपनी रंगभूमि की कला से सन्नद्ध करते हैं। भूमिकाओं के वाक्-विन्यास में यत्र-तत्र ऐसे संकेत सुलभ हैं, जो नाटककार के रंगभूमि से प्रतिबद्ध नाट्य-सृजन के मति-संकल्प को व्यंजित करते हैं; यथा "जो बिना दर्पन के अपना मुख नहीं देख सकता, उसे इतना अहंकार?" अथवा 'यह तुम्हीं हो सांध्यानी आडयान'। समग्रतः नाटक में प्रस्तावित भूमिका-विन्यास रंगपीठ की जातीय भूमि के नाट्य-विधान का ही एक अनुकरणीय प्रस्ताव है।

ल
क्ष्
मी
ना
रा
य
ण
ल
ाल



कोई एक सार्थक चरण
श्री केशवचन्द्र वर्मा और श्री जगज्योति जैन के साथ
लक्ष्मीनारायण लाल
राजमोहन मिश्र

इलाहाबाद के विद्यार्थी जीवन से लेकर अब तक के रचना जीवन में श्री लक्ष्मीनारायण लाल का अनवरत गहरा संबंध प्रसिद्ध लेखक श्री केशवचन्द्र वर्मा और दोनों के मित्र श्री जगज्योति जैन से रहा है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दिनों में नाट्य कार्य में श्री जगज्योति जी का जो संबंध लाल से जुड़ा, वह आज तक जीवंत है।

पिछले दिनों दिल्ली में श्री जगज्योति जी के राजौरी गार्डन स्थित घर में इन तीनों मित्रों की एक सहज भेंट में वर्तमान साहित्य, साहित्यकार, अक्षर की मर्यादा, पश्चिमी दबाव और व्यक्ति के संकट के बारे में एक अंतरंग बातचीत हुई।

लाल ने कहा, देखो केशव भाई, आपने तो मेरे जीवन को देखा है, सारा लेखन देखा है, आपका स्नेह भी हमें मिला। इलाहाबाद का पुण्य प्रताप मिला। आप लोगों के साथ अक्षर मर्यादा के संस्कर मिले। महादेवी, निराला, पंत, इलाचन्द्र जोशी और "परिमल" संस्था से कितना कुछ बहुमूल्य मिला। उसका सुफल आपके सामने है। और भी जो कुछ है, आपके सामने है। लेखन क्या है, क्यों है, यह तो पता नहीं था। मेरा जीवन ही ऐसा था कि उसी के दबाव में आकर मैंने पहला उपन्यास लिखा। यानी विल्कुल आर्थिक दबाव में आकर लिखा।

लेकिन उस इलाहाबाद के परिवेश ने एक अर्थ दिया कि साहित्य क्या होता है। कुछ अपने विश्वास बने, अविश्वास, भ्रम दूटे और नये विश्वास जुड़े। समाज ने मान्यता दी। साहित्यपीठ पर बैठाया, पर लगता है आज कोई नई चुनौती सामने है।

केशवजी ने उसी सूत्र को थामते हुए कहा,—ऐसा है लक्ष्मीनारायण लाल कि हमने भी समझो कि जिन्दगी के तीस-पैंतीस साल लेखन में गुजार दिए और जो कुछ लिखा, उसमें तीस-पैंतीस किताबें भी बनाकर हिन्दी साहित्य की झोली में डाल दिया। मैं कह नहीं सकता हूँ कि मैं ऐसी मनःस्थिति में क्यों आ गया हूँ

कि मुझे लगता है कि मैं ही क्यों मेरे जितने भी लेखक बंधु हैं इस समय समाज के लिए यदि मैं उनको एकदम निरर्थक न कहूँ, पर मानता हूँ कि उनको आज कोई खास भूमिका नहीं बची है।

राज्य द्वारा वे इस तरह से धीरे-धीरे धकिया करके एक कोने में कर दिए गए हैं कि न तो उनके शब्दों की कोई महत्ता रह गई है, न उनके शब्दों का कोई प्रभाव पड़ता है। प्रकाशन व्यवसाय द्वारा जो हमारी कृतियों को सामने लाने वाली व्यवस्थायें हैं, प्रबंध हैं, या मीडिया हैं, उन सबने उनको ऐसा कतर दिया है कि जिसे सार्थक लेखक कहना चाहिए, जिसका लेखन सार्थक है, उसके शब्द अब कोई मायने नहीं रखते। और शब्द की यही मृत्यु, मेरी आँखों के सामने घटी है। मैंने पिछले पैंतीस वर्षों में यह देखा है—मेरे सामने, मेरे बचपन में, प्रेमचंद, महादेवी, निराला, प्रसाद, इनको न केवल पढ़ा, बल्कि हम लोग इनको याद कर-करके अपने जीवन के अकेले क्षणों को बिल्कुल मुखरित कर देते थे। अब उनके मुकाबले में कहीं ज्यादा किताबें छपती हैं। हजारों की संख्या में कवितायें छपती हैं। लाखों की संख्या में लोग अखबार पढ़ते हैं। लेकिन अगर आप अपने दिल पर हाथ रखकर देखें तो कोई भी लेखक खड़ा होकर हाथ रखकर यह कहे कि मैं हिन्दी की कोई किताब खरीद कर लाता हूँ और उसको पढ़ता हूँ। क्योंकि इससे मेरी मान्यता बढ़ती है।

इसलिए मुझे तो ऐसा लगता है कि शब्द की मृत्यु मैं न कहूँ पर मुझे लगता है कि पूरी की पूरी वह साहित्य संवेदना ही कुंद हो गई है।

इस पर श्री जगज्योति जी ने अपनी असहमति व्यक्त करते हुए कहा कि मैं ऐसा नहीं मानता कि हमारे जीवन में, समय में शब्द की अर्थवत्ता खत्म हो गई। अभी पिछले वर्षों, जब देश पर आपातकाल लगा हुआ था, यही लक्ष्मीनारायण लाल ने किस आत्मविश्वास और साहस से अपना "यक्ष प्रश्न" नाटक लिखा। लिखा ही नहीं, दिन के उजाले में रवीन्द्र भवन के लान में उसे प्रस्तुत कराया। न कोई 'अखबार' में सूचना, न कोई निमंत्रण, न कोई प्रचार, कहाँ-कहाँ से कितना दर्शक समाज जोखिम उठाकर "यक्ष प्रश्न" देखने आया था। यक्ष की कथा तो महाभारत की थी। पर उसी कथा को "यक्ष प्रश्न" बनाकर लाल के शब्दों ने उस समय सबका प्रश्न बना दिया। कैसे? शब्द कहाँ मरते हैं? शब्द को तो सही प्रसंग और असली प्रश्न से जोड़ने की दरकार होती है।

लक्ष्मीनारायण लाल बोले, जगज्योति भाई के इस विश्वास का बड़ा महत्व है कि शब्द नहीं मरते। हाँ, शब्द की साधना जब नहीं होती, सिर्फ उसका कर्म-कांड होता है—जैसे-तैसे पुस्तक छपाना, पुस्तक के प्रचार-प्रसार में स्वयं लेखक

कोई एक सार्थक चरण

का ही जुट जाना, यह साधना है। इस साधन रचनाकार स्तर से भी नहीं। रचनाकार की स व्यक्त कर पाता है।

केशवजी ने कहा, एकदम जो कुछ जड़ हो कि बस लिखे जाओ। मुर्दे का आप कितना नहीं लगता कि शब्दों अब नहीं हैं।

लाल ने कहा भाई जोड़े तो जैसे मूल्य नहीं पिछले चार दशकों में पश्चिम की 'इंडोविजुअल' हावी हुआ कि व्यक्ति दूर होता गया झूठी वह बढ़ा है। अर्थ यह वही व्यक्ति है। कोई प्र वही व्यक्ति है। पश्चिम ही नहीं है। उसके लिए है। प्राणी अन्तिम इकाई को आधार मानव कुछ नहीं होने जा रहा रहेगी। लेखन का संदर्भ देना ही व्यक्ति होने की इस पर वर्माजी ने पर क्या सिर्फ शब्द इसे

लाल ने कहा—जु 'इंडोविजुअल' में तो दे होती है, जब व्यक्ति से तभी सृजन की भूमिका

का ही जुट जाना, यह है शब्द-लेखन का कर्मकांड । पर शब्दसाधना, वास्तव में साधना है । इस साधना की निश्चित रूप से कमी है—व्यक्ति स्तर से भी और रचनाकार स्तर से भी । इसमें वर्तमान परिवेश का हाथ और उसका दबाव कम नहीं । रचनाकार की साधना तभी सफल है, जब वह अपने आप को पूर्णरूप से व्यक्त कर पाता है ।

केशवजी ने कहा, परिवेश तो है ही, पर लेखक क्यों नहीं ये कर पा रहा कि एकदम जो कुछ जड़ हो गया है, उसको फिर से स्पंदित करें । लोग यह सोचते हैं कि बस लिखे जाओ । लिखे जाने से मुझे नहीं लगता कि चीजों में स्पंदन होगा । मुझे का आप कितना श्रुद्धार करें, मुर्दा, मुर्दा ही रहेगा । आप बताइये, आपको नहीं लगता कि शब्दों की जो सार्थकता आज से तीस-पैंतीस वर्ष पहले थी वह अब नहीं है ।

लाल ने कहा भाई, शब्द तो अक्षर होता है, अगर अक्षर भाव से शब्द को जोड़े तो जैसे मूल्य नहीं मरते, अक्षर नहीं मरता, शब्द नहीं मरता । जो दुर्घटना पिछले चार दशकों में घटी है, वह यह घटी कि भारतीय व्यक्ति की धारणा को पश्चिम की 'इंडीविजुअल' अर्थ से जोड़ दिया गया है । "इंडीविजुअल" इतना हावी हुआ कि व्यक्ति दब गया । अपनी जड़ों से कटता गया । अपनी प्रेरणाओं से दूर होता गया झूठी आधुनिकता के भ्रम में । व्यक्ति का जो धातु मूलक अर्थ है वह बड़ा है । अर्थ यह है कि जो अपने किसी विशेष गुण को व्यक्त कर रहा हो, वही व्यक्ति है । कोई प्रतिभा, कोई गुण कोई विश्वास को जो व्यक्त करने वाला है, वही व्यक्ति है । पश्चिम के "इंडीविजुअल" में कोई गुण व्यक्त करने वाली बात ही नहीं है । उसके लिए हमारे यहाँ शब्द है प्राणी, व्यक्ति उसके लिए शब्द नहीं है । प्राणी अन्तिम इकाई है, जैसे इंडीविजुअल अन्तिम भौतिक इकाई है । हम इस इकाई को आधार मानकर जो लेखन या सृजन करने चले हैं, इसमें तो स्वभावतः कुछ नहीं होने जा रहा है । इसमें कुछ विशेष हो ही नहीं सकता । छपाई होती रहेगी । लेखन का संदर्भ सिर्फ लेने से नहीं, देने से है—लेकर चीगुना देने से । देना ही व्यक्ति होने की भूमिका है ।

इस पर वर्माजी ने कहा—हाँ, जुड़ने की बात तो मेरी समझ में आती है, पर क्या सिर्फ शब्द इसे जोड़ेगा ?

लाल ने कहा—जुड़ना, देना, व्यक्ति से मनुष्य होना, यही तो है जुड़ना । 'इंडीविजुअल' में तो देने की कल्पना ही नहीं है । देने की कल्पना तो तब शुरू होती है, जब व्यक्ति से मनुष्य होता है, अर्थात् जब कहीं वह सम्बन्धित होता है । तभी सृजन की भूमिका वहीं से शुरू होती है । 'इंडीविजुअल सभ्यता' के कारण

वह भूमिका अब नहीं दिखती। मैं जब से सचेत हुआ हूँ तब से यही देख रहा हूँ कि लेखक लेने के ही चक्कर में है। तो वह सृजन कहाँ से करेगा? वर्मा जी ने कहा कि लेने देने की बात पर एक छोटी सी घटना आपको सुनाता हूँ, सत्य घटना।

“हमारे एक मित्र थे हैं, मतलब अभी जिंदा हैं। उनको इस तरह इच्छा रहती थी, कहीं कुछ पावें तो ले लें। पूजा-पाठ भी करते थे, भगवान का भजन भी बहुत करते थे। उन्होंने कहीं मुना कि कहीं कोई बाबाजी रहते हैं। किसी पहाड़ पर। तो वे चले उनके पास फूल-माला लेकर। वह बाबा ऊपर बैठा रहता था, उसने देखा, उनको दो-चार पत्थर मारा ऊपर से। तो जब यह भागने लगे। पहाड़ी रास्ता घुमावदार होता है। घूमकर जब दूसरे चक्कर पर पहुँचे तो बाबा जी ने उनसे कहा—कि यहाँ आओ। क्यों आया था? तो ये घबड़ा गए। कहा कि अरे महाराज आपके दर्शन करने आये थे, आप तो मार रहे हैं। तो कहने लगे अच्छा—आओ, आओ। गए। पूछा कि क्यों आया था? मुकदमा जीतना है? लड़का चाहिए? तरक्की चाहिए? जवाब में उन्होंने कहा—नहीं। अच्छा ये सब नहीं चाहिए। तब क्या चाहिए? तब उन्होंने कहा कि महाराज ऐसा है, हम पूजा पाठ करते हैं, यह भी करते हैं, वह भी करते हैं और अपनी तरफ से कुछ दान-दक्षिणा भी देते रहते हैं। और अच्छा कर्म भी करते हैं, लेकिन मेरा मन किसी भी चीज में नहीं लगता। मुझे लगता है कि सब गलत हो रहा है। तो बाबाजी हँसे। कहने लगे कि क्यों रे? तुझे बुखार होता है तो कैसे नापता है? कहें कि थर्मामीटर से। कहने लगे कि—वाह! इतनी सी खोपड़ी तेरी और तूने बुखार नापने के लिए थर्मामीटर बना दिया। और जिसने पूरी दुनिया बनाई, उसने तेरा बुखार नापने के लिए कुछ नहीं बनाया? एक थर्मामीटर उसने भी बनाया है। रोज रात में जब सोया कर, तो तू यह हिसाब लगाया कर, आज दिन में कितना पाया और कितना दिया? कितना लिया और कितना दिया। जब लेने वाला हिसाब तेरा बढ़ने लगे और देने वाला हिसाब तेरा प्रतिदिन का घटने लगे, तो तू समझ ले तू गलत रास्ते पर चल रहा है। और जिस दिन तुझे ये लगे कि देने वाला हिसाब तेरा बढ़ रहा है, और लेने वाला हिसाब घट रहा है, तो समझ ले कि तू एकदम सही रास्ते पर चल रहा है। उसके बाद उदाहरण दिया उन्होंने कि जब लेने की क्षमता तेरी एक दम कम होती चली जाएगी तो तू इसी तरह से देने लग जाएगा जैसे कि सूर्य सबको देता है। लेता किसी से कुछ नहीं है। और जब लेने की क्षमता तेरी बढ़ती चली जाएगी, तो तेरे अन्दर रावण की वह अमुर प्रवृत्ति जागृत हो जाएगी, जिसके अन्दर लेते तुम

सबसे चले जाओगे और देने तुम तय कर लो कि तुम्हें बनना है। तो बाबा ने उदाहरण भारतीय जीवन का सूत्र। मानवीय सम्बन्ध, कष्टना, सब इसी में सिमटी हुई हैं हमारे यहाँ त्याग का लक्ष साहित्यकार के लिए, उस बात पहुँचा सकें। रामचरित में तुलसीदास की रायल्टी,

आज का जो लेखक है है तो उसके दिमाग में फौरन कहीं इसे पायेंगे? हमारी कोई आदमी मुझे ऐसा दि उसे लगने लगे कि इसी ने बात केवल दो ही वस्तुओं जिसमें वही पा सकता है हो सकती है। धर्म के नाय गांधी का उदाहरण सामने नहीं हुआ। दूटे-फूटे शब्द, उठाया, कौन गुजराती का है, उस गांधी ने हिमालय मणिपुर तक, नागालैण्ड तक देश को सम्बोधित किया आज आप पूरा अखबार संख्या में, कोई असर नहीं सब कुछ।

मृत शब्द पर जगज्योती भाई, ऐसी बात क्यों करते नहीं। लेखक आज भी लिख कि लेखक से हमारी अपेक्षा ख्याल है जैसा पाठक चाहते

ब से यही देख रहा हूँ
करेगा ? वर्मा जी ने
मको सुनाता हूँ, सत्य

नको इस तरह इच्छा

ये, भगवान का भजन

जाजी रहते हैं। किसी

बाबा ऊपर बैठा रहता

जब यह भागने लगे।

पर पर पहुँचे तो बाबा

ये घबड़ा गए। कहा

गार रहे हैं। तो कहने

गा ? मुकदमा जीतना

हा—नहीं। अच्छा ये

कि महाराज ऐसा है,

और अपनी तरफ से

करते हैं, लेकिन मेरा

ब गलत हो रहा है।

ता है तो कैसे नापता

सी खोपड़ी तेरी और

ने पूरी दुनिया बनाई,

धर्मापीटर उसने भी

ब लगाया कर, आज

और कितना दिया।

बाब तेरा प्रतिदिन का

और जिस दिन तुझे

गाला हिसाब घट रहा

रहा है। उसके बाद

दम कम होती चली

सबको देता है। लेता

ती चली जाएगी, तो

जसके अन्दर लेते तुम

सबसे चले जाओगे और देने के नाम पर तुम्हारे पास कुछ नहीं रहेगा। इसलिए तुम तय कर लो कि तुम्हें सूर्य बनना है कि तुम्हें आसुरी प्रवृत्तियों का मालिक बनना है। तो बाबा ने उनसे पूरी भारतीयता का मर्म खोल दिया। तो यह है भारतीय जीवन का सूत्र। समस्त कला, धर्म, विज्ञान, मान्यता, मानवीयता, मानवीय सम्बन्ध, करुणा, दया, ममता, सृजन, लेखन आदि जो सारी चीजें हैं, सब इसी में सिमटी हुई हैं। हमारे जीवन का कभी भी लक्ष्य संग्रह नहीं रहा है। हमारे यहाँ त्याग का लक्ष्य रहा है। तो देने की बात जो आपने अभी कहा है साहित्यकार के लिए, उसकी देन यही है कि हम कैसे अधिकतम लोगों तक अपनी बात पहुँचा सकें। रामचरित मानस क्यों खड़ा है आज, कहाँ है रामचरित मानस में तुलसीदास की रायल्टी, कहाँ है तुलसीदास को पुरस्कार ?

आज का जो लेखक है, जिस क्षण जरा सी भी बात वह लिखता या पढ़ता है तो उसके दिमाग में फौरन आता है कि हमें कौन-सा पुरस्कार मिलेगा ? हम कहाँ इसे पायेंगे ? हमारी क्या पोजीशन बनेगी जैसे कि मैंने पहली बात कही थी कोई आदमी मुझे ऐसा दिखाइये जो आपकी किताब को इसलिए पढ़ता हो कि उसे लगने लगे कि इसी ने मेरे जीवन को समृद्ध किया है। समृद्ध करने वाली बात केवल दो ही बस्तुओं से आ सकती है। अपने को मिटा देने की ताकत है जिसमें वही पा सकता है इसे। और वह केवल धर्म में आपकी आस्था आने से हो सकती है। धर्म के मायने है कि आपके समस्त आचरण में धर्म आना चाहिए। गांधी का उदाहरण सामने है। गांधी जैसा रूढ़ी वक्ता हिन्दुस्तान में कोई दूसरा नहीं हुआ। टूटे-फूटे शब्द, टूटे-फूटे वाक्य, कहाँ से वाक्य उठाया, कहाँ से शब्द उठाया, कौन गुजराती का शब्द है, कौन हिन्दी का शब्द है, कौन कहाँ का शब्द है, उस गांधी ने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी और इधर द्वारिका से लेकर मणिपुर तक, नागालैण्ड तक कहाँ-कहाँ गांधी गया और उसी भाषा में उसने पूरे देश को सम्बोधित किया और कैसे देश जग गया।

आज आप पूरा अखबार भरा देखते हैं, किताबें छपी हुई देखते हैं लाखों की संख्या में, कोई असर नहीं होता, क्योंकि उसमें कहीं कोई ऊर्जा नहीं है। मृत है सब कुछ।

मृत शब्द पर जगज्योतिजी को पहले से ज्यादा आपत्ति हुई। उन्होंने कहा—भाई, ऐसी बात क्यों करते हो ? जो शब्द के हत्यारे हैं, उनकी बात तो करते नहीं। लेखक आज भी लिख रहा है, हम कुछ तो पढ़ रहे हैं। ऐसा क्या नहीं है कि लेखक से हमारी अपेक्षाएँ, हमारी माँगें ही छोटी होती चली जा रही हैं। मेरा ख्याल है जैसा पाठक चाहता है, साधारण लेखक को वैसा लिखना पड़ता है। जब

हम उससे बड़ी चीज़, बड़ी रचना की कामना करेंगे, वह जरूर हमें उससे प्राप्त होगा।

लक्ष्मीनारायण लाल एक ओर केशवजी से सहमत थे तो दूसरी ओर जग-ज्योति के खयाल से भी एकमत। उन्होंने साहित्य के प्रसंग में जीवन की समृद्धि की बात पकड़ी। कौन सी रचना स्वयं रचनाकार और पाठक के चित्त को समृद्धि देती है? वही जो अपनी भूमि से, अपने ही प्राणों से रचनाकार के अपने विश्वास से उपजी हो। वर्तमान समय में यह कितनी असंभव बात हो रही है। सारा प्रतिमान पश्चिम का है। उसे त्यागकर अपनी कसौटी पर आना आज की स्थितियों में बिरले साहित्यकार की ही हो सकती है। केशवजी की बात सही है, यह कसौटी उसी की हो सकती है, जिसकी दृष्टि त्यागमयी हो—देने वाली हो, पाठक तक पहुँचने की हो। यह कैसी विषम स्थिति है कि जिन तत्त्वों से हमारी समझ, हमारी संवेदना बनती है, वह तो पश्चिमी है, और हम उसी पराई दृष्टि, उसी उधार लिए प्रतिमान से लिखते हैं अपने बारे में। पश्चिमी साहित्य, पश्चिमी विचार, तकनीक के हम उपभोक्ता हैं। उपभोक्ता रचनाकार कैसे हो सकता है? रचना की भूमि तो स्वतंत्रता है। सच, जहाँ अपना नहीं, वहाँ प्राण नहीं। तभी तो छपे हुए शब्द निर्वोध हैं, न भीतर बोध, न बाहर बोध। लेकिन जो गांधी वाला प्रसंग उठाया है, मेरे लिए पूर्णतः प्रासंगिक है, क्योंकि मैं गांधी को इसी रूप में देखता हूँ। स्वामी रामकृष्ण परमहंस और गांधी जी, इन्हीं दोनों को मैं अपने काल के भारत का प्राण मानता हूँ।

वर्माजी बोले, मैं भी समझता हूँ कि भारतीयता को पूरी तरह से समझना है तो ये ही दो उसके मूल प्रवक्ता हैं।

लाल ने कहा, इस प्रसंग में विवेकानंद को मैं पूरा भारतीय चित्त नहीं मान पाता। विवेकानंद के जीवन का जो अन्तिम चरण है, वह उसका महत्वपूर्ण प्रमाण है। अमरीका से जब वे लौटे हैं अन्तिम बार तो बीमार होकर लौटे हैं। उन्होंने अपने एक शिष्य को पत्र लिखा है कि—“मैं हार गया हूँ। जो कुछ भी मैंने अब तक किया है, उसके पीछे मेरा अहंकार था। और मेरा जो गुह है, वह मुझे बुला रहा है। और मुझे उसी के पास जाना है।” यह बात जब मैंने पढ़ी, तो मेरे पैर के नीचे की जैसे जमीन खिसक गई, ऐसा मुझे लगा। वह जमीन पश्चिम की थी। मुझे स्पष्ट महसूस हुआ कि हमारे तथाकथित आधुनिक भारत, आधुनिक साहित्य की प्रेरणा भूमि, विचार-भाव भूमि विदेशी है। मेरे सामने

स्पष्ट होता चला गया कि काल कहा गया, वह राज-वही राजनीति चल रही है है। जिनकी प्रेरणा भूमि चाहे नामवर जी। ऐसी साहित्य पढ़े, बिना अन्तरी का फल है कि शब्द मृत है, प्राण है, बोध है, उसका हो? समृद्धि तो अपनेपन हुआ होगा ही निश्चित है।

इस पर वर्माजी बोले ने साहित्य को इस घाट प नहीं। क्योंकि जन से जु थी, कि—“आओ रानी दौड़ता हुआ चला गया। लिया? बात यह है कि अपनी करनी से उसे काटा हूँ कि जिनको मैं सोचता करेगे, ठीक है आप कोई उनके आचरण बराबर उन है, जिन्होंने आपातकाल हमारी शीर्ष कवयित्री च जाइये, पुरस्कार लीजिए। लेकिन आप क्रान्तिदर्शी हो चलने का जो स्वप्न लोगों

लाल बोले कि, ऐसा स्तर पर पश्चिम उत्तरोत्तर कि भारत की जो मनीषा तलाश है। पश्चिम की केवल शक्ति की तलाश न प्रमाण किसी भी धर्म-ग्रन् अपनी भूमि से उच्छिन्न है।

वह जरूर हमें उससे प्राप्त

मत ये तो दूसरी ओर जग-
प्रसंग में जीवन की समृद्धि
पर पाठक के चित्त को समृद्धि
रचनाकार के अपने विश्वास
भव बात हो रही है। सारा
हमीदी पर आना आज की
। केशवजी की बात सही है,
आगमयी हो—देने वाली हो,
त है कि जिन तत्त्वों से हमारी
है, और हम उसी पराई दृष्टि,
गरे में। पश्चिमी साहित्य,
उपभोक्ता रचनाकार कैसे हो
, जहाँ अपना नहीं, वहाँ प्राण
बोध, न बाहर बोध। लेकिन
प्रासंगिक है, क्योंकि मैं गांधी
हंस और गांधी जी, इन्हीं दोनों
ता को पूरी तरह से समझना है

मैं पूरा भारतीय चित्त नहीं मान
वरण है, वह उसका महत्वपूर्ण
बार तो बीमार होकर लौटे हैं।
“मैं हार गया हूँ। जो कुछ भी
था। और मेरा जो गुह है, वह
ता है।” यह बात जब मैंने पढ़ी,
ई, ऐसा मुझे लगा। वह जमीन
हमारे तथाकथित आधुनिक भारत,
तब भूमि विदेशी है। मेरे सामने

स्पष्ट होता चला गया कि पूरी जो १९वीं शताब्दी है, और जिसको नवजागरण
काल कहा गया, वह राजनीतिक चाल थी अंग्रेजों की। तब से लेकर आज तक
वही राजनीति चल रही है। वर्तमान साहित्य में वह तथ्य अब बिल्कुल उजागर
है। जिनकी प्रेरणा भूमि पश्चिम है, वहीं आधुनिक हैं—चाहे वह अज्ञेयजी हों
चाहे नामवर जी। ऐसी ही शक्तियों ने वह परिवेश रचा कि बिना अंग्रेजी
साहित्य पढ़े, बिना अन्तर्राष्ट्रीय हुए कोई रचना नहीं हो सकती। इसी परिवेश
का फल है कि शब्द मृत हो गए। इसका मूल कारण यही है कि अपना जो चित्त
है, प्राण है, बोध है, उसका तो ज्ञान ही नहीं हुआ। तो कैसे भारतीय चित्त समृद्ध
हो? समृद्धि तो अपनेपन की चीज है। परायेपन से जो हम लिखेंगे वह तो मरा
हुआ होगा ही निश्चित रूप से।

इस पर वर्माजी बोले, एक बात और है लक्ष्मीनारायण लाल। अगर अज्ञेय
ने साहित्य को इस घाट पहुँचाया तो जन से जुड़े नागार्जुन का योगदान भी कम
नहीं। क्योंकि जन से जुड़कर जिस आदमी ने इन्दिरा गाँधी पर कविता लिखी
थी, कि—“आओ रानी हम ढोयेंगे पालकी” वही उनसे पुरस्कार लेने के लिए
दौड़ता हुआ चला गया। मैं यह नहीं कहता कि उन्होंने क्यों लिया, क्यों नहीं
लिया? बात यह है कि आपने एक अपना आचरण स्वयं बनाया, और स्वयं
अपनी करनी से उसे काटा। और ऐसे में कितने लोगों के उदाहरण गिना सकता
हूँ कि जिनको मैं सोचता था कि ये शलाका पुरुष होंगे, ये लोग आगे जाएंगे,
करेंगे, ठीक है आप कोई मान्यता रखें, मुझे इससे कोई लेना-देना नहीं। लेकिन
उनके आचरण बराबर उन्हीं को झुठलाते रहे। कितने-कितने लोगों को मैंने देखा
है, जिन्होंने आपातकाल में यह कहा कि पूरा देश कारावास हो गया है, वही
हमारी शीर्ष कवयित्री चली गई इन्दिराजी से पुरस्कार लेने के लिए। आप जरूर
जाइये, पुरस्कार लीजिए। राजनेता को सम्मान दीजिए। मैं कुछ नहीं कहता,
लेकिन आप क्रान्तिदर्शी होने का, क्रान्तिकारी होने का, और देश का झण्डा लेकर
चलने का जो स्वप्न लोगों के मन में जगाती है, उसको छोड़िए।

लाल बोले कि, ऐसा हुआ क्यों? उन्नीसवीं शताब्दी से लेकर आज तक हर
स्तर पर पश्चिम उत्तरोत्तर भारत पर हावी होता चला गया है। मैं सोचता हूँ
कि भारत की जो मनीषा है, या भारत का जो केन्द्र है, उसका केन्द्र सत्य की
तलाश है। पश्चिम की मनीषा और केन्द्र सत्य की तलाश नहीं। हमारे यहाँ
केवल शक्ति की तलाश नहीं थी, उसके आगे जाकर सत्य की तलाश थी, जिसका
प्रमाण किसी भी धर्म-ग्रन्थ में या किसी भी महाकाव्य में हमें सर्वत्र मिलता है।
अपनी भूमि से उच्छिन्न होकर दूसरे की भूमि पर जाने का ही अर्थ है कि दूसरे
लाल—११

से शक्ति की भीख माँगना। और अपने सत्य से छूट जाना। तो जहाँ सार्थकता नहीं, वहाँ पुरस्कार ही सही। इसलिये उसे सत्य नहीं चाहिए उसे चाहिए शक्ति। और इसी से दूसरी बात यह पकड़ में आई कि हम लेखक, हम पाठक किस वर्ग, किस माहौल से आ रहे हैं? या तो ग्रामीण पृष्ठभूमि से या शहरी-अंग्रेजी पृष्ठभूमि से। शहरी, ग्रामीण को कच्चा माल मानता है। ग्रामीण शहरी की नकल करता है, जो स्वयं सम्पूर्ण रूप से पश्चिम का उपभोक्ता है। नतीजा यह है कि हम दोगले प्रभाव और तनाव में स्वयं अपने आपको देखते हैं और उसी से हमारा पाठक समाज बनता है।

हम एक ऐसी तकनीक के तहत लिखते हैं पढ़ते हैं जो दोनों ओर से उपभोक्ता समाज के मनोरंजन के लिए है। ऐसी स्थिति में अन्ततोगत्वा हम राज्य के अधीन होते हैं और जो राज्य अभी भी पश्चिम के चंगुल में हो, वहाँ और क्या हो सकता है। देखिए न भारतेन्दु काल के लेखकों की कितनी आत्मीय भूमिका थी—भाषा को लेकर, विचार, साहित्य और देश के प्रसंग में। उनमें "समन्वय" वाला विष नहीं था। पर जयशंकर प्रसाद से लेकर पंत तक केवल पूरव-पश्चिम का समन्वय ही समन्वय है। समन्वय से समृद्धि नहीं होती। समन्वय पश्चिम की गुलामी का ही मुखड़ा है। इससे न लेखक पैदा होगा, न पाठक। इससे सिर्फ उपभोक्ता पैदा होता है। अंग्रेजी विचार पश्चिमी तकनीक को खाकर भारतीय भाषा में लिखना, किसी भी स्तर से लेखन, सृजन, रचना नहीं हो सकता। अपच, डाकना, उगलना और कागज काला करना मात्र ही हो सकता है।

इस पर जगज्योतिजी ने कहा—मैं समझता हूँ, जो अपने से ज्यादा ताकतवर होगा, उसका कमजोर पर प्रभाव पड़ेगा। भारतेन्दु काल में अंग्रेजी राज का वह जबरदस्त प्रभाव नहीं था, जो "प्रसाद" और "पंत" काल में था।

लाल ने कहा—प्रेमचंद भी तो प्रसाद ही काल के हैं। उन पर "समन्वयवाद" का विष क्यों नहीं चढ़ा? जबकि वह आदर्शवादी थे। इसीलिए उस विष के बचे। प्रेमचन्द खामखा किसी भ्रम के शिकार भी नहीं थे। न अपनी धार्मिकता—आध्यात्मिकता का भ्रम, न पश्चिम का भ्रम। प्रेमचन्द निपट प्रेमचन्द थे—ठेठ भारतीय। जो सत्य उन्हें दिखा, और अपनी ही आँख से दिखा, उसे ही लिखा। उस पर न किसी प्रकार का दबाव था, न छिपाव; इसीलिए जो लिखा उसका पाठक समृद्ध हुआ। क्योंकि वह समृद्ध स्वयं रचनाकार की थी।

'पर आज की स्थिति से बाहर निकलने का रास्ता कहाँ है?' यह तीनों मित्रों के बीच का प्रश्न था।

वर्माजी ने कहा, रास्ता है। वह रास्ता है अपने धर्म में, संगीत के माध्यम

से उसे पुनः प्राप्त कि उसकी प्राप्ति में सहाय

जगज्योति ने कहा कर संभव हो सकता

लाल चुप हो गए केशव का हाथ थामे

भूमिका से च्युत होऊँ, साहित्य के पुरखों के

वर्माजी ने कहा, वाल्मीकि जिन्होंने राम

पद से गिरे, तो उनके

कोई एक सार्थक चरण

एक सार्थक चरण

तो जहाँ सार्थकता
उसे चाहिए शक्ति ।
पाठक किस वर्ग,
या शहरी-अंग्रेजी
ग्रामीण शहरी की
मोक्ता है । नतीजा
पको देखते हैं और

दोनों ओर से उप-
तोगत्वा हम राज्य
में हो, वहाँ और क्या
नी आत्मीय भूमिका
। उनमें "समन्वय"
केवल पूरब-पश्चिम
समन्वय पश्चिम की
पाठक । इससे सिर्फ
को खाकर भारतीय
नहीं हो सकता ।
हो सकता है ।

ने से ज्यादा ताकत-
में अंग्रेजी राज का
काल में था ।

उन पर "समन्वय-
। इसीलिए उस विष
। न अपनी धार्मि-
चन्द निपट प्रेमचन्द
से दिखा, उसे ही
; इसीलिए जो लिखा
गर की थी ।

कहाँ है ?' यह तीनों

में, संगीत के माध्यम

से उसे पुनः प्राप्त किया जा सकता है । इस दिशा में एक भी कोई सार्थक चरण
उसकी प्राप्ति में सहायक होगा ।

जगज्योति ने कहा, वह सार्थक चरण हवा में नहीं अपनी भूमि पर ही चल-
कर संभव हो सकता है ।

लाल चुप हो गए थे । केशव ने उनकी पीठ पर एक घप्पा मारा । लाल
केशव का हाथ थामे जगज्योति को देखते हुए बोले—देखो मित्र, मैं अपनी सही
भूमिका से च्युत होऊँ, तो भी सत्य को मेरे सामने स्थिर करके रखना । अपने
साहित्य के पुरखों के गौरव की याद दिलाना ।

बर्माजी ने कहा, हमारे पुरखों में भी महापुरुष है—वही वाल्मीकि । वही
वाल्मीकि जिन्होंने राम के चरित्र का गुणगान किया, पर जब वही राम अपने
पद से गिरे, तो उनके खिलाफ उन्हीं के पुत्रों को उठाया ।

लेखक परिचय

आनन्दवर्धन

जन्मस्थान : जलालपुर, बस्ती, उत्तर प्रदेश । शिक्षा : एम० ए० प्राचीन इतिहास और संस्कृति, दिल्ली विश्वविद्यालय । सम्प्रति सहारनपुर में डिप्टी कलक्टर । साहित्यकार लक्ष्मीनारायण लाल के ज्येष्ठ पुत्र । लिखने-पढ़ने में गहरी रुचि ।

श्रीमती सरोजिनी आर्य

जन्मस्थान : जलालपुर, बस्ती, उत्तर प्रदेश । साहित्यकार लक्ष्मीनारायण लाल की पुत्री । अभिनय, संगीत, नृत्य में रुचि । लेखन में गहरी दिलचस्पी ।

श्रीमती प्रमिला मेहरा

जन्म : पेशावर, ४ अक्टूबर १९४४, शिक्षा बी० ए० आईटी कॉलेज लखनऊ । हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में लिखने का शौक । सम्पादन कार्य, फोटोग्राफी, गृह सज्जा, अभिनय आदि कलाओं में विशेष रुचि ।

शिवसागर मिश्र

जन्म : १० मार्च, १९२७, गाँव—श्रीरामपुर, जिला—समस्तीपुर, बिहार । काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन्होंने अपना लेखकीय जीवन प्रारम्भ किया । आकाशवाणी के अनेक महत्वपूर्ण पदों पर कार्य करते हुए वे साहित्य-सृजन में लगे रहे । सन् १९७३ में भारत सरकार के रेल मंत्रालय में निदेशक राजभाषा का पद ग्रहण किया । उनकी महत्वपूर्ण कथाकृतियों में अभियान, अजन्मा बहू, अक्षत, जन्मेजय बचो, उपन्यास हिन्दी साहित्य में समादृत हैं । 'दिनकर एक सहज पुरुष' उनकी एक विशेष कृत है ।

मोहन बहुगुणा

जन्म : मई १९४४, गाँव—टकोली, जिला पीडी गढ़वाल, उत्तर प्रदेश ।

सन् १९६२ में दिल्ली आना। सन् १९६३ से आकाशवाणी के समाचार सेवा प्रभाग में कार्यरत। लिखने-पढ़ने में गम्भीर रुचि। बच्चों के लिए लेखन कार्य का शुभारंभ, सम्प्रति एक नाटक और उपन्यास पूरा करने में प्रयत्नशील।

नूरनबी अब्बासी

जन्म : १३ अप्रैल, १९३०, अमरोहा, जिला मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश। शिक्षा—एम० ए० हिन्दी और अंग्रेजी। विगत ३० वर्षों से अनुवाद क्षेत्र में। आपने हावर्ड फास्ट, समरसेट माय, मोपासां, गोर्की, लुशुन, आदि के उपन्यासों का हिन्दी में अनुवाद किया है।

राजनीति, इतिहास और अर्थशास्त्र की पुस्तकों का अनुवाद भी किया है जिसमें राबर्टसन की कंट्रोल आफ इण्डस्ट्री का हिन्दी अनुवाद, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय ने प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त नेशनल बुक ट्रस्ट से भी आपकी पुस्तकें प्रकाशित हुईं। जिनमें गुजराता लखनऊ, गोपबंधु दास, केरल और खिला-फत आन्दोलन प्रमुख हैं।

उर्दू काव्य और कथा साहित्य को देवनागरी में संकलित-सम्पादित भी किया है। जिसमें गालिब, मीर, फैज, शरर, शौकत, थानवी, मंटो आदि हैं। अंग्रेजी से हिन्दी के अलावा आपने हिन्दी से अंग्रेजी में भी हिन्दी की कुछ कहानियां तथा गालिब के पत्रों पर आधारित उनकी आत्मकथा गालिब रेवील्स हिम-सेल्फ के नाम से अंग्रेजी में अद्वित की हैं। सम्प्रति केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो में सहायक निदेशक के पद पर कार्य कर रहे हैं।

अमृता प्रीतम

पंजाबी और हिन्दी दोनों भाषाओं और क्षेत्रों की मूर्धन्य कवयित्री तथा कथाकार। अपनी सृजन-उपलब्धियों के लिए साहित्य अकादमी, तथा भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित। राज्यसभा की मनोनीत सदस्य। इस सृजन-शील व्यक्तित्व का पूरा जीवन लेखन और चिंतन शुद्ध भारतीय परम्परा का है। यह पूरे भारतवर्ष की पूज्य लेखिका और प्रणम्य व्यक्ति हैं।

डॉ० मंचुलता सिंह

लखनऊ विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० और डाक्टरेट। सम्प्रति दिल्ली विश्वविद्यालय के दौलतराम कालिज में हिन्दी की अध्यक्षा। नारी विषयों पर चिंतन, मनन और लेखन। लेखन में सदा सक्रिय।

से आकाशवाणी के समाचार सेवा
रुचि। बच्चों के लिए लेखन कार्य
वास पूरा करने में प्रयत्नशील।

बासी

जिला मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश।
वगत ३० वर्षों से अनुवाद क्षेत्र में।
गोर्की, लुशुन, आदि के उपन्यासों

पुस्तकों का अनुवाद भी किया है
का हिन्दी अनुवाद, केन्द्रीय हिन्दी
रक्त नेशनल बुक ट्रस्ट से भी आपकी
ऊ, गोपबन्धु दास, केरल और खिला-

वनागरी में संकलित-सम्पादित भी
र, शोकत, थानवी, मंटो आदि हैं।
अंग्रेजी में भी हिन्दी की कुछ कहा-
नकी आत्मकथा गालिन रेवील्स हिम-
सम्प्रति केन्द्रीय अनुवाद व्यूरो में

तम
कीर क्षेत्रों की मूर्धन्य कवयित्री तथा
ए साहित्य अकादमी, तथा भारतीय
की मनोनीत सदस्य। इस सृजन-
चितन शुद्ध भारतीय परम्परा का है।
णम्य व्यक्ति हैं।

सिंह

ए० और डाक्टर। सम्प्रति दिल्ली
हिन्दी की अध्यक्षा। नारी विषयों पर
प्रक्रिय।

डॉ० कृष्णविहारी मिश्र

जन्म-स्थान : बड़ा गाँव धन्माज, जिला सीतापुर, उत्तर प्रदेश। जन्मतिथि—
२७ जुलाई १९३०। शिक्षा—एम० ए०, पी-एच० डी०, हिन्दी, लखनऊ विश्व-
विद्यालय। सन् १९६२ से आज तक दिल्ली विश्वविद्यालय के दयारामसिंह कॉलेज
के हिन्दी विभाग में अध्यापन। वर्तमान हिन्दी आलोचना और निबंध क्षेत्र में
एक उल्लेखनीय नाम।

रीतिकाल से लेकर वर्तमान हिन्दी साहित्य के कई प्रतिनिधि लेखकों के
रचना संसार पर महत्त्वपूर्ण कार्य।

डॉ० ओमप्रकाश शर्मा

दिल्ली विश्वविद्यालय के कालेज में वरिष्ठ अध्यापक। कथा साहित्य के
अध्येता। कई पुस्तकों के सम्मानित लेखक। स्वभावतः कवि।

सुभाष भाटिया 'प्रकाश'

एम० ए० साहित्यरत्न हिन्दी। धर्मनगर हिन्दी हाई स्कूल साबरमती,
अहमदाबाद गुजरात में प्राध्यापक। सम्प्रति नाटककार लक्ष्मीनारायण लाल के
रंग चिंतन और रंगसृजन पर शोध कार्य में रत।

डॉ० नरनारायण राय

जन्म : पूर्णिया, बिहार। नाटककार लाल के ऊपर किया गया इनका शोध
कार्य से लेकर आज तक हिन्दी नाट्य और रंग पर इनका चिंतन और मनन
विशेष रूप से उल्लेखनीय रहा है। हिन्दी नाट्य आलोचकों में इनका अपना विशेष
स्थान है।

डॉ० चन्द्रशेखर

हिन्दी में एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट, पटियाला विश्वविद्यालय में
हिन्दी प्राध्यापक तथा भारत सरकार द्वारा सम्मानित राष्ट्रीय प्रोफेसर। नाटक-
कार, आलोचक और राष्ट्रीय समस्याओं के चिंतक। अभी हाल ही में राष्ट्रपति
ज्ञानी जैलसिंह की जीवनी लिखकर जो अब प्रकाशित हो चुकी है, हिन्दी जीवनी
साहित्य में एक विशेष योगदान।

प्रेमाश्री

हिन्दी में एम० ए०, छात्रा जीवन से ही हिन्दी लेखन में सक्रिय, हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के साहित्य से विशेष अनुराग ।

डॉ० माया गुप्त

जन्मस्थान : दिल्ली, १४ अक्टूबर १९४३ । दिल्ली विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए०, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में एम० ए०, उच्च शिक्षा एवं शोध संस्थान दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा से पी-एच० डी० । हिन्दी नाट्य और रंगभूमि विषयक कार्यों में गहरी रुचि ।

डॉ० मांघाता ओझा

जन्मस्थान : गाँव अजगरा, वाराणसी, उत्तर प्रदेश । १८ नवम्बर १९३६ । बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से अंग्रेजी में एम० ए० तथा दिल्ली विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम० ए० और पी-एच० डी० । सम्प्रति दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दू कॉलेज में हिन्दी के वरिष्ठ प्राध्यापक । समसामयिक हिन्दी नाट्य लेखन तथा नाट्य और रंग विषयक समस्याओं के पारखी । तथा उस विषय में लेखन ।



